काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति

कुलपति प्रो. अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखक एवं सम्पादक
डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[४८]

काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति

कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखक एवं सम्पादक
डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 48]

KĀVYAŚĀSTRĪYA PĀRIBHĀṢIKA ŚABDOṀ KĪ NIRUKTI

FOREWORD BY

PROF. ASHOK KUMAR KALIA

VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY

DR. DEVĪPRASĀDA DWIVEDĪ

Lecturer

Modern Languages & Linguistic Department

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi



VARANASI

2007

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-190-X



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.



Available at —
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.



First Edition, 500 Copies
Price : Rs. 400.00



Printed by—
VIJAY PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[४८]

काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति

कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखक एवं सम्पादक

डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी

प्राध्यापक

आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



वाराणसी

२०६४ वैक्रमाब्द   १९२९ शकाब्द   २००७ खैस्ताब्द

ISBN : 81-7270-190-X

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी ।



प्रकाशक—
डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२



प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२



प्रथम संस्करण— ५०० प्रतियाँ
मूल्य—४००.०० रूपये



मुद्रक—
विजय प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी ।

प्रस्तावना

डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी, वरिष्ठ-प्राध्यापक, भाषाविज्ञान-विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के **'वाचस्पति'** उपाधि हेतु प्रस्तुत तथा उपाधिप्राप्त अनुसन्धान-प्रबन्ध **''काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति''** पर प्रस्तावना लिखते हुए अतिशय हर्षानुभूति हो रही है । डॉ. द्विवेदी एक वेदविद्याविद् विद्वान् होने के साथ ही भाषाशास्त्रविद् भी हैं । यही नहीं, डॉ. द्विवेदी एक अच्छे साधक भी हैं । उनके इस प्रबन्ध का मैंने आद्योपान्त अवलोकन किया । यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है तथा परिशिष्टों से मण्डित है ।

डॉ. द्विवेदी ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि उन्होंने श्री मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश को मुख्य आधार बनाकर वहाँ प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति की है । [illegible] लिखते हैं कि यह अध्ययन पारिभाषिक शब्दों को तीन श्रेणियों में बाँटकर किया गया है—१. प्रथम श्रेणी में बौद्ध दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों पर विचार किया गया है, २. द्वितीय श्रेणी में काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों को उपजीव्य बनाकर विश्लेषण किया गया है और ३. तृतीय श्रेणी में अन्यान्य शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति की गयी है ।

इस प्रकार डॉ. द्विवेदी का यह अनुसन्धान काव्यशास्त्रीय छात्रों एवं भाषावैज्ञानिक अनुसन्धाताओं के लिए मार्गप्रदर्शक सिद्ध होगा ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय जहाँ विश्वविख्यात सरस्वतीभवन-पुस्तकालय की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के प्रकाशन में निरन्तर अग्रणी भूमिका निभा रहा है, लुप्त-तिरोहित-दुर्लभ हो रहे आकर ग्रन्थों की उपलब्धता सुनिश्चित कर रहा है, प्राचीनतम 'दि पण्डित पत्रिका' की बहुमूल्य सामग्रियों का सम्पादन कर संस्कृत-जगत् के समक्ष उपस्थापित कर रहा है, नये-नये शोधोपक्रमों को विश्वविख्यात 'सारस्वती सुषमा' के माध्यम से विद्वन्मण्डली के समक्ष दृग्गोचरी करा रहा है, वहीं संस्कृत वाङ्मय में हो रहे अनुसन्धान-कार्यों को भी प्रकाशित करते हुए अपनी इतिकर्तव्यता की भूमिका निभा रहा है ।

डॉ. द्विवेदी का यह नूतन विश्लेषण से मण्डित ग्रन्थ भी उसी दिशा में अपने ज्ञानसौरभ से जिज्ञासुवों, शोधार्थियों, विश्लेषणकर्ताओं को सुरभित करेगा, ऐसा हमारा मन्तव्य है । एतदर्थ मैं **डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी** जैसे युवा विद्वान् को अपने आशीर्वचनों से वर्द्धापित करता हूँ ।

इस विश्वविद्यालय के प्रकाशनों की धुरी **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, निदेशक, प्रकाशन-संस्थान को स्वस्तिवाक् के द्वारा उनका मङ्गलाभिशंसन करता हूँ ।

अन्त में इस ज्ञानयज्ञ के अध्वर्यु **डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी** से आशा करता हूँ कि भविष्य में भी ऐसे ग्रन्थरत्नों की सर्जना में अपने को व्यापृत किये रहें ।

अन्ततः इस अनूठी कृति को भवानीजानि श्रीविश्वेश्वर के कर-कमलों में समर्पित करता हुआ उनके चरणकमलों में अपना प्रणाम निवेदित करता हूँ ।

वाराणसी
आषाढ़-शुक्ला एकादशी,
वि. सं. २०६४

(प्रो. अशोक कुमार कालिया)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रकाशकीय

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि डॉ. देवीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रणीत शोध-प्रबन्ध **"काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति"** का प्रकाशन इस विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान से सम्पन्न हो रहा है । डॉ. द्विवेदी से लगभग चार दशकों से जुड़ाव रहा है । वे पाणिनि व्याकरणशास्त्र और विशेषकर आचार्य भर्तृहरि के **'वाक्यपदीय'** पर निरन्तर अनुसन्धान-कार्य करते रहे हैं । डॉ. द्विवेदी को जैसा चालीस वर्षों पूर्व देखा था, वही ओजस्विता, तेजस्विता, मितभाषिता, मधुरभाषिता तथा सम्भाषण में आत्मीयता का अनुगुम्फन हमेशा बना रहा । ऐसे ही माता शारदा के उपासकों के बारे में शास्त्रवचन है—

वेषेण वपुषा वाचा विद्यया विनयेन च ।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः कीर्तिमवाप्स्यति ।।

इन पञ्च 'वकारों' को धारण किये हुए डॉ. द्विवेदी निरन्तर अपनी ओर संस्कृतसेवी समाज की दृष्टि आवर्जित करते रहे हैं । वे वेदविद्या के निष्णात प्रयोक्ता, धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड अनुष्ठाता तथा व्याकरणशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र के प्रत्यग्र मनस्वी विद्वान् हैं । उन्होंने पण्डितराज पण्डितेन्द्र **आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी** से भी विद्या पायी है । औदार्य उनका पैतृक गुण है । अपरिग्रह उनकी मनस्विता से अनुगुम्फित रहती है ।

उन्होंने अपने **'वाचस्पति'** उपाधि से मण्डित अनुसन्धान-प्रबन्ध **"काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति"** का प्रणयन अत्यन्त मेधाविता से किया है । व्युत्पत्तिशास्त्र भारत की अप्रतिम विद्या रही है । सहस्रों संस्कृत महाविद्यालयों में अध्यापन कर रहे आचार्यगण व्युत्पत्ति का बीज अपने विद्यार्थियों में अंकुरित कराते रहे हैं । यहाँ तो वर्णों की व्युत्पत्ति, पदों की व्युत्पत्ति, वाक्यों की व्युत्पत्ति के विना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता । इसीलिए महाकवि कालिदास के व्याख्याता आचार्य मल्लिनाथ ने निम्नलिखित श्लोक में अपना हार्द प्रकट किया है—

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते ।।

आचार्य मल्लिनाथ ने व्युत्पत्तिशास्त्र के इस सूत्र को हमेशा अपना उपजीव्य बनाया है । विश्वकवि कविकुलगुरु कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य, कुमारसम्भव एवं मेघदूत की संजीविनी व्याख्या में इनकी व्युत्पत्तिमूलकता देखी जा सकती है । इन तीनों महाकाव्यों का बोध मल्लिनाथ की व्युत्पत्तिमूलकता से

सहज ही हो जाता है । वेदों से लेकर शास्त्रों, पुराणों, महाकाव्यों तक में व्युत्पत्ति और निर्वचन के विना वाङ्मय का सुधास्वाद प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

पाश्चात्त्य जगत् में व्युत्पत्ति एवं निर्वचन को 'एटिमालॉजी' कहा जाता है । 'एटिमालॉजी' या व्युत्पत्ति-निर्वचन सीधे वाङ्मय के मणिबन्ध को उद्घाटित कर देते हैं और पदों, वाक्यों के संघात-समासों में छिपे हुए अर्थ-वैविध्य का अवगुण्ठन हटने लगता है । भारतवर्ष में व्युत्पत्ति एवं निर्वचन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी प्रणीत हुए हैं । 'निरुक्त', 'एकाक्षरकोष', 'द्व्यक्षरकोष', चतुरक्षरकोष' तथा 'भट्टिकाव्य' जैसे ग्रन्थ व्युत्पत्तिमूलक हैं ।

अत: ऐसे विषय पर ग्रन्थप्रणयनकर्ता आचार्य **श्री देवीप्रसाद द्विवेदी** का मैं वर्द्धापन करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी यह रचना निश्चय ही नयी रचनाओं को उकसावा देगी ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ. ददन उपाध्याय** एवं प्रकाशन-संस्थान के समस्त कर्मचारियों ने अथक परिश्रम किया है । एतदर्थ उन्हें शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ ।

इस ग्रन्थ के मुद्रक श्री विजय प्रेस के संचालक **श्री गिरीश चन्द्र** ने बड़ी तत्परता के साथ सहयोग किया है । तदर्थ उन्हें शुभाशंसा प्रदान करता हूँ । ग्रन्थ के निबन्धक **श्री रमेश कुमार** ने अपनी बाइण्डिग कला से इसमें प्राण फूँका है । अत: उन्हें भी साधुवाद देता हूँ ।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
वि. सं. २०६४
(२९.७.२००७ ई०)

(डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी)
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

व्युत्पत्तिशास्त्र एक ऐतिहासिक विज्ञान है । इसके अन्तर्गत शब्द का अध्ययन किया जाता है । किसी भाषा के शब्दकोश के प्रत्येक शब्द को लेकर एक प्रकार से उसकी जन्मपत्री बनायी जाती है । अर्थात् यह देखा जाता है कि अमुक शब्द कहाँ से आया, कब और कैसे बना तथा अपने अस्तित्व के लिए वह किन-किन अनुकूल या प्रतिकूल अवस्थाओं से गुजरा । अत: यह विज्ञान शब्दों के प्राचीनतम रूप को निर्धारित करता है ।

प्राचीन समय में व्युत्पत्तिशास्त्र को निरुक्त नाम से पुकारा जाता था । आचार्य यास्क का निरुक्त व्युत्पत्तिशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ है । निरुक्त में शब्दों की तीन प्रकार की प्रवृत्ति बतायी गयी है–**त्रिविधा हि शब्दप्रवृत्तय:, प्रत्यक्षकृता:, परोक्षकृता:, अतिपरोक्षकृताश्च** । अतिपरोक्ष शब्दों का ज्ञान व्युत्पत्ति से ही सम्भव है । पाश्चात्त्य देशों में भी प्लेटो के समय में व्युत्पत्तिशास्त्र का अध्ययन प्रचलित था । आधुनिक काल में स्वीट, वर्नर; टर्नर आदि विद्वानों ने व्युत्पत्तिशास्त्र पर कार्य किया है ।

व्युत्पत्तिशास्त्र के अन्तर्गत शब्द का पूर्ण लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है । अत: इसे शब्दनिर्वचन या शब्द-निरुक्ति भी कहा जाता है । यहाँ काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति से अर्थनिर्वचन अभिप्रेत है । यहाँ **काव्यस्य शास्त्रं काव्यशास्त्रम्,** काव्य का शास्त्र, काव्यसम्बन्धी शास्त्र अर्थात् काव्य का अनुशासन करने वाला ग्रन्थ काव्यशास्त्र शब्द से अभिप्रेत है । इस तरह काव्य-शास्त्र से काव्य के लक्षण-ग्रन्थ का ग्रहण होता है । अत: काव्य के लक्षण-ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति अर्थात् निर्वचन ही प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा है ।

काव्य शब्द या काव्यशास्त्र के शब्दों का अर्थज्ञान अपेक्षित है । प्राय: देखा जाता है कि वही शब्द काव्य में अधिक चमत्कारी होते हैं, जो अपने व्युत्पत्तिनिमित्त को नहीं छोड़ते । जो शब्द अपने व्युत्पत्तिनिमित्त को छोड़ देते हैं, वे प्राय: अपने नवनवार्थनि:ष्यन्दन को भी छोड़ देते हैं या फिर सम्बन्ध-विशेष के द्वारा अन्यार्थ या लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करने लग जाते हैं । परन्तु शब्द में नवनवार्थनि:ष्यन्दशक्ति वस्तुत: व्युत्पत्तिमूलक ही है । यही कारण है कि

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना गया है । निरुक्ति के द्वारा ही शब्द का स्फुट परिज्ञान होता है तथा उसका अर्थ भी करामलकवद् भासित होता है, अत: इसकी निरुक्ति अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होती है ।

यद्यपि इस निरुक्ति का सम्बन्ध व्याकरण या भाषाविज्ञान से है । वैयाकरण पद की व्युत्पत्ति या शब्दसाधन मात्र करते-करते प्रक्रियांश में ही लीन रहते हैं, जिससे उनका हृदय शुष्क हो जाता है, वे सामान्य अर्थ का निर्वचन कर पाते हैं, इसलिए उन्हें शाब्दिक या पदविद्याविद् कहा जाता है । वे बोद्धा हो पाते हैं, सहृदय नहीं बन पाते हैं । शब्द के आन्तरिक रहस्य तक पहुँचने के लिए उसके अर्थ पर विचार अपेक्षित है । वह सहृदय ही कर सकता है । प्राय: शब्दों की निरुक्ति ग्रन्थकार या टीकाकार कर देते हैं । फिर भी वह निर्देशमात्र दिग्दर्शनमात्र है । कहीं-कहीं उन पर भी विवेचन नितान्त आवश्यक है । इस प्रबन्ध में काव्यशास्त्र अर्थात् लक्षणग्रन्थ के पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति ही सीमित है, काव्यशास्त्र में प्रयुक्त सभी शब्दों की नहीं । यद्यपि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ भी अनेक हैं, बहुत से ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जो उपलब्ध नहीं हैं, जिनका प्रकाशन आजकल नहीं है, दुर्लभ हैं, तो भी उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है, उनमें काव्यप्रकाश को मुख्य आधार बनाकर वहाँ प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द हमारी निरुक्ति के विषय हैं ।

विषयवस्तु के विस्तार को देखकर पारिभाषिक शब्दों को तीन भागों में विभक्त कर अध्ययन का विषय बनाया गया है, जिसके पहले भाग में काव्यशास्त्र में प्रयुक्त बौद्धदार्शनिक पारिभाषिक शब्दों पर विचार किया गया है । द्वितीय भाग में काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द गृहीत हुए हैं । अन्त के तृतीय भाग में अन्य शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों या सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने का प्रयास अभिप्रेत है, जो काव्यशास्त्र में प्रयुक्त हैं ।

एक बार गुरुवर आचार्य **श्री वायुनन्दन पाण्डेय** जी का **'कविकाव्यसमाख्या'** नामक निबन्ध पढ़ने का अवसर मिला, जिसमें 'कु शब्दे' तथा 'कवृ वर्णे' दोनों धातुओं से कवि तथा काव्य शब्द की निष्पत्ति की गयी थी तथा उसके (वकारोपध) ओष्ठ्योपध तथा दन्त्यौष्ठ्योपध दोनों प्रकार के होने की सिद्धि की गयी थी । प्राचीनकाल में दोनों प्रकार के शब्दप्रचलन का शास्त्रीय दृष्टान्त द्वारा समर्थन किया गया था । साथ ही व्युत्पत्तिनिमित्त द्वारा अनेक शब्दों का सुगम रीति से अर्थ बतलाया गया था । जैसे—सुख शब्द की व्युत्पत्ति 'सुष्ठु

खानि इन्द्रियाणि सन्ति यस्मिन् तत् सुखम्' । इसी प्रकार 'दु:खस्थितानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत् दु:खम्' । इस सुख और दु:ख को वैषयिक कहा गया है । आह्लाद या आनन्द को आत्मसुख की संज्ञा दी गयी है ।

उस अध्ययन से अन्त:प्रबोध हुआ कि क्यों न काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति की जाय, जिससे साहित्यशास्त्र के एक विश्वकोश की रूपरेखा समुपस्थापित हो । इसी प्रेरणा से अभिप्रेरित होकर इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्ति हुई है । यद्यपि भामह के एक वाक्य से ज्ञात होता है कि यादृच्छिक शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता, शब्द कुछ रहता है, अर्थ कुछ । जैसा कि उन्होंने कहा है—

'कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते'[१] ।

अर्थात् संज्ञा (नाम) अपनी इच्छा से की जाती है । यह यादृच्छिक शब्द होता है । यादृच्छिक शब्दों के विषय में आचार्यों के दो मत हैं । एक आचार्य कहते हैं कि यदृच्छा शब्द का वह शब्द ही अर्थ (आनुपूर्वी) है । दूसरे आचार्य कहते हैं कि जिस व्यक्ति का वह नाम है, वही उसका अर्थ है । दोनों ही स्थिति में उस अर्थ का तथा उसके गुण क्रिया का उस व्यक्ति में आरोप कर नामकरण किया जाता है । अत: वह शब्द उस व्यक्तिरूप अर्थ में रूढ़ हो जाता है, वह शब्द निरर्थक नहीं है, न ही वह अपने अर्थ से विपरीत या सम्बन्ध-रहित है ।

संज्ञाकरण में लोक और शास्त्र में भी रूढ़ शब्द ही पाये जाते हैं । लोक का निदर्शन पूर्वोक्त नाम है । शास्त्र का निदर्शन महामुनि पाणिनि की संज्ञा को लीजिए, यथा—टि-संज्ञा, घु-संज्ञा, भ-संज्ञा आदि । परन्तु शास्त्र में ये संज्ञायें निरर्थक नहीं हैं । ये सभी संज्ञायें अन्वर्थ हैं । उनकी निरुक्ति होती ही है । काव्यशास्त्र में भी ऐसी महासंज्ञायें हैं । उनकी निरुक्ति सम्भव है । इस निरुक्ति से लाभ होगा कि काव्यशास्त्र में जो ज्वलन्त समस्यायें हैं, जिनका समाधान आज तक नहीं हो सका है, इस प्रकार की निरुक्ति से उनका समाधान सम्भव है । इसलिए काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति तथा निर्वचन के द्वारा लक्षण की सङ्गति बैठायी जाय, तो अध्ययन में सुगमता तथा अध्येताओं के लिए हितकर होगा ।

---

१. भामह, का० ल०, १.३१ ।

प्रबन्ध-सङ्गति

इस प्रबन्ध को पाँच भागों में विभक्त कर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । विभागों को अध्याय नाम से अभिहित किया गया है । **प्रथम अध्याय** में भाषा एवं भाषावैज्ञानिक विषय को आधार बनाकर भाषा की महत्ता, भाषा की परिभाषा, भाषाविज्ञान का क्षेत्र, व्युत्पत्तिशास्त्र, शब्द-व्युत्पत्ति के नियम, शब्द की प्रकृति, शब्दनिर्माण की प्रक्रिया, शब्दों की गति, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध, सङ्केत से अर्थ की प्रतीति, अर्थप्रतीति में विविध मत, अर्थ-परीक्षण के आधार, अर्थ के प्रकार, अर्थविस्तार आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है । **द्वितीय अध्याय** में काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए काव्य-शास्त्र का अर्थ, उसका नामकरण तथा संज्ञान्तर, साहित्यशास्त्र का उद्गम, काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का परिचय प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम में तीसों ग्रन्थकारों का परिचय उपस्थापित करते हुए उनके विशिष्ट प्रति-पाद्य पर भी दृष्टि को केन्द्रित किया गया है । इसी क्रम में साहित्य शब्द की निरुक्ति, साहित्यशास्त्र के अधिकारी आदि विषय को भी हृदयङ्गम करने का प्रयास किया गया है । **तृतीय अध्याय** के लिए सङ्कल्पित काव्यशास्त्र में प्रयुक्त बौद्धदार्शनिक शब्दों की निरुक्ति के क्रम में भारतीय दर्शन की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हुए बौद्धदर्शन पर भी दृष्टि को केन्द्रित किया गया है । काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त बौद्धदर्शन के शब्दों की निरुक्ति के क्रम में अपोह, अर्थक्रिया-कारिता, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनुव्यवसाय आदि शब्दों पर विचार प्रस्तुत किया गया है । इस क्रम में उनके सिद्धान्तों को भी उपस्थापित करने का प्रयास किया गया है, जिससे अनेकों अवान्तर शब्दों पर भी विचार उपस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ है ।

काव्यशास्त्र के रहस्यपूर्ण ज्ञान के लिए उसके पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है, इस दृष्टि से **चतुर्थ अध्याय** में मुख्य रूप से काव्यप्रकाश को आधार बनाकर अन्य आचार्यों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को भी सङ्गृहीत किया गया है । इस क्रम में भामह, राजशेखर, विश्वनाथ आदि अनेक आचार्यों के ग्रन्थों पर दृष्टिपात किया गया है । यद्यपि साहित्यशास्त्र एक ऐसा अथाह शब्दसागर है, जहाँ अनन्त शब्दराशि बिखरी पड़ी है । उन पर विचार किया जाय, तो अनेक ग्रन्थ पूर्ण हो सकते हैं, तथापि दिशानिर्देश के रूप में ही कुछ शब्दों पर विचार हो सका है ।

साहित्यशास्त्र में अन्यान्य शास्त्रों के शब्द भी मोती की तरह बिखरे पड़े हैं, अत: ऐसे शब्दों को समेटने के लिए **पञ्चम अध्याय** में विविध शास्त्रों के शब्दों की निरुक्ति पर प्रकाश डाला गया है । इस क्रम में व्याकरण, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त आदि में प्रयुक्त शब्दों को उपस्थापित किया गया है । इसमें यह भी ध्यातव्य विषय बनाया गया है कि कौन शब्द खण्डन के क्रम में आये हैं, किनको अपने सिद्धान्त की पुष्टि में सङ्गृहीत किया गया है और किन सैद्धान्तिक शब्दों को अपना लिया गया है । इस तरह इस प्रबन्ध की सङ्गति है ।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम माँ अन्नपूर्णासहित काशीपति विश्वनाथ को साष्टाङ्ग प्रणति-निवेदनपूर्वक उन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति करता हूँ, जिनका सम्बल पाकर इस दुस्तर शब्दसागर को आलोडित करने का प्रयास किया गया है । **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'** इस सूक्ति की परिणति का परिपक्व फल ही यह प्रबन्ध है । अपने संसर्ग से प्रोत्साहित करने वाले महान् व्यक्तित्व के धनी वेदान्तादि-शास्त्रशिरोमणि, महामनीषी, प्राच्यप्रतीच्योभयविध विद्या के पारङ्गत विद्वान्, कुशल प्रशासक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व-कुलपति माननीय **प्रो० राममूर्ति शर्मा जी** के प्रति अपनी भावभरित प्रणामाञ्जलि निवेदित करता हूँ, जिन्होंने बार-बार प्रोत्साहित कर बहुत दिन से लम्बित कार्य को पूर्ण कराने का सम्बल दिया । इनके प्रोत्साहन से ही यह लेखन कार्य पूर्ण हुआ है । आपका साक्षात्कार विश्वनाथ मन्दिर के आचार्यत्व काल में हुआ, तभी से आप मुझे इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करते रहे, इसलिए पुन: प्रणति निवेदन करते हुए उनका आधमर्ण्य स्वीकार करता हूँ । इसी क्रम में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया जी** के प्रति अपनी भावभरित कृतज्ञता समर्पित करता हूँ, जिनके कृपा-प्रसाद से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है ।

अपने सफल निर्देशन के द्वारा शोध-कार्य पूर्ण कराने का श्रेय आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान के पूर्व-सङ्काय-प्रमुख **प्रो० सत्यव्रत शर्मा जी** का है । उनके कुशल निर्देशन का प्रतिफल यह शोध-प्रबन्ध है, अत: उनके चरणों में अपना श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए उनका आभार स्वीकार करता हूँ ।

प्रकाशन-संस्थान के यशस्वी निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनकी अहैतुकी सहानुभूति से ग्रन्थ का सफल प्रकाशन हो सका है। इस अवसर पर अपने मित्रवर विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान के सहायक सम्पादक **डॉ० ददन उपाध्याय** को भी विस्मृत नहीं कर सकता हूँ, जिनका शब्दान्वेषण में सहयोग तृणवत् सहायक बना, अत: उनके आयुष्य एवं उन्नति मङ्गल की कामना विश्वपति विश्वनाथ से करता हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिनका सहयोग इसमें प्राप्त हुआ है, उन सभी के प्रति कृतज्ञता अर्पित करते हुए इस प्रबन्ध को माँ अन्नपूर्णा एवं काशी विश्वेश्वर के चरणकमलों में अर्पित करता हूँ।

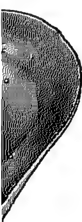
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

वाराणसी
मार्गशीर्ष-पूर्णिमा
विक्रम संवत् २०६४

डॉ. देवी प्रसाद द्विवेदी
प्राध्यापक
भाषाविज्ञान विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

विषयानुक्रमणी

द्वितीय अध्याय : काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवरण **५७–११४**



काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति

प्रथम अध्याय

नमामि गिरिजासूनुं सर्वशास्त्रार्थवेदिनम् ।
सर्वविद्याधिपं शर्वं गुरुं गौरीं सरस्वतीम् ।।१।।
काव्यशास्त्रीयशब्दानां निरुक्तिः क्रियतेऽधुना ।
नत्वा साम्बशिवं देवं छात्रव्युत्पत्तिसिद्धये ।।२।।
निरुक्तिः क्वातिगम्भीरा क्व शास्त्रं गहनं दृढम् ।
अतोऽहं वाङ्मयाधीशं शिवं नौमि पुनः पुनः ।।३।।

भाषा एवं भाषाविज्ञान का परिचय

भाषा की महत्ता

मानवसमाज के लिए भाषा की महत्ता स्वयंसिद्ध है । इसके बाद मनुष्य का जीवन बहुत कुछ नीरस रह जाता है और उसका व्यवहार भी व्यापक नहीं हो पाता । भाषा के द्वारा ही मानव सभ्यता का बहुमुखी विकास सम्भव हुआ है । भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा के साधन से ही मनुष्य उत्तरोत्तर प्रगति-पथ पर बढ़ता जा रहा है । भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के मत प्रकट किये गये हैं, अनुसन्धान हुए हैं और होने जा रहे हैं । भाषा-शास्त्रियों ने इसके विषय में अनके सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं और भाषाविज्ञान नियमित रूप से अध्ययन का एक विषय बन गया है । ध्वनि से शब्द और शब्दों से वाक्य-रचना तथा व्याकरण एवं कोश द्वारा शब्दार्थों का नियमन वस्तुतः श्रुत एवं लिखित भाषा का आधार हो गया है ।

भाषा की परिभाषा

साधारणतः भाषा उस साधन का नाम है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करता है । भाषा मानव के विचार-विनिमय का साधन है । मनुष्य अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रयोग करता है;

जैसे कोई हिन्दी बोलता है, तो कोई अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन या तुर्की आदि । अपने देश में भी कई भाषायें बोली जाती हैं; जैसे—बंगाली, मराठी, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, तमिल, तेलगू आदि । भिन्न-भिन्न जातियों के विचार-विनिमय का माध्यम अलग-अलग भाषायें हैं । मनुष्य मुखाकृति, आँखों के भाव, हाथ के हिलाने, ताली बजाने, चुटकी बजाने, हाथ दबाने आदि से भी अपनी इच्छा (भाव) प्रकट करता है । अमेरिका के भारतीय लोग इङ्गित भाषा का प्रयोग करते हैं । आस्ट्रेलिया या अफ्रीका के आदिवासी अपने-अपने ढंग से विचार-विनिमय करते हैं । संसार के विभिन्न क्षेत्रों में भाषा-शब्द के लिए अनेक शब्द हैं । अंग्रेजी में लैंग्वेज, रूसी में याजिक, फारसी में जबान, जर्मन में स्प्रारवे, अरबी में लिस्सान, लैटिन में लिंगुआ, फ्रान्सीसी में लॉग, लॉगाज, ग्रीक में लेइरवेइन तथा संस्कृत में वाक् है । प्लेटो के अनुसार विचार जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होते हैं, तो उसे 'भाषा' कहते हैं । वान्द्रिएज के अनुसार 'भाषा एक चिह्न है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाव प्रकट करता है' । स्वीट ने ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करने को ही भाषा माना है । ब्लाक तथा ट्रेगर एवं स्त्रुतेवॉ आदि के मत से भाषा यादृच्छिक ध्वनि-चिह्न है, जिसके द्वारा समाज परस्पर सहयोग करता है । भाषा विचार के आदान-प्रदान का माध्यम होती है । भाषा मनुष्य के उच्चारण अवयवों से निकलती है । भाषा की ध्वनियाँ सार्थक होती हैं । भाषा व्यवस्थित होती है । भाषा का प्रयोग समाजविशेष करता है । वस्तुत: भाषा उच्चारण अवयवों से निकली यादृच्छिक ध्वनि-चिह्नों की व्यवस्था है, जिसे मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय में प्रयोग करते हैं । यद्यपि पशु-पक्षी भी परस्पर में विचार-विनिमय करते हैं, तथापि उनकी भाषा व्यवस्थित न होने के कारण अध्ययन का विषय नहीं बन पायी है । फिर प्राचीन भारत में पशु-पक्षियों की भाषाओं को जानने वाले मानवों का इतिहास मिलता है । भाषा का अध्ययन करने वाले शास्त्र का नाम भाषाविज्ञान है । अत: यहाँ उसके नामकरण पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भाषाविज्ञान का नामकरण

मनुष्य द्वारा उच्चारित सार्थक ध्वनि-समूह भाषा कहलाती है । भाषा के विषय में प्राचीनकाल से अध्ययन होता रहा है । वैदिक वाङ्मय में भाषा के विषय में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जो उस समय के भाषासम्बन्धी विचारों

की अभिव्यक्ति करते हैं—यथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता में कहे गये ये शब्द द्रष्टव्य हैं—**'वाग्वै पराच्यव्याकृता वदन्ते देवा इदमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्वीत, सोऽब्रवीद्वरं वृणे मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्णता इति तस्माद्वैन्द्र-वायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते'**[१] । इसी प्रकार तैत्तिरीय-ब्राह्मण में भी कहा है—**"वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्या वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी"**[२] । महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस प्रकार लिखा है—**"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति । दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह"**[३] ।

वर्तमानकाल में भी भाषा का व्यापक रूप से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है । अत: यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि भाषा का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन होने पर इसका नामकरण क्या किया जाय ? साधारण रूप से देखा जाय, तो भाषा के विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन को अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है, जैसे तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, भाषाविचार, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, भाषा-तत्त्व, शब्दशास्त्र, शब्दतत्त्व, भाषालोचन, भाषिकी आदि ।

भाषाविज्ञान के लिए यूरोप में सर्वप्रथम **'कम्परेटिव ग्रामर'** अर्थात् **'तुलनात्मक व्याकरण'** प्रयुक्त किया गया; किन्तु भाषा का विस्तृत अध्ययन केवल तुलनात्मक व्याकरण नहीं है, अत: यह शब्द इसके लिए अनुपयुक्त समझा गया । भाषाविज्ञान में भाषाओं से तुलना किये जाने के कारण अंग्रेजी में इसके लिए फिलालॉजी (Philology) शब्द प्रयुक्त किया गया । फिलालॉजी का शाब्दिक अर्थ भाषा का 'साहित्यिक अध्ययन' है । यूरोपीय देशों में फिलालॉजी शब्द किसी जाति के साहित्य के अध्ययन के लिए प्रयोग किया जाता है । फ्रान्स में इसको लिंग्विस्टिक (Linguistigus) कहा जाता है । एफ० जी० टकर ने इस विज्ञान को 'साइंस आफ टंग' (Science of Tongue) कहा है । टकर महोदय द्वारा उपर्युक्त नाम अधिक उपयुक्त न होने के कारण प्रचलित न हो सका । फिलालॉजी (Philology) शब्द के अर्थ को ब्रिटेनिका विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) में इस प्रकार बतलाया गया है—

---

१. तैत्तिरीय-संहिता; २. तैत्तिरीय-ब्राह्मण; ३. महाभाष्य ।

'फिलालॉजी' शब्द का प्रयोग भाषाविज्ञान के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त किया गया है । भाषाओं की रचना और विकास का अध्ययन इस प्रकार इसका वही अर्थ लेना चाहिए, जो लिंग्विस्टिक (Linguistique) शब्द से लिया जाता है । फिलालॉजी शब्द का वह अर्थ यहाँ गृहीत नहीं, जो यूरोप महाद्वीप में कभी-कभी इङ्गलैण्ड में भी किसी 'भाषा का साहित्यिक अध्ययन' के अर्थ में चलता था । इस बाद वाले अर्थ में भाषा किसी जाति की सम्पूर्ण संस्कृति को समझने का माध्यम मात्र है, जबकि पूर्व वाले अर्थ में वह स्वयं अध्ययन का विषय है । फिलालॉजी शब्द का व्यवहार हमने इसी पहले वाले अर्थ में किया है । वेक्स्टर ने फिलालॉजी शब्द से साहित्य का अध्ययन, जिसमें व्याकरण, आलोचना, साहित्यिक इतिहास, भाषा इतिहास, लेखन-विधि एवं साहित्य तथा भाषा सम्बन्धित अन्य कोई भी वस्तु सम्मिलित है, अर्थ किया है ।

भाषाविज्ञान पर भारत में प्राचीनकाल से विचार होता आया है । इस विज्ञान को उस समय भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत किया गया; जैसे—शब्द-शास्त्र, शब्दानुशासन, निर्वचनशास्त्र, व्याकरण आदि । वर्तमानकाल में पाश्चात्त्य देशों से भारत में इस विज्ञान का अध्ययन आया । पाश्चात्त्य देशों में सन् १७१६ ई० में डेबीज ने भाषाविज्ञान के अर्थ में ग्लासीलॉजी (Glosilogy) शब्द प्रयोग किया था । जर्मनी में इसे (Sprachwissnschaft) कहते हैं, जिसका अर्थ भाषाविज्ञान है । रूसी में यजिकाज्नानिये शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ भी भाषाविज्ञान होता है । प्रिचर्ट ने १८४१ ई० में इस विज्ञान के लिए ग्लाटोलॉजी (Glottology) शब्द का प्रयोग किया । टकर ने भी इसी नाम को सर्वोत्तम बताया है । इसके लिए लिंग्विस्टिक (Linguistique) एवं फिलालॉजी (Philology) नाम अधिक प्रयोग किये जाते हैं । अर्थ एवं विषय के अनुरूप इसके लिए फिलालॉजी शब्द अधिक उपयुक्त है । फिलालॉजी शब्द phil+Logos शब्दों से बना है । Phil शब्द का अर्थ है शब्द (Word) तथा Logos शब्द का अर्थ है–विज्ञान (Science) । इस तरह फिलालॉजी (Philology) का अर्थ हुआ 'शब्दों का विज्ञान' (Science of Words) । हिन्दी-साहित्य में इस विज्ञान के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया गया है; किन्तु सबसे अधिक प्रचलित एवं प्रिय शब्द भाषाविज्ञान है । डॉ० बाबूराम सक्सेना के मत में भाषाविज्ञान शब्द ही अधिक उपयुक्त, व्यापक एवं सार्थक है, भाषा-शास्त्र आदि शब्द नहीं ।

भाषाविज्ञान की परिभाषा

भाषाविज्ञान की परिभाषायें विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की हैं, उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

१. डॉ० पी० डी० गुणे ने भाषाविज्ञान को साइन्स ऑफ लैंग्वेज (Science of Language) माना है । उनके अनुसार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या केवल भाषाविज्ञान 'भाषा का विज्ञान' है । यथार्थत: फिलालॉजी शब्द का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन है । जर्मनी में यूरोप के अन्य देशों की भाँति ही, फिलालॉजी का अर्थ अब भी किसी भाषा का साहित्यिक अध्ययन है । 'सम्प्रति भाषाओं में किसी विशेष वर्ग के तुलनात्मक भाषाविज्ञान का उद्देश्य है, उनकी पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण एवं उनकी व्याख्या' । इस प्रकार गुणे के अनुसार भाषाविज्ञान भाषाओं के विशिष्ट अध्ययन, साहित्यिक दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन, किसी भी व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन एवं विभिन्न वर्गों की भाषाओं की वर्गीय समानता तथा असमानता का अध्ययन है ।

२. डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'भाषारहस्य' में भाषाविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है—"भाषाविज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है" ।

३. डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री भाषाविज्ञान की परिभाषा लिखते हुए कहते हैं कि भाषाविज्ञान उसको कहते हैं, जिसमें–

(क) सामान्य रूप से मानवीय भाषा का,

(ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अन्ततः

(ग) भाषाओं तथा प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है ।

४. डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार—जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं ।

५. **डॉ० मनमोहन गौतम** ने 'सरल भाषाविज्ञान' में भाषाविज्ञान को पारिभाषित करते हुए लिखा है–"भाषाविज्ञान वह शास्त्र है, जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है" ।

६. **प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा** के अनुसार "भाषाविज्ञान का सीधा अर्थ है 'भाषा का विज्ञान' और विज्ञान का अर्थ है 'विशिष्ट ज्ञान' । इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान भाषाविज्ञान कहलायेगा" ।

७. **डॉ० बाबूराम सक्सेना** ने भाषाविज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'भाषातत्त्वों का अध्ययन भाषाविज्ञान है' ।

उपर्युक्त परिभाषाओं का अनुशीलन करते हुए हम कह सकते हैं कि भाषा-विज्ञान में भिन्न-भिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है । यह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रीति से किया जाता है । ऐतिहासिक रीति से भाषाओं की उत्पत्ति, विकास और भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है । तुलनात्मक रीति से विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन किया जाता है । भाषा में परिवर्तन होता है, जो साधारण लोगों की बोल-चाल में अधिक दिखाई देता है, अतः भाषाविज्ञान में बोलियों का भी विस्तृत विवे-चन किया जाता है । भाषाविज्ञान में भी विज्ञान की भाँति सिद्धान्त या नियम होते हैं ।

भाषाविज्ञान और व्याकरण

भाषाविज्ञान और व्याकरण दोनों ही भाषा के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । भाषाविज्ञान और व्याकरण दोनों में पर्याप्त साम्य और वैषम्य भी है । भाषाविज्ञान के प्रारम्भिक समय में यूरोप में इसका नामकरण 'तुलनात्मक व्याकरण' ही किया गया था । व्याकरण और भाषाविज्ञान में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति बताकर उसके स्वरूप का परिचय देता है, जबकि भाषाविज्ञान भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है । ध्वनि, शब्द, वाक्य आदि पर भाषाविज्ञान तथा व्याकरण दोनों में विचार किया जाता है । भाषाविज्ञान अनेक भाषाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है । व्याकरण किसी भाषाविशेष का अध्ययन प्रस्तुत करता है । व्याकरण शुद्ध और अशुद्ध का प्रयोग बतलाता है, जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः[१] ।

व्याकरण शब्द का अर्थ व्याकृति करने वाला है । अर्थात् टुकड़े-टुकड़े करके उसकी आकृति को दिखलाता है । **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् ।** प्राचीनकाल में व्याकरण तथा भाषाविज्ञान में अधिक अन्तर नहीं माना जाता था, इसी से भाषाविज्ञान को तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहा गया था । वस्तुत: भाषाविज्ञान विज्ञान की कोटि में आता है, जबकि व्याकरण शास्त्र है ।

वर्तमानकाल में अध्ययन की सुविधा के लिए भाषाविज्ञान और व्याकरण में भेद किया गया है; क्योंकि वर्णनात्मक व्याकरण के बिना व्याख्यानात्मक व्याकरण अपने कार्य को नहीं कर सकता । व्याख्यानात्मक व्याकरण (भाषाविज्ञान) का मूल आधार वर्णनात्मक व्याकरण है । इसीलिए दोनों में साम्य भी है ।

व्याकरण शास्त्र या कला है, जबकि भाषाविज्ञान विज्ञान है । भाषाविज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है । व्याकरण भाषा को शुद्ध रूप से बोलने, लिखने में सहायता करता है । व्याकरण का सम्बन्ध कालविशेष की भाषा से होता है; लेकिन भाषाविज्ञान का सम्बन्ध कालविशेष की भाषा से ही न होकर समस्त काल की भाषाओं से रहता है । व्याकरण 'क्या' का उत्तर प्रदान करता है, जबकि भाषाविज्ञान व्याख्यात्मक होने से 'क्या' के साथ-साथ क्यों, कब, कैसे आदि का उत्तर भी प्रदान करता है । भाषाविज्ञान के द्वारा ही हम जान सकते हैं कि संस्कृत आगे चलकर कैसे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी के रूपों में विकसित हुई । भाषाविज्ञान का क्षेत्र विशाल है, जबकि व्याकरण का इतना व्यापक नहीं । भाषाविज्ञान की आधारशिला व्याकरण पर ही निहित है । धर्म का धम्म, सर्व का सब्ब आदि रूप वैयाकरणों की दृष्टि से ठीक नहीं है । वैयाकरण पुरातनवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं । धर्म का धरम आदि रूपों को भाषाविज्ञानी विकार न कहकर विकास या प्रगति कहता है । अत: व्याकरण की अपेक्षा भाषाविज्ञान व्यापक है । निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान और व्याकरण दोनों ही अपने अध्ययन का क्षेत्र भाषा रखते हुए भी विशिष्ट गतिविधियों के द्वारा पर्याप्त अन्तर रखते हैं ।

---

१. वाक्यप० ।

भाषाविज्ञान और साहित्य

भाषाविज्ञान तथा साहित्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है । भाषाविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र साहित्य पर ही निर्भर करता है । भाषाविज्ञान में किसी भाषा के जीवित तथा पूर्ववर्ती साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है । भाषाविज्ञान शब्दों की उत्पत्ति तथा विकास को समझाता है, जबकि साहित्य शब्दों के सुन्दर प्रयोग तथा कम से कम शब्दों में अधिकतम सौन्दर्यानुभूति को बतलाता है । भाषाविज्ञान में भाषा के स्वरूप का अध्ययन किया जाता है, जबकि साहित्य में भाषा पर अर्थ की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है और भावों एवं विचारों को समझा जाता है । भाषाविज्ञान में भाषा के गठन आदि का विचार किया जाता है । भाषाविज्ञान तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन करते समय साहित्य द्वारा रक्षित भाषाओं के प्राचीन रूप की जानकारी करता है । विभिन्न साहित्यों द्वारा ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत के प्राचीन स्वरूप की रक्षा की गयी, उन्हीं के आधार पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान को प्रोत्साहन मिला । वैदिक संस्कृत का विकास कालान्तर में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपों में हुआ, यह उन भाषाओं के उपलब्ध साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है ।

किसी भाषा के रूप, अर्थ, वाक्यविज्ञान आदि में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों को उस भाषा के साहित्य द्वारा ज्ञात करते हैं । भाषाविज्ञान में इन्हीं पर विचार करते समय रूपबिचार, ध्वनिविचार, वाक्य-विचार आदि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । जिन भाषाओं का प्राचीन साहित्य उपलब्ध नहीं है, उनका क्रमिक विकास नहीं बतलाया जा सकता । भाषाओं का प्राचीन रूप जानने के लिए भाषाविज्ञान को भाषाओं के प्राचीन साहित्य पर निर्भर रहना पड़ता है । संसार की प्राचीन भाषाओं संस्कृत, ग्रीक, लैटिन का महत्त्व उनके प्राचीन साहित्य के उपलब्ध होने के कारण है, जिनके क्रमिक विकास के अध्ययन से अन्य भाषाओं की उत्पत्ति एवं विकास तथा इन तीनों भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध और किसी एक मूल भाषा से उत्पत्ति पर विचार सम्भव हो सका है । भाषाविज्ञान के प्रयत्नों से ही ज्ञात हुआ कि अवेस्ता तथा ऋग्वेद की भाषा में कितना साम्य है तथा प्राणवान् या शक्तिमान् का प्रतीक असुर भारतीय साहित्य में किस प्रकार असुर (दानव) में बदल गया । प्राचीन विस्मृत साहित्यिक निधि को भाषाविज्ञान के प्रयासों से विश्व जान सका है । चित्रलिपि का मिस्र का साहित्य, कीलाक्षर लिपि का असीरी साहित्य तथा 'गिलगिमेश'

नामक असीरी महाकाव्य को विश्व के सामने भाषाविज्ञान के कारण प्रस्तुत किया जा सका ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भाषाविज्ञान तथा साहित्य दोनों ही एक-दूसरे के सहायक हैं ।

भाषाविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र

भाषाविज्ञान में भाषा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है । भाषा से जुड़े हुए कुछ प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं तथा कुछ कम महत्त्व के । अतः भाषा से सम्बन्धित अध्ययन के दो विभाग किये गये हैं—१. प्रधान तथा २. गौण । प्रधान विभाग के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं—

१. वाक्यविज्ञान (Syntex)
२. रूपविज्ञान (Morphology)
३. ध्वनिविज्ञान (Phonology)
४. अर्थविज्ञान (Semantics)

गौण विभागों में भाषा की उत्पत्ति, भाषाओं का वर्गीकरण, व्युत्पत्ति-शास्त्र, शब्दसमूह लिपि, प्रागैतिहासिक खोज आते हैं ।

यहाँ इन विषयों पर संक्षेप में चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा । इसलिए भाषाविज्ञान के प्रधान विषय पर चर्चा प्रस्तुत है ।

१. प्रधान विषय

वाक्यविज्ञान (Syntex)—भाषा मनुष्य के विचार-विनिमय का साधन है । विचार वाक्यों द्वारा प्रकट किये जाते हैं । किन्हीं दो भाषाओं की तुलना को वाक्यविचार या वाक्यविज्ञान कहते हैं । इसके अन्तर्गत वाक्यरचना पर विचार किया जाता है । वाक्यविचार का अध्ययन तीन प्रकार से किया जाता है–

१. वर्णनात्मक वाक्यविचार, २. ऐतिहासिक वाक्यविचार तथा ३. तुलनात्मक वाक्यविचार ।

इनमें वर्णनात्मक वाक्यविचार में वाक्य का अध्ययन साधारण रूप से किया जाता है । ऐतिहासिक वाक्यविचार में वाक्यरचना का इतिहास तथा तुलनात्मक वाक्यविज्ञान में दो भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार वाक्यविज्ञान में वाक्य का अध्ययन पदक्रम,

अन्वय, परिवर्तन आदि की दृष्टि से किया जाता है । वाक्यविज्ञान को 'वाक्य-विचार' एवं 'वाक्यरचना' शास्त्र भी कहा जाता है ।

रूपविज्ञान (Morphology)—इसे 'पदविज्ञान' या 'पदरचना-शास्त्र' भी कहते हैं । इसके अन्तर्गत भाषा का रूपात्मक अध्ययन किया जाता है । इसमें उन विषयों का अध्ययन किया जाता है, जिनसे शब्द-रचना होती है । इसमें मुख्य रूप से धातु, उपसर्ग, प्रत्यय शब्द या विभक्ति आदि का विवेचन किया जाता है । पद-विज्ञान का अध्ययन भी वाक्यविज्ञान की भाँति वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक रूप से किया जाता है । रूपविज्ञान को 'पदविज्ञान', 'पदरचना-शास्त्र', 'रूपविचार' आदि नामों से भी जाना जाता है ।

ध्वनिविज्ञान (Phonology)—ध्वनियों की सहायता से पद या शब्द की रचना होती है, अतः भाषाविज्ञान में ध्वनियों का विशेष महत्त्व है । ध्वनि-विज्ञान में ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनि-विकास, ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अवयव यथा मुखविवर, नासिकाविवर, स्वरतन्त्री, ध्वनियन्त्र आदि, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनि लहरों का प्रसरण, ध्वनि का सुना जाना आदि बातों का अध्ययन किया जाता है । ध्वनिविज्ञान का अध्ययन सामान्यतः ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रूप से किया जाता है । डॉ० गुणे के अनुसार ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों का उच्चारण, अक्षर रूप में उनका संयोग, उन अक्षरों का शब्दरूप में संयोग तथा अन्ततः शब्दों से वाक्यों का निर्माण आदि भाषाविषयक विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया जाता है । इसे ध्वनिविचार भी कहते हैं ।

अर्थविज्ञान (Semantics)—शब्दों का अर्थ ही विचार-विनिमय के साथ ग्राह्य होता है । अर्थ ही भाषा की आत्मा है । भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन ही विषय है, अतः भाषा की आत्मा अर्थ पर आवश्यक रूप से विचार किया जाता है । अर्थविज्ञान में शब्दों का अर्थ से सम्बन्ध, अर्थ-परिवर्तन, अर्थ-परिवर्तन के कारण, अर्थ-ध्वनि-सम्बन्ध, पर्याय, विलोम आदि बातों पर विचार किया जाता है । अर्थविचार वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रूप से किया जा सकता है । किस प्रकार शब्द अपने अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है, अर्थ का संकुचन और विस्तारण कैसे होता है ? आदि का विचार किया जाता है । अश्व का अर्थ घोड़ा ही क्यों हुआ ? उपाध्याय

किस प्रकार ओझा या झा हो गये, इनका अध्ययन अर्थविज्ञान के सहारे प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे 'अर्थविज्ञान' या 'अर्थ उद्बोधन शास्त्र' भी कहते हैं।

इन चार विभागों के अतिरिक्त डॉ० भोलानाथ तिवारी ने एक अन्य पाँचवाँ शब्दविज्ञान (Wordology) भी माना है। शब्दविज्ञान के अन्तर्गत शब्दों का वर्गीकरण शब्दसमूह में परिवर्तन के कारण, शब्दों का तुलनात्मक विवेचन, कोशविज्ञान, शब्दों की व्युत्पत्ति आदि का अध्ययन किया जाता है।

भाषाविज्ञान के गौण विभाग के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर विचार किया जाता है—

१. भाषा की उत्पत्ति—भाषाविज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक तथा आवश्यक अध्ययन 'भाषा की उत्पत्ति' का है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने प्रकार से मत व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वान् भाषा की उत्पत्ति पर विचार करना भाषाविज्ञान के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते; किन्तु यह अनुचित है कि हम भाषा का हर प्रकार से विवेचन करें, पर उसकी उत्पत्ति के विषय में मौन रहें, यह कहाँ तक न्यायसङ्गत है। भाषा की उत्पत्ति को बताना एक कठिन कार्य है। सभी के मतों में कोई न कोई दोष अवश्य रहा है। भाषाविज्ञान में भाषा की उत्पत्ति बतलाने का विवेचन किया जाता है।

२. भाषाओं का वर्गीकरण—इस विभाग में भाषाओं का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन करके भाषा का वर्गीकरण किया जाता है तथा यह निश्चित किया जाता है कि भाषा किस कुल की है। भिन्न-भिन्न भाषाओं का अध्ययन वाक्यविज्ञान, रूपविज्ञान, ध्वनिविज्ञान तथा अर्थविज्ञान आदि बातों पर विचार करके किया जाता है। भाषाओं को आकृतिमूलक तथा पारिवारिक वर्गीकरण में बाँटना भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

३. व्युत्पत्तिशास्त्र (Etymalogy)—इसके अन्तर्गत शब्द के पूरे जीवन का इतिहास तथा उसमें होने वाले बाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तनों पर विचार किया जाता है। इसमें ध्वनि, अर्थ, रूप आदि पर भी विचार किया जाता है। वस्तुतः व्युत्पत्तिशास्त्र से ही भाषाविज्ञान का प्रारम्भ माना जाता है। इस पर आगे विस्तृत विचार किया जायेगा।

४. **शब्दसमूह (Vocabulary)**—इसके अन्तर्गत किसी भाषा के नये शब्दों का निर्माण, शब्दसमूह में परिवर्तन तथा उसके कारण विदेशी शब्दों का प्रचलन आदि बातों पर विचार किया जाता है ।

५. **लिपि (Script)**—भाषा के लिखित रूप के लिए किसी न किसी लिपि की आवश्यकता होती है । लिपि के विना भाषा-साहित्य को सुरक्षित रखना अत्यन्त कठिन है । अत: भाषा का लिपि से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी से भाषाविज्ञान में लिपि की उत्पत्ति, विकास, लिपि का वर्तमान और भविष्य, लिपि की उपादेयता, ध्वनिविज्ञान की सहायता से लिपि-सुधार आदि का अध्ययन किया जाता है ।

६. **प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palacontology or Urgeschichte)**—इसके अन्तर्गत भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है । भाषाविज्ञान ने मानव को प्राचीन-काल के सम्बन्ध में जानने में सहायता दी है । इस पर अभी विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ; परन्तु भविष्य में अधिक फलप्रद परिणाम निकलने की आशा है ।

७. **भाषाविज्ञान का इतिहास**—भाषाविज्ञान का किन परिस्थितियों में विकास हुआ ? किस-किस देश में किन-किन भाषाओं पर कार्य किया गया ? भारत में इस पर किये गये कार्यों को दो भागों में बाँटा गया है—

१. भारतीय विद्वानों द्वारा भाषाविज्ञान पर किये गये कार्य एवं
२. पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा किये गये कार्य ।

ऊपर वर्णित प्रधान एवं गौण विभागों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों पर भी अध्ययन किया जाता है—

(क) भाषा, भाषा की प्रकृति, विकास तथा उसके अनेक रूप, जैसे—बोली, उपभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा आदि ।

(ख) भाषा के विकास में रुकावट डालने वाले कारण ।

(ग) किसी वर्तमान भाषा के अध्ययन तथा अध्ययन-वस्तु एकत्र करने की प्रणाली आदि का विवेचन ।

(घ) सुरविज्ञान (Tonetics), ग्लासे मेटिक्स (Glossematics), नामविज्ञान (Onomatology), शैलीशास्त्र (Styistics), बोलीविज्ञान (Dialeclobogy), जाति भाषाविज्ञान (Ethnolinguistics) आदि का भी अध्ययन किया जाता है ।

इस शोध-प्रबन्ध का विषय निरुक्ति है, अतः इससे सम्बन्धित व्युत्पत्ति-शास्त्र पर कुछ विचार आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्युत्पत्तिशास्त्र (Low of Etymology)

व्युत्पत्तिशास्त्र का विषय शब्दकोश का अध्ययन है । इसका कार्य यह है कि शब्दकोश के प्रत्येक शब्द को लेकर एक प्रकार से उसकी जन्मपत्री बनायें और ढूँढ़ें की अमुक शब्द कहाँ से आया, कब और कैसे बना तथा अपने अस्तित्व के लिए वह किन-किन प्रतिकूल अवस्थाओं से गुजरा । अत: यह एक ऐतिहासिक विज्ञान है । यथासम्भव प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का आश्रय लेकर यह विज्ञान शब्दों के प्राचीनतम रूप को निर्धारित करता है और अध्ययन करता है कि कालान्तर में उस शब्द के प्रयोगों एवं अर्थों में क्या परिवर्तन हुए । इस शास्त्र के महत्त्व का प्रतिपादन करना निरर्थक होगा । वास्तव में व्युत्पत्तिशास्त्र की कृपा से ही ध्वनिविज्ञान व पदरचनाविज्ञान की स्थापना हुई । व्युत्पत्तिशास्त्र, ध्वनिविज्ञान एवं पदरचनाविज्ञान अन्योन्याश्रित हैं । एक बार ध्वनियों एवं व्याकरणात्मक रूपों की अनुरूपता के नियमों को ग्रहण करने पर व्युत्पत्तिशास्त्री सम्यक् दृष्टि से उन नियमों का व्यवहार करके भाषाविज्ञान को बहुमूल्य सहयोग प्रदान कर सकता है ।

किन्तु व्युत्पत्तिशास्त्र से किसी भाषा के शब्दकोश के स्वरूप का ज्ञान ठीक-ठीक नहीं होता, व्युत्पत्तिशास्त्र का कार्य तो यह बताना है कि शब्दकोश कैसे बना । शब्दों का प्रयोग उनके ऐतिहासिक मूल्य की दृष्टि से नहीं होता; बुद्धि को या तो पता ही नहीं होता और होता भी है, तो शब्दार्थविज्ञान के विकास का विस्मरण हो जाता है । शब्दों का एक तो सामयिक अर्थ होता है, अर्थात् उनका अर्थ उनके प्रयोग के समय तक सीमित रहता है और दूसरा विशिष्ट अर्थ होता है, जिसका सम्बन्ध उनके क्षणिक प्रयोग से है ।

वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत व्युत्पत्तिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्युत्पत्तिशास्त्र के माध्यम से शब्दों के मूल का अध्ययन किया जाता है । इसमें शब्द के प्रकृति-प्रत्यय पर विचार कर मूलार्थ को बतलाया जाता है । व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ भी यही है–विशेष उत्पत्ति । भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही व्युत्पत्तिशास्त्र पर कार्य होता चला आ रहा है । सर्वप्रथम इस शास्त्र के सम्बन्ध में वैयाकरणों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । प्राचीन समय में व्युत्पत्ति-शास्त्र को निरुक्त नाम से पुकारा जाता था । आचार्य 'यास्क' का निरुक्त

व्युत्पत्तिशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। निरुक्त में शब्दों की तीन प्रकार की प्रवृत्ति बतायी गयी है। **त्रिविधा हि शब्दप्रवृत्तयः—प्रत्यक्षकृताः, परोक्षकृताः, अतिपरोक्षकृताश्च।** अतिपरोक्ष शब्दों का ज्ञान व्युत्पत्ति से ही सम्भव है। पाश्चात्य देशों में भी प्लेटो के समय में व्युत्पत्तिशास्त्र का अध्ययन प्रचलित था। आधुनिक काल में स्वीट, यूल, वर्नर, टर्नर आदि विद्वानों ने व्युत्पत्तिशास्त्र पर कार्य किया है।

यास्क का निरुक्त

वेद के तीसरे अंग निरुक्त के आदि आचार्य यास्क के निरुक्त को भाषाशास्त्र का आदि ग्रन्थ मानना चाहिए, जिसमें अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह समझाया गया है कि वेद में कितने प्रकार के शब्द हैं, उनमें किस प्रकार की विकृति हुई है, कैसे उनकी रचना हुई है और उनके किस शब्द का किस प्रसङ्ग में क्या अर्थ होता है। यास्क के निरुक्त में पाँच अध्याय हैं—

१. वेदाध्ययन-विधि, २. छन्दविभाग, ३. छन्दविनियोग, ४. उपलक्षित-कर्मानुकूल-भूतकाल (भूतकाल में कौन-सा कार्य कब हुआ, इसका विवरण) और ५. उपदर्शित लक्षण।

निरुक्त का महत्त्व इसीलिए अधिक माना जाता है कि वेद का अर्थ समझने का वह सबसे बड़ा आधार है। इसे वेद का व्युत्पत्तिकोश समझना चाहिए। अन्य विवरणों के साथ इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि शब्दों के आगे, पीछे या बीच से कोई अक्षर कैसे निकल जाता है, कैसे स्थानान्तरित हो जाता है या उसमें कैसे विकृति आ जाती है, अर्थात् वर्तमान भाषाशास्त्र के अन्तर्गत विचारणीय अनेक प्रश्नों का समाधान यास्क के निरुक्त में ही प्राप्त हो जाता है। यास्क से पूर्व जिन आचार्यों ने निरुक्त लिखी, उनमें शाकपूणि, उर्णनाभ और स्थौलष्ठीवि नामक तीन निरुक्तकारों का नाम तो मिलता है, किन्तु उनके ग्रन्थ अभी तक अप्राप्त हैं। यास्क का निरुक्त इतना प्रतिष्ठित हुआ कि उस पर उग्र, दुर्ग, स्कन्दस्वामी, देवराज आदि अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं।

व्युत्पत्तिशास्त्र का कार्य : अन्वेषण

व्युत्पत्तिशास्त्र अत्यन्त ही मनोरञ्जक विषय है। विभिन्न शब्द अपने कमरे में विचित्र-विचित्र कहानियाँ रखते हैं। संस्कृत में 'पश्यक' शब्द का अर्थ है देखने वाला। यही पश्यक शब्द अपने में उलट-फेर करके 'कश्यप' बन जाता

है, जिसका अर्थ सूर्य है, क्योंकि सूर्य भी सकल जगत् का द्रष्टा है । व्युत्पत्ति-शास्त्र का कार्य गहराई से अन्वेषण करने का है । प्राय: ध्वनिसमानता को देखकर किसी दूसरे शब्द को कुछ और समझ लेने से भ्रामक व्युत्पत्ति हो जाती है । कुछ शब्द असमान होते हुए भी समान जैसे लगते हैं और कुछ समान होते हुए असमान-से प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिए अंग्रेजी का Bishop और उसका समानार्थक फ्रेंच शब्द Evegue, इन शब्दों में एक भी वर्ण की समानता नहीं है; परन्तु मूलत: ये दोनों ही शब्द ग्रीक-भाषा के Episkops से उत्पन्न हैं । इसी प्रकार संस्कृत के स्वसृ शब्द और फारसी के 'खाहर' शब्द का एक ही मूल है । इसी प्रकार कुछ शब्द बाह्यरचना की दृष्टि से समान होते हुए भी मूलत: असमान होते हैं, यथा—

अंश	=	भाग
अंस	=	कन्धा
शंकर	=	शङ्कर
संकर	=	मिश्रित
शर	=	बाण
सर	=	तालाब
सुर	=	स्वर
सुर	=	देवता
सूर	=	सूर्य
सूर	=	शूर (वीर)
काम	=	इच्छा
काम	=	धन्धा, कामदेव
सकृत्	=	एक बार
शकृत्	=	विष्ठा (मल)

इसीलिए तो कोई पिता उपदेश करते हुए पुत्र से कहता है कि यद्यपि तुमने बहुत अधिक नहीं पढ़ा, तो भी व्युत्पत्तिशास्त्र (व्याकरण) का अध्ययन करो, जिससे सकृत्, शकृत् का भेद ज्ञात हो जाय—

यद्यपि बहु नाधीतं पठ पुत्र ! व्याकरणम् । सकृत् शकृत् मा भूत् ।।

इसी प्रकार अंग्रेजी Sound = स्वस्थ, Sound = ध्वनि और Sound= तरंग (समुद्र) ये तीनों ही शब्द समान होने पर भी भिन्न-भिन्न शब्दों से निकले

हैं। यही बात संस्कृत के अनेकार्थक शब्दों की कहानी बताती है। जो वक्ता और बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से अपने दूसरे अर्थों में परिवर्तित हो जाते हैं।

शब्द-व्युत्पत्ति के नियम

(१) शब्दों की व्युत्पत्ति का निश्चय अनुसन्धान पर आश्रित होना चाहिए। कल्पित एवं मनमानी व्युत्पत्ति उचित नहीं है। जिस प्रकार उपन्यास के समान इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति भी कल्पना से सम्भव नहीं। शब्दों की व्युत्पत्ति ऐतिहासिक परम्परा एवं ठोस प्रमाण के आधार पर करनी चाहिए।

(२) व्युत्पत्ति के समय शब्द के विकास का काल-क्रम के अनुसार विवेचन होना चाहिए; क्योंकि शब्द के इतिहास को समझकर भ्रम की सम्भावना नहीं रहती है। उदाहरण के लिए हिन्दी का 'आज' शब्द संस्कृत के 'अद्य' का परिवर्तित रूप है। प्राकृत और अपभ्रंश में वह अज के रूप में था और सम्प्रति हिन्दी में संयुक्त व्यञ्जन के अभाव में वह 'आज' हो गया है।

(३) शब्दों की व्युत्पत्ति में केवल बाह्य समानता को ही महत्त्व नहीं देना चाहिए। यदि कहीं कोई विशिष्ट ध्वनि-नियम लागू नहीं होता है, तो वहाँ अपवाद की भी व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरणार्थ हिन्दी में साँप की व्युत्पत्ति संस्कृत के सर्प से मानी जाती है; परन्तु अनुनासिकता के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है।

(४) किन्हीं दो भाषाओं में समान ध्वनि तथा समान अर्थ वाले शब्दों को बिना किसी विशेष अध्ययन के सम्बद्ध नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए अवधी का नियर और अंग्रेजी का Near अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से समान होते हुए भी मौलिक दूरी को रखते हैं।

(५) व्युत्पत्ति के लिए ध्वनि-नियमों का अत्यधिक महत्त्व है। ध्वनि-नियम सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नहीं होते हैं। प्रत्येक भाषा में परिवर्तन और विकास अपनी परम्परा के अनुसार होते हैं। अतः व्युत्पत्ति करते समय ध्वनि-नियमों का ध्यान रखना चाहिए। व्युत्पत्ति के समय शब्द का मौलिक रूप जानना अपेक्षित है।

(६) शब्द की व्युत्पत्ति करते समय जिस प्रकार शब्द के रूप और ध्वनि पर विचार करते हैं, उसी प्रकार हमें शब्द के अर्थ पर भी विचार करना चाहिए। अनेक ग्रन्थकारों का ऐसा अभिमत है। यथा—

रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गोपथब्राह्मण १.१.२६)
अर्थनित्यः परीक्षेत (निरुक्त २.१)
अर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् । (दुर्गाचार्य-टीका २.१)

कहने का तात्पर्य यह है कि ठीक-ठीक व्युत्पत्ति के लिए केवल शब्दों के रूप के अध्ययन से काम नहीं चलता, उनके मूल रूप के अर्थों को समझना भी आवश्यक होता है । यदि नियमों को ध्यान में न रखा जाय, तो शब्दों की व्युत्पत्ति विचित्र हो जायेगी । डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने एक संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् की कुछ व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

अजावय	=	अजीतपूर्वः,
हाजिर	=	इहाजिरः । इहैव अजिरं निवासो यस्य सः ।
जापान	=	जयप्राण ।
स्वीडन	=	सुयोधन ।
अरब	=	आर्यवाह ।
मिस्टर	=	मित्र ।

शब्द-व्युत्पत्ति से सम्बन्धित स्वेच्छाचारिता के उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं । मनुस्मृति में 'मांस' की व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।

अर्थात् मैं जिसका मांस खा रहा हूँ, वह भी मेरे मांस को खायेगा । इस आशय से प्रयुक्त 'मां स' से 'मांस' शब्द बना है । इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ उपहासास्पद हैं । संस्कृत वैयाकरणों का कहना है कि व्युत्पत्ति करने में संज्ञाओं में पहले धातु रूप तत्पश्चात् प्रत्यय के विषय में सोचें । कार्यों से अनुबन्ध आदि का विचार कर व्युत्पत्ति करें ।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ।।

व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री के निम्नलिखित अभिमत को प्रस्तुत करना अस्वाभाविक न होगा । डॉ० शास्त्री लिखते हैं कि—"किसी शब्द की व्युत्पत्ति करने में अनेक प्रमाणों की विस्तृत तुलना की और अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता समझी जाती है" ।

शब्द की व्युत्पत्ति या निरुक्ति पर विचार करने के लिए शब्द की प्रकृति पर विचार अपेक्षित है । अतः यहाँ शब्द पर कुछ विचार प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ । किसी भी भाषा का अध्ययन करने पर प्रतीत होगा कि उसमें किसी प्रकार का कोई भाव समझाने या कहने के लिए शब्द या शब्द-समूह की आवश्यकता पड़ती है । 'ईंजे-ईंजे' जाति वालों की एकशब्दीय भाषा में भी शब्द का प्रयोग होता ही है, भले ही उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में केवल एक ही शब्द क्यों न हो ।

शब्द की प्रकृति

वर्णों के जिस समूह से कोई अर्थ निकलता हो, उसे शब्द कहते हैं और वाक्य में पहुँचकर परस्पर सम्बन्ध प्रकट करने वाले रूप में व्यक्त होने वाले शब्दों को पद कहते हैं । विश्व की विभिन्न भाषाओं में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, वे या तो सदा एक ही रूप में अविकृत होकर प्रयुक्त होते हैं, या वाक्य के अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए अपने अन्त में विभक्ति-प्रत्यय या सम्बन्ध-प्रत्यय जोड़ दिये जाने पर या विशेष अर्थ प्रकट करने के लिए प्रारम्भ में उपसर्ग जोड़ दिये जाने पर अपना रूप बदल लेते हैं । नीचे के उदाहरण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायेगी । एक संस्कृत का वाक्य लीजिए–

स रामस्य गृहाद् आगच्छति ।

यहाँ 'तत्' शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप बना 'सः', राम शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप बना 'रामस्य', 'गृह' का पञ्चमी एकवचन रूप बना 'गृहात्' और 'गम्' धातु में 'आ' उपसर्ग लगाकर लट् लकार में प्रथम पुरुष (अन्य पुरुष) एकवचन में बना 'आगच्छति' । इस प्रकार वाक्य में प्रयुक्त होने पर इन शब्दों के मूल या प्रातिपदिक रूपों में विकार आ गया ।

एक हिन्दी का वाक्य लीजिए–

इनका सम्बन्ध श्रेष्ठ पुरुषों से है ।

यहाँ 'यह' शब्द का आदरार्थक सम्बन्ध कारक में 'इनका' बना, 'बन्ध' में 'सम्' उपसर्ग लगाकर 'सम्बन्ध' बना; बहुवचनसूचक 'ओं' और सम्बन्धसूचक 'से' लगाकर 'पुरुष' शब्द का 'पुरुषों से' बन गया । इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध प्रकट करने वाले विकार साथ लेकर जो शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें 'पद' कहते हैं ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द कुछ निश्चित विशेष अर्थ या अर्थों के लिए रूढ हो गये हैं। इन्हें कोश-सिद्ध शब्द कहते हैं। किन्तु वे ही शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त होकर अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध प्रकट करने वाले प्रत्यय लगा लेते हैं, तब वे पद कहलाने लगते हैं। पाणिनि ने इसे स्पष्ट करने के लिए ही सूत्र दिया है—

'सुप्तिङन्तं पदम्' (सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्)। सुप् (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण) के प्रत्ययों (ने, को, से, को या के लिए, से, का के की, में या पर) से युक्त तथा तिङ् (विभिन्न लिङ्ग, वचन, पुरुष, काल के अनुसार धातु के रूपों) से युक्त शब्द ही पद कहलाता है। वाक्य में पदों का ही प्रयोग होता है। चीनी आदि जिन भाषाओं में शब्दों के स्थानान्तरण मात्र से अर्थ में भिन्नता आ जाती है, उनमें भी जिन शब्दों का प्रयोग होता है, वे भी पद ही कहलायेंगे; क्योंकि सुबन्त और तिङन्त के प्रत्यय या ध्वनि-संकेत साथ न लगाने पर भी उनकी भावना तो उनमें विद्यमान रहती ही है।

शब्दों के पाँच प्रकार के अर्थ

वाक्यों में शब्द पाँच प्रकार का अर्थ लेकर प्रयुक्त होते हैं—रूढार्थक, भावार्थसिद्ध, शक्तिभावित, कूट तथा औपचारिक।

१. रूढार्थक—जैसे 'बैल' शब्द का अर्थ गाय से उत्पन्न उस पुंजीव से है, जिसका प्रयोग भारत में हल चलाने या गाड़ी खींचने के लिए किया जाता है। यह अर्थ प्रसिद्ध और रूढ होता है। कभी-कभी इस प्रकार के शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं। जैसे 'हरि' शब्द के विष्णु, सर्प, मेढक, हरा, भूरा, पीला, वायु, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, यम, किरण, घोड़ा, शुक, वानर, शिव, ब्रह्मा, अग्नि, कोकिल, हंस, मोर, विद्वान् आदि अनेक अर्थ हैं और इन सभी रूढार्थक शब्दों का अर्थ कोश में दिया रहता है। जैसे—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।।

२. भावार्थ-सिद्ध—कुछ शब्द निरन्तर अभ्यास के कारण भावसिद्ध हो जाते हैं। ऐसी दशा में एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न अर्थों का बोधक हो जाता है। एक सज्जन अपने चार सेवकों को प्रात:काल केवल 'ले

आओ' कहते थे और वे सेवक केवल 'ले आओ' शब्द सुनकर पहले से निर्दिष्ट अपने कर्तव्य के अनुसार क्रमशः नहाने का पीढ़ा, जल भरा पात्र, धोती-तौलिया और सन्ध्या-पूजन की सामग्री लाकर रख देते थे । ऐसे सब आदेश-शब्द अभ्यास-सिद्ध या भावार्थ-सिद्ध होते हैं ।

३. **शक्ति-भावित**—कुछ शब्दों का अर्थ अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तथा तात्पर्याख्या वृत्ति से ही जाना जा सकता है । इन्हें शक्ति-भावित कहते हैं ।

४. **कूट**—किसी विशेष व्यवसाय या राजनीति में गोपनीय संकेतों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द कूट कहलाते हैं । ऐसे शब्दों की न कोई सीमा है, न गणना; क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के कूट शब्द किसी भी ढंग से बना सकता है । जैसे काशी के दलाल कहते हैं—'खाबरी कऽ बरँगा बिलौले आवऽ' (अधेले का पान लगवाते आना) ऐसे शब्द कूट कहलाते हैं ।

५. **औपचारिक**—कुछ शब्द सामाजिक शील के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं । जैसे-पधारने का कष्ट कीजियेगा, मेरी कुटिया पवित्र कीजियेगा ।

निरुक्त के अनुसार चार प्रकार के शब्द

यास्क ने अपने निरुक्त में चार प्रकार के शब्द माने हैं-नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात :

यास्क ने अपने निरुक्त में बताया है कि हम जितने भी शब्दों का प्रयोग अपने व्यवहार में करते हैं, वे सबके सब नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । प्रसिद्ध वैयाकरण इन्द्र का मत है कि शब्द एक ही प्रकार का होता है-'जिसका कोई अर्थ हो, वही शब्द या पद कहलाता है'-**अर्थः पदम्** (अर्थ ही पद है) । आचार्य पाणिनि ने दो प्रकार के शब्द माने हैं-सुबन्त और तिङन्त-**सुप्तिङन्तं पदम्** । जिन शब्दों के पीछे सुप् विभक्ति लगी हो, उन्हें सुबन्त और जिन शब्दों में तिङ् विभक्ति लगी हो, उन्हें तिङन्त कहते हैं । उनका मत है कि नाम और आख्यात के अन्तर्गत सब प्रकार के शब्द आ जाते हैं ।

कुछ आचार्यों का मत है कि शब्द तीन प्रकार के होते हैं-सुबन्त, तिङन्त तथा निपात-उपसर्ग ।

कुछ आचार्यों का मत है कि शब्द पाँच प्रकार के होते हैं–सुबन्त, तिङन्त, निपांत, गति और कर्मप्रवचनीय । कुछ आचार्य इन पाँच प्रकार के शब्दों में उपसर्ग को जोड़कर छः प्रकार के शब्द मानते हैं ।

यास्क ने अपने निरुक्त में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात नामक चार प्रकार के पदों को दो वर्गों में विभक्त कर दिया है । उन्होंने नाम और आख्यात को एक वर्ग में तथा उपसर्ग और निपात को दूसरे वर्ग में रखा है–

नामाख्याते तथा उपसर्गनिपाताः ।

उन्होंने इनमें नाम और आख्यात को प्रधान तथा उपसर्ग और निपात को गौण बताया है । उन्होंने इन चारों की व्याख्या करते हुए इन्हें इस प्रकार समझाया है—

१. नाम पद तीन प्रकार के होते हैं–स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ।

२. आख्यात या क्रियापद भी तीन प्रकार के होते हैं—

(क) कर्तृवाच्य, (ख) कर्मवाच्य और (ग) भाववाच्य ।

३. उपसर्ग पद वे हैं. जो क्रियावाचक शब्द के पहले जुड़कर अर्थ में परिवर्तन ला देते हैं, जैसे हृ धातु में आ, वि, सं लगाकर आहार, विहार, संहार शब्द बन जाते हैं ।

४. निपात पद वे होते हैं, जो दो शब्दों या वाक्यों को मिलाने या उनका सम्बन्ध बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं, जैसे–इव, च, वा, तु, हि आदि ।

इन चारों में नाम और आख्यात का तो अपना निश्चित अर्थ होता है; किन्तु उपसर्ग और निपात का प्रयोग अन्य शब्दों के अर्थ को उद्दीप्त करने, विशिष्ट बनाने या उनका अर्थ परिवर्तित करने के लिए किया जाता है । इसीलिए कहा गया है कि नाम और आख्यात पद तो अपने वाच्य अर्थ के कारण अर्थवान् कहलाते हैं, किन्तु उपसर्ग और निपात पद अन्य शब्दों के अर्थ का द्योतन करने के कारण द्योत्य अर्थवाले कहलाते हैं ।

किसी भी भाषा में जितने प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है, उनमें कुछ शब्द तो वस्तुओं, स्थानों, भावों तथा व्यक्तियों के नाम (संज्ञा) होते हैं । कुछ ऐसे **(क्रिया)** शब्द होते हैं, जो किसी कार्य का बोध कराते हैं । कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जो नामों और क्रिया की विशेषता बतलाने वाले **विशेषण** होते हैं ।

कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जो बार-बार संज्ञाओं की आवृत्ति बचाने के लिए काम में लाये जाते हैं, उन्हें **सर्वनाम** कहते हैं। कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं, जो दो शब्दों या वाक्यों का सम्बन्ध जोड़ने वाले होते हैं, उन्हें **सम्बन्धवाचक** शब्द कहते हैं। ये शब्द सदा एक ही रूप वाले होते हैं और उनमें किसी भी अवस्था में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता, इसीलिए इन्हें अव्यय कहते हैं। आह, वाह, ओह आदि कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं, जो आश्चर्य, सराहना, क्रोध, प्रार्थना आदि के कारण अचानक मुँह से निकल पड़ते हैं, जिन्हें विस्मयादि-बोधक शब्द कहते हैं।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि वागङ्ग या वाणी के अङ्ग (पार्ट्स आफ स्पीच) आठ प्रकार के होते हैं–संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, पर्सर्ग (प्रिपोजीसन), विस्मयादिबोधक (इन्टरजेक्सन), सम्बन्धवाचक (कंजंक्सन)। ये वागङ्ग योरोपीय भाषाओं के वैयाकरण व्यापक रूप से मानते हैं।

तीन प्रकार के पद

अभिनव भरत के अनुसार पद केवल तीन प्रकार के होते हैं–नाम, अव्यय तथा स्वयं स्फुट।

वास्तव में वाणी के सब अंग अर्थात् सभी पद केवल तीन प्रकार के होते हैं–नाम, अव्यय तथा स्वयं स्फुट। नाम के अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति, स्थान, भाव, क्रिया तथा गुण सबके नाम और नाम के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम, सभी का समावेश हो जाता है, जिन्हें यास्क ने अपने निरुक्त में निपात कहा है और जिन्हें सम्बन्ध-वाचक शब्द कहते हैं, उपसर्ग तथा परसर्ग वास्तव में शब्द नहीं हैं। वे तो प्रत्यय हैं, जिन्हें लगाकर पद बनाये जाते हैं। तीसरे प्रकार के शब्द स्वयं स्फुट होते हैं, जो आश्चर्य, क्रोध, प्रशंसा, सराहना या प्यार में अपने आप मुँह से निकल पड़ते हैं। संसार भर की सभी शिष्ट भाषाओं में इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है।

अभिनव भरत का मत है कि जिन शब्दों को क्रिया कहते हैं और जिन्हें यास्क ने अपने निरुक्त में आख्यात माना है, वे भी तो किसी न किसी क्रिया के नाम ही हैं, जैसे 'खाना' किसी वस्तु को मुँह में डालकर और चबाकर निगल जाने, 'पीना' किसी तरल वस्तु को मुख में डालकर घोट जाने और 'सोना'

आँख मूँद कर लेट कर सुध-बुध भूल जाने का नाम ही तो है । इसी प्रकार 'लाल, अच्छा, मीठा' आदि शब्द भी ललाई, अच्छेपन और मिठाई आदि शब्दों से बने हैं, जो गुणों के ही नाम हैं । यही स्थिति क्रिया-विशेषणों की है । जब हम कहते हैं कि 'वह वेग से दौड़ रहा है' तो यहाँ 'वेग' शब्द स्वयं संज्ञा है । इसलिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, भाव, क्रिया या गुण का नाम सब नाम पद ही कहला सकते हैं । इसलिए पद या शब्दों के तीन ही रूप या वागङ्ग मान्य हो सकते हैं–नाम, अव्यय तथा स्वयं स्फुट ।

सम्बन्धक योग और अर्थकर योग

पद के दो अंग माने गये हैं–सम्बन्धक योग और अर्थकर योग । कुछ भाषाओं की ऐसी प्रकृति होती है कि उनमें जब कोई शब्द वाक्य में पहुँचता है, तब वह अपना रूप बदल देता है । जैसे संस्कृत का 'राम:' शब्द सप्तमी के एकवचन में 'रामे' बन जाता है । इसी प्रकार शब्दों के रूप में परिवर्तन करने के लिए प्रयुक्त हुई इन ध्वनियों को सम्बन्धक योग (मॉर्फीम) कहते हैं । इसी सम्बन्धक योग के कारण वाक्य में आये हुए शब्दों का अर्थ स्फुट होता है और वाक्य के शब्दों का परस्पर सम्बन्ध भी ज्ञात होता है । निम्नाङ्कित वाक्य से यह स्पष्ट हो जायेगा ।

श्रीकृष्ण ने अपने मामा कंस को मथुरा में पटक कर मार डाला ।

इस वाक्य में अर्थ देने वाले शब्द सात ही हैं–श्रीकृष्ण, अपना, मामा, कंस, मथुरा, पटकना, मारना । ऐसे शब्दों को अर्थकर योग (सीमेंटीन) कहते हैं । इन सातों अर्थकर योगों वाले शब्दों या अर्थकर योगों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए उनमें जो **सम्बन्धक योग** या उनका सम्बन्ध बत-लाने वाले ध्वनि-सङ्केत जोड़े जाते हैं, उन्हें सम्बन्धक योग कहते हैं । उपर्युक्त वाक्य में ये सम्बन्धक योग निम्नलिखित हैं–ने, को, में, कर, आ । इस क्रम से 'अपना' शब्द से 'अपने' शब्द बन गया और वह बना 'आप' से । इसी प्रकार पटकना से पटककर बना । श्रीकृष्ण के साथ 'ने' कंस के साथ 'को' और मथुरा के साथ 'में' लगा है । मामा शब्द ज्यों का त्यों रह गया है; क्योंकि उसमें सम्बन्धक योग लगाने की आवश्यकता नहीं है । इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ शब्दों से सम्बन्धक योग ऐसे लगते हैं, जो शब्द का रूप बदल देते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो बाहर से जोड़े हुए शब्द जान पड़ते हैं । बहुत से विद्वानों ने नागरी (हिन्दी) के 'ने, के, को, में' को अलग जुड़ा हुआ माना है,

किन्तु ये भी संस्कृत की विभक्तियों के प्रयोग के विकृत रूप हैं, जो स्वयं भाषा में आकर ढल गये हैं, केवल देखने में अलग लगते हैं ।

सम्बन्धक योग के प्रकार

शब्दों में जुड़ने वाले जिन सम्बन्धक योगों से वाक्य में आने वाले विभिन्न शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है, वे पाँच प्रकार के होते हैं—

१. शब्दक्रम, २. ध्वनियोग, ३. शब्दयोग, ४. अपश्रुति और ५. काकु ।

१. शब्द-क्रम—कुछ भाषाओं में किसी शब्द का ठीक रूप और अर्थ इस बात से ज्ञात होता है कि कौन-सा शब्द वाक्य में किस शब्द से पहले या पीछे आया है । जैसे–'राम आम खा रहा है' । यहाँ वाक्य में राम और आम का क्रम देखने से ही उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है ।

२. ध्वनियोग—कुछ भाषाओं में शब्दों के आगे-पीछे नई ध्वनि (पर-सर्ग आदि) लगाकर या उनका रूप बदलकर वाक्य में प्रयोग करने की पद्धति है, जैसे–'इन दि हाउस' (घर में) । इनमें कभी-कभी ऐसे भी शब्द आते हैं, जिनका रूप नहीं बदलना पड़ता । अंग्रेजी में इस प्रकार के कुछ प्रयोग चलते हैं, जैसे–आई डू (मैं करता हूँ), आई से (मैं कहता हूँ) । यहाँ शब्दों के रूपों में कोई परिवर्तन किये बिना ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

३. शब्दयोग—कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो किसी शब्द के साथ अलग लगकर अलग-अलग रहते हुए भी दो शब्दों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं । कुछ विद्वानों ने 'का, की, के, को' आदि परसर्गों या विभक्ति-चिह्नों को भी अलग शब्द मान लिया है, पर ये शब्द नहीं हैं, वरन् सम्बन्ध बतलाने वाले ध्वनि-चिह्न मात्र हैं; किन्तु बहुत से शब्द ऐसे अवश्य होते हैं, जो अलग प्रयुक्त होकर और वाक्य में पहुँचकर दो शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं । जैसे–'सूली ऊपर सेज पिया की' । इस वाक्य में 'ऊपर' शब्द अलग आकर 'सूली' और 'सेज' का सम्बन्ध प्रकट करता है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सम्बन्धक योग दो ही प्रकार के होते हैं–या तो विभक्ति जोड़कर या शब्द जोड़कर । संस्कृत के समान कुछ भाषाओं में विभक्ति और शब्द दोनों लगते हैं । जैसे 'गृहे' और 'गृहमध्ये' । अंग्रेजी के समान कुछ भाषाओं में ये सम्बन्ध स्पष्ट करने वाले शब्द अलग ही

रहते हैं, जैसे–'इन दि हाउस' (घर में) इस प्रयोग में 'इन' और 'हाउस' अलग-अलग शब्द हैं । हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग कभी-कभी चलते हैं, जैसे–जाओ देखो, रसोई-भीतर आदि ।

४. **अपश्रुति**—कुछ लोगों ने अपश्रुति को भी सम्बन्धक योग माना है; किन्तु यह भ्रान्ति है । अपश्रुति तो किसी शब्द के केवल स्वरों में परिवर्तन करके उसका अर्थ बदल देती है । वह न तो दो शब्दों का सम्बन्ध प्रकट करती है, न उसका अर्थ स्पष्ट करती है ।

५. **काकु**—कभी-कभी स्वरों को चढ़ा-उतार कर बोलने से भी शब्द के सम्बन्ध में परिवर्तन हो जाता है । जैसे–'मैं उगाऊँगा' वाक्य में 'उगाऊँगा' शब्द पर बल देकर कहा जाय, तो उसका अर्थ होगा कि 'मैं उगा ही ले जाऊँगा'; किन्तु यदि 'मैं' को खींचकर प्रश्न के काकु के साथ कहा जाय, तो उसका अर्थ होगा कि 'भला मैं कभी इसे उगा सकता हूँ ? नहीं उगाऊँगा' । कभी-कभी इस प्रकार स्वर का खिंचाव नहीं भी होता है, जैसे संस्कृत की क्रियाओं में प्राय: शब्दों के आरोह-अवरोह का कोई महत्त्व नहीं होता; किन्तु नाटकीय प्रयोग में वाचक अभिनय के लिए इस प्रकार का आरोह-अवरोह आवश्यक हो जाता है ।

सम्बन्धकयोग और अर्थकरयोग का सम्बन्ध

सम्बन्धक योग और अर्थकर योग में चार प्रकार का सम्बन्ध माना गया है—

१. कुछ भाषाओं में अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं पहचाना जा सकता है । जैसे–अरबी भाषा में 'तलब' शब्द से 'तालिब' और 'तुलबा' शब्द बन जाते हैं ।

२. कभी-कभी अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों एक शब्द में मिलकर भी अलग-अलग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, जैसे–अंग्रेजी भाषा की क्रियाओं में भूतकाल बताने वाला 'ड', लुक् (देखना) शब्द के साथ मिलकर 'लुक्ड' बन जाता है और इसके अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं ।

३. कुछ भाषाओं में अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों एक-दूसरे से अलग रहते हैं । चीनी भाषा में दो प्रकार के शब्द होते हैं–कुछ पूरे (पूर्ण)

और कुछ रीते (रिक्त) । ये रिक्त शब्द सदा प्रयोग में नहीं आते; क्योंकि चीनी भाषा में शब्दों को इधर-उधर रखने से ही अर्थ में परिवर्तन कर लिया जाता है । जैसे–'यह मनुष्य इस बच्चे को देखता है' के लिए चीनी में कहा जायेगा– 'चे जेन् क अन् चि एन् हुए त्ज' (यह मनुष्य, आँख गड़ाना, देखना बच्चा यह) और 'यह बच्चा मनुष्य को देखता है' के लिए कहेंगे–'चे हुए त्ज क अन् चिएन् जेन्' । (यह बच्चा, यह आँख, गड़ाना, देखना, मनुष्य) ।

४. कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें ये सम्बन्ध स्पष्ट करने वाले सम्बन्धक योग इतने अधिक प्रयोग में आते हैं कि एक के बदले अनेक सम्बन्धक योग एक साथ मिल जाते हैं ।

अभिनव भरत को यह सिद्धान्त मान्य नहीं है । सम्बन्धक योग का काम तो इतना ही होना चाहिए कि वे अर्थ बतलाने वाले शब्दों (वाक्य के शब्दों) का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कर दें । भली-भाँति परीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सम्बन्धक योग (मॉर्फीम) और अर्थकर योग (सीमेन्टीन) दोनों एक-दूसरे से सम्पृक्त होते हैं । शब्द और अर्थ दोनों एक-दूसरे में ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता । विद्वान् लोग जिसे सम्बन्धक योग (मॉर्फीम) कहते हैं, उसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है; क्योंकि विभक्ति (सुप् और तिङ्) लगने पर ही शब्द बनता है और वह विभक्ति लगा हुआ शब्द ही अर्थमय हो जाता है । अर्थात् जिसे वे लोग सम्बन्धक योग कहते हैं, वह कुछ भी नहीं है । शब्द स्वयं अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अपने भीतर या अपने साथ कोई विकृति कर लेता है या ध्वनि जोड़ लेता है । बहुत-सी भाषाओं में सम्बन्धक योग का प्रयोग नहीं होता । अत: सम्बन्धक योग का अस्तित्व स्वीकार पूर्णत: भ्रामक है । सम्बन्धक योग को अर्थकर शब्द के विकार का अंश ही मानना चाहिए, उसे अर्थकर योग या शब्द से भिन्न कोई तत्त्व नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त कभी-कभी तथाकथित सम्बन्धक योग ऐसे छिपे हुए रहते हैं कि प्रयोग न होने पर भी उनका अध्याहार कर लिया जाता है । जब हम कहते हैं–'आपने इसे बहुत सिर चढ़ा लिया है' तब इस वाक्य में सिर का अर्थ है–'सिर पर'; किन्तु वहाँ विभक्ति छिपी हुई है । इसी प्रकार जहाँ समास होते हैं, वहाँ भी सम्बन्धक योग का प्रश्न नहीं उठता । अत: ये सम्बन्ध बताने वाली ध्वनियाँ शब्दों में लगें या न लगें, शब्दों का सम्बन्ध वाक्य में विभिन्न भाषाओं की प्रकृति के अनुसार स्पष्ट होता ही रहता है ।

शब्द

यह बताया जा चुका है कि वर्णों के सार्थक समूह को शब्द कहते हैं । ये शब्द कभी तो अकेले ही अर्थ व्यक्त करते हैं और कभी कई शब्दों के समूह में आने से । इन सब शब्दों के यद्यपि निश्चित या कोश-गत अर्थ होते हैं, तथापि कभी-कभी वक्ता के विचार और प्रवृत्ति के अनुसार तथा श्रोता की बुद्धि के अनुसार बदल भी जाते हैं ।

शब्द-निर्माण

वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही शब्द या पद के अर्थ का समुचित परिज्ञान होता है । जब कोई शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होता है, तब प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगाकर अथवा धातु रूप के अनुसार अपने को ढालकर वाक्य में प्रयुक्त होता है, तब वह पद कहा जाता है, अर्थात् शब्द का वास्तविक स्वरूप वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही जाना जा सकता है । संस्कृत के पण्डित प्राय: कहा करते हैं—

बहुत त्वञ्चाहञ्च न करो ।

इस वाक्य में आए हुए 'त्वञ्चाहञ्च' शब्द में त्वं-च-अहम्-च' चार शब्द हैं, जिनमें 'त्वं' और 'अहं' तो सर्वनाम हैं, किन्तु च अव्यय है, जिसका दो बार प्रयोग हुआ है । इतना होने पर भी ये चारों शब्द मिलकर वाक्य में एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण संज्ञा शब्द बन गये हैं, जिसका अर्थ है 'झगड़ा' या 'टंटा' । इसी का रूपान्तर हिन्दी में 'तू तू-मैं मैं करना' है ।

कभी-कभी लोग कहा करते हैं–'उन्होंने हमारा खेत हथिया लिया है' । यहाँ हाथ शब्द संज्ञा होते हुए भी हथियाना क्रिया के रूप में ढल कर 'हथिया लिया है' के रूप में पहुँच गया । इसी प्रकार जब हम किसी रोगी से कहते हैं–'बहुत आह-ऊह न करो' तब यहाँ 'आह-ऊह' शब्द भी स्वयं स्फुट या अव्यय न होकर 'कराह' का पर्याय बन गया है ।

अत: यह कभी नहीं समझना चाहिए कि कोई शब्द जिस प्रकार कोश में प्रातिपदिक के रूप में लिखा हुआ मिलता है और वहाँ उसका जो व्याकृत रूप (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि) निर्धारित किया हुआ है, वही उसका वास्तविक रूप है । वास्तव में कोई भी शब्द वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही अपना स्वरूप स्थिर कर पाता है । तभी उसके अर्थ और रूप की ठीक पहचान भी होती है ।

धातुमूलक और प्रत्ययमूलक शब्द

शब्द दो प्रकार के होते हैं–धातुमूलक और प्रत्ययमूलक । विश्व की अधिकांश भाषाओं में विशेषत: सैमिटिक और हिन्दी-योरोपीय भाषाओं में शब्दों का निर्माण धातुओं और प्रत्ययों से होता है । चीनी आदि बहुत-सी ऐसी भाषाएँ हैं, जिनमें धातुओं और प्रत्ययों का प्रयोग नहीं होता । संस्कृत आदि भाषाओं में प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर शब्द बनाये जाते हैं, किन्तु अंग्रेजी आदि भाषाओं में उपसर्ग तो लगते हैं, किन्तु प्रत्ययों का प्रयोग और शब्द से पूर्व होता है । अत: उन भाषाओं को छोड़कर हिन्द-योरोपीय परिवार की संस्कृत आदि भाषाओं में जितने शब्द हैं, इनमें अव्ययों को छोड़कर शेष जितने भी शब्द हैं, वे या तो धातुमूलक हैं या प्रत्ययमूलक । वे प्रत्ययमूलक शब्द इतने अधिक हैं कि न उनकी गणना की जा सकती है और न ही उनका विवरण दिया जा सकता है ।

संस्कृत-भाषा में कृत् और तद्धित प्रत्यय

संस्कृत-भाषा में दो प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता है–कृत् प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय ।

संस्कृत आदि कुछ भाषाओं के शब्दों में जिन दो प्रकार के प्रत्ययों से शब्दों का निर्माण होता है, उनमें एक है कृत् प्रत्यय और दूसरा है तद्धित प्रत्यय । इनके अतिरिक्त उपसर्गों के प्रयोग से भी शब्दों का निर्माण होता है, जो मूल धातुओं में लगकर उनका अर्थ ही बदल देते हैं—

उपसर्गेण धात्वर्थः बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ।।

उपसर्ग के प्रयोग से किसी भी धातु का अर्थ बलपूर्वक दूसरा अर्थ देने लगता है, जैसे धातु में प्र, आङ्, सं, वि, परि उपसर्ग लगाने से प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ वाले बन जाते हैं । इस प्रकार के कृत्, उणादि, तद्धित, सुप् और तिङ् आदि बहुत से प्रत्यय या प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नी, अधि, अपि, सु आदि उपसर्ग लगाकर संस्कृत आदि भाषाओं में शब्दों का निर्माण किया जाता है । कभी-कभी कई शब्दों का समास करके भी शब्द बनाये जाते हैं ।

शब्द बनाने के अन्य प्रकार

१. बड़े शब्दों को छोटा कर, जैसे–परशुराम या बलराम का राम ।

२. उत्पत्ति स्थान के आधार पर, जैसे–जलज, सागरसुता, शुक्तिज (मोती), कश्मीरज (केशर), घटयोनि आदि ।

३. स्थान से सम्बन्ध होने के कारण, जैसे–सैन्धव, वाराणसेय ।

४. पिता के नाम पर, जैसे–दाशरथि, पाण्डव आदि ।

५. माता के नाम पर, जैसे–कौन्तेय, गाङ्गेय, सौमित्र ।

६. देश के नाम पर, जैसे–महाराष्ट्री, पंजाबी, भोजपुरी, मैथिली ।

७. नकारात्मक शब्द लगाकर, जैसे–अनल्प, निस्सार, अशक्त ।

८. यदृच्छा शब्द, जैसे–डित्थ, डवित्थ, लल्लू, पप्पू आदि ।

९. समास करके, जैसे–अश्वारोही, पीताम्बर ।

१०. कभी-कभी एक ही भाषा-भाषी लोग एक ही वस्तु के लिए विभिन्न शब्द चला या अपना लेते हैं । अमरीका और इंग्लैण्ड में एक अंग्रेजी भाषा का ही प्रयोग होता है; किन्तु एक ही पदार्थ के लिए वे भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं, जैसे–

इंग्लैण्ड	**अमरीका**
गार्ड (गाड़ी का रक्षक)	कण्डक्टर
ट्राम (बिजली-गाड़ी)	स्ट्रीट-कार
लॉरी (भारवाहिनी)	ट्रक
सेलरी या वेज (वेतन)	स्क्र्यू
वेग्स (झोले)	स्लैक्स
वायरलेस सेट (रेडियो)	रेडियो
डेस्सर्ट (मिठाई)	फ्रूट
स्वीट्स (फल)	डेस्सर्ट

११. कभी-कभी विदेशों में जाकर बसे हुए लोग अपनी भाषा का शब्द छोड़कर वहाँ की भाषा का शब्द अपना लेते हैं, जैसे–बम्बई में जाकर उत्तर-प्रदेश के लोग कोठरी को खोली, चिट्ठी को टपाल, पोथी को चौपड़ी, पक्का करने को नक्की करना, वेतन को पगार और भीड़ को गर्दी कहने लग गये ।

१२. कभी-कभी भाषा में दूसरी भाषा के शब्द ज्यों के त्यों ले लिये जाते हैं । इन शब्दों का निर्माण नहीं होता, ग्रहण होता है । तात्पर्य यह है कि जब विभिन्न भाषा-भाषी किसी कारणवश परस्पर एक साथ रहने लगते हैं, तब उन क्षेत्रों में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का आदान-प्रदान स्वभावत: चलता रहता है ।

कभी-कभी शासकों की भाषा भी शासितों को अपनानी पड़ती है । भारतवर्ष में भी तुर्की, मुसलमानों, अंग्रेजों, पुर्तगालियों, हुलासों (डच) आदि के शासन के कारण उनकी भाषाओं के सहस्त्रों शब्द हमने कुछ तो ज्यों के त्यों ले लिये, जैसे–चश्मा, अखबार आदि और कुछ को हमने अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार ढालकर बना लिया, जैसे–लालटेन (लेष्टर्न) ।

शब्दों के रूपों में परिवर्तन

जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार शब्दों में भी परिवर्तन हो जाता है । यह परिवर्तन निम्नाङ्कित प्रकारों में से किसी एक प्रकार से होता है—

१. शब्दागम—जब किसी शब्द के साथ कोई नया शब्द प्रयुक्त होने लगता है, तब शब्दागम होता है । ये नये आये हुए शब्द तीन प्रकार के होते हैं—

(क) निरर्थकावृत श:ब्द—जब कोई शब्द किसी शब्द के पहले अक्षर को बदल कर दुहरा दिये जाते हैं, वे निरर्थक ही होते हैं, किन्तु उनका प्रयोग आधे मन से या अनिश्चित और विकल्प की दशा में किया जाता है, जैसे—पानी-वानी । मराठी में पानी-येनी, पंजाबी में पाणी-शाणी, बँगला में खाबा-डाबा का प्रयोग होता है । इनमें वानी, येनी, शाणी और डाबा शब्द निरर्थक हैं ।

(ख) दूसरे प्रकार के नये आये हुए शब्द वे होते हैं, जो या तो उस भाषा के पर्याय होते हैं, या उस शब्द के अन्य भाषा के पर्याय होते हैं, जैसे-काम-काज, शादी-व्याह, व्याह-बारात ।

(ग) कभी-कभी एक शब्द पर बल देने के लिए उसी शब्द को दुहरा देते हैं । वीप्सालङ्कार में भी एक ही शब्द की साथ आवृत्ति होती है । जैसे–बार-बार, कभी-कभी, कहीं-कहीं । ये प्रयोग अनिश्चितता की दशा में ही होते हैं ।

२. **शब्द-विपर्यय**—कभी-कभी समस्त पदों में आये हुए शब्दों का भी विपर्यय हो जाता है, जैसे–'दिन-रात' का 'रात-दिन', 'प्रातः-सायं' का 'सायं-प्रातः' ।

३. **शब्द-लोप**—जब दो शब्दों से मिले हुए किसी समस्त पद का एक पद लुप्त हो जाता है, वहाँ शब्द-लोप हो जाता है, जैसे–घुड़सवार के लिए सवार, रामचरितमानस के लिए मानस, मोटरकार के लिए कार ।

४. **शब्द-परिवर्तन**—कभी-कभी भाव-संस्कार के कारण अथवा उसी प्रकार की प्रसिद्ध वस्तु के कारण उस वस्तु का नाम पूर्व प्रसिद्ध वस्तु के नाम पर चल पड़ता है, जैसे–रामचरितमानस को लोग रामायण कहते हैं; क्योंकि वाल्मीकि का 'रामायण' बहुत पहले से प्रसिद्ध रहा है । इसी प्रकार 'भरत-शत्रुघ्न' के बदले उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में भरत के तुक पर 'भरत-शत्रुघ्न' को 'भरत-चरत' कहते हैं ।

५. **शब्दविकार**—कभी-कभी कोई शब्द वक्ताओं की अनभिज्ञता के कारण अथवा श्रोता द्वारा भली प्रकार न सुने जा सकने के कारण अथवा प्रकृति-विकार (अपभ्रष्ट या दुरुच्चारित) हो जाने के कारण विकृत हो जाता है, जैसे–संस्कृत के 'कृषाण' शब्द का विकृत रूप 'किसान' या 'व्रात' का विकृत रूप 'बरात' (बारात) चल पड़ा; किन्तु कृषाण और व्रात को कोई नहीं जानता । कभी-कभी कोई शब्द शुद्ध रूप में उच्चारित करना कठिन होता है, इसलिए उसका विकृत रूप ही चल पड़ता है, जैसे–'रत्न' नाम वाले व्यक्ति को 'रतन' कहकर पुकारने में ही सुविधा होती है ।

शब्दों की गति

शब्दों की गति उनके व्यवहार करने वालों के कारण बड़े विचित्र ढंग से बदलती रहती है ।

कभी-कभी कोई शब्द अपना रूप बदल देता है, जैसे–'हिंस' का 'सिंह' हो गया, कभी लिङ्ग बदल लेता है, जैसे 'आत्मा' और 'साँस' शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने लगे । कुछ शब्द पुंप्रत्ययान्त ही चलते हैं, जैसे–औचित्य । इसका स्त्रीप्रत्ययान्त 'उचितता' नहीं चलता । कुछ के दोनों प्रत्ययान्त चलते हैं, जैसे–माधुर्य और मधुरता, सौन्दर्य और सुन्दरता । कुछ के

स्त्रीप्रत्ययान्त ही चलते हैं, जैसे–दृढ़ता । कुछ शब्दों के तद्भव रूप ही चलते हैं, जैसे-सिर, साँस, कोस आदि । कभी-कभी कुछ शब्द तत्सम में एक लिङ्ग में और तद्भव में दूसरे लिङ्ग में चलते हैं, जैसे श्वास पुंलिङ्ग में और 'साँस' स्त्रीलिङ्ग में चलता है । देवता और व्यक्ति शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग हैं, किन्तु हिन्दी में पुंलिङ्ग ही चलते हैं । कुछ शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में चलते हैं, जैसे–दही । कुछ पुंलिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही चलते हैं, जैसे–आत्मा । बहुत से शब्दों का प्रयोग ही पूर्णतः लुप्त हो गया है और वे केवल कोश में ही रह गये हैं, यहाँ तक कि उनका प्रयोग अशुद्ध समझा जाता है, जैसे–नूत्न । अब केवल नूतन ही चलता है । बहुत से नये शब्द बनाकर चला दिये गये हैं, जिनका प्राचीन कोश एवं व्याकरण के अनुसार अर्थ ही नहीं लगाया जा सकता है । जैसे–आयोग (कमीशन), आयुक्त (कमिश्नर), संविदा (ठेका) ।

कभी-कभी शब्दों के प्रयोग में बहुत-से परिवर्तन अज्ञान के कारण होते हैं, जहाँ उचित शब्दों को न जानकर किसी वस्तु या भाव को समझाने के लिए उस वस्तु के आकार-प्रकार आदि के आधार पर कोई नाम दे दिया जाता है, जैसे–मोरपङ्खी के लिए 'झाऊ' शब्द का प्रयोग ।

कभी-कभी भाव-दारिद्र्य के कारण उचित शब्द न जानने से 'एथी, ए, क्या नाम है कि' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है । कभी-कभी किसी शब्द को न जानते हुए उसे समझाने के लिए व्याख्यात्मक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है–जैसे 'टमाटर' को समझाने के लिए 'लाल-लाल, गोल-गोल, पुल-पुला कहना' । बहुत से स्थानों पर लोगों ने अपनी सुविधा के लिए कुछ वस्तुओं के नाम गढ़ लिए हैं, जो उस भाषा के रूढ़ शब्द से भिन्न होते हैं, जैसे–कैंटन (चीन) के लोग अपनी पिडगिर अंग्रेजी में मच्छर के लिए 'मैस्किटो' न कहकर 'इमलांगा डार्क फेला' (वह लम्बा काला जीव) और 'रेलवे ट्रेन' के लिए 'विग फेला फायर स्केन' (बड़ा भारी आग का साँप) कहते हैं ।

कभी-कभी कवि लोग कोई शब्द सीधे न कहकर उसे घुमा-फिरा कर कहते हैं, जैसे–बादल को तर्वर्यरि-प्रद (तरु-अरि-अरि-प्रद) कहा गया है, अर्थात् तरु का अरि अग्नि, अग्नि का अरि जल और जल का प्रद (देने वाला) बादल । इसका तात्पर्य यह है कि शब्दनिर्माण के दो-चार ही नहीं, अगणित प्रकार हैं ।

शब्द का अर्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः शब्द की निरुक्ति पर विचार करने के पहले अर्थतत्त्व पर विचार करना असङ्गत नहीं होगा। ऐसी मानसिकता को लेकर यहाँ अर्थविज्ञान पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्द-अर्थ का नित्य सम्बन्ध

प्रसिद्ध वैयाकरण इन्द्र ने कहा है 'अर्थवान् पदम्'—जिसका अर्थ हो, उसे पद कहते हैं। सम्पूर्ण वाग्व्यापार किसी न किसी अर्थक संक्रमण के लिए होता है, अर्थात् वक्ता या लेखक जब कुछ कहता है, तब उसका अभिप्राय यह होता है कि श्रोता या सम्बोध्य अथवा पाठक मेरी कही हुई बात का अर्थ समझ ले। इतना ही नहीं, वह यह भी चाहता है कि मेरी बात का, कथन का, लेख का या वाणी का समुचित प्रभाव भी पड़े और श्रोता, सम्बोध्य या पाठक मेरे विचारों से पूर्णतः सहमत हो, तदनुसार आचरण करे अथवा तदनुसार अपनी धारणा बनावे। ऐसी स्थिति में अर्थ का ही वाग्व्यापार में सबसे अधिक महत्त्व है। इसीलिए वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना है। महा-कवि कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में पार्वती और परमेश्वर की वन्दना करते हुए उन्हें वाणी और अर्थ के समान सम्पृक्त माना है, यथा—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। (रघु० १.१)

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता और राम को सम्पृक्त मानते हुए कहा है—

गिरा-अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।

ज्यों ही कोई शब्द किसी के मुँह से निकलता है, त्यों ही उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यह सम्भव है कि वक्ता की बात ठीक न समझने के कारण, अनभ्यास के कारण अथवा अज्ञान के कारण श्रोता या सम्बोध्य उसका उद्दिष्ट अर्थ न समझ पावे, किन्तु वक्ता के मन में शब्द के साथ ही या कभी-कभी कहने से पूर्व ही अर्थ की भावना या अर्थ का रूप मस्तिष्क में स्पष्ट बन जाता है। इसी कारण कहा गया है कि वक्ता अपने श्रोता को दृष्टि में रखकर अपनी भाषा

का स्वरूप प्रस्तुत करता है । इतना ही नहीं, यह क्रिया स्वत: विना प्रयास की होती है । कुछ वक्ता या लेखक किसी विशिष्ट वर्ग या समाज के लिए बोलते या लिखते हैं । उनकी भाषा का अर्थ वह विशिष्ट समाज ही समझ पाता है । अत: भाषा का अर्थ कभी तो व्यापक रूप से किसी एक समुदाय के सब लोगों के समझने योग्य होता है और कभी किसी विशेष वर्ग के योग्य । इसका तात्पर्य यह है कि किसी शब्द या वाक्य का अर्थ सब दशाओं में सर्वबोध्य नहीं होता ।

वाणी भी एक प्रकार का सङ्केत

वाणी भी एक प्रकार का सङ्केत है । कुछ कहने पर उससे जो कुछ समझा जाय, उसे अर्थ कहते हैं । भाषा भी एक प्रकार का सङ्केत है और उससे भी उसी प्रकार अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे किसी अन्य प्रकार के सङ्केत को देखकर या सुनकर । सी० के० औग्डेन और आई० ए० रिचार्ड्स ने 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुए कहा है कि जिन बहुत-सी परिस्थितियों में उस क्रिया या उक्ति का प्रयोग न हो, उससे वे लक्षण न दिखाई पड़ें, तब उन लक्षणों का योग ही अर्थ कहलाता है ।

यहाँ क्रिया या उक्ति का अर्थ केवल बोलना ही नहीं, कुछ होना, समझना चाहिए, अर्थात् यदि कुछ दिखाई पड़ जाय, सुनाई पड़ जाय, पढ़ने में आ जाय, मन में कोई बात उठ खड़ी हो या छूने से, सूँघने से किसी बात का ज्ञान या अनुभव हो जाय या किसी शब्द या वाक्य को सुनकर उससे कुछ समझ लिया जाय या पूरी पुस्तक पढ़कर या किसी की विस्तृत बात सुनकर कोई भावना, विचार या धारणा मन में बैठ जाय, तो उस समझी हुई बात को ही अर्थ कहते हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सङ्केत (देखे, सुने, पढ़े, सूँघे या कहे हुए) से ही हम कुछ समझते, ज्ञान प्राप्त करते, अर्थात् अर्थ निकालते हैं । **'अर्थो भावप्रत्ययः'** भाव का ज्ञान ही अर्थ है ।

भाषण से पूर्व मन की प्रक्रिया

भारतीय भाषा-शास्त्रियों ने विशेषत: पाणिनि ने अपनी शिक्षा में स्पष्ट कर दिया है कि मुख से किसी प्रकार की ध्वनि निकाले जाने से पूर्व अनेक आन्तरिक क्रियाएँ हो चुकी रहती हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम् ।।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
सोदीर्यो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ।।

अर्थात् आत्मा जब बुद्धि के साथ मिलकर उससे कोई अर्थ ग्रहण कर लेता है, तब वह मन को बोलने के लिए नियुक्त करता है । तब मन भी शरीर की अग्नि पर आघात करता है और वह अग्नि फिर शरीर के वायु को प्रेरित करती है । तब वह वायु उरःस्थल में पहुँचकर मन्द-मन्द निर्घोष करके स्वर उत्पन्न करता है । फिर वही वायु ऊपर उठकर मूर्धा की ओर चलकर मुँह में पहुँचकर वर्णों की सृष्टि करता है, जिनके स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान के अनुसार पाँच विभाग किये जाते हैं ।

इस प्रकार भारतीय भाषाशास्त्रियों के अनुसार भाषा-प्रक्रिया का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं, वरन् मन, बुद्धि और आत्मा तीनों से जोड़ा गया है । लियोनार्ड ब्लूमफील्ड ने मानसिकतावादी मनोवैज्ञानिकों का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि वक्ता की वाणी निकलने से पहले वक्ता के मन में देह से भिन्न भीतर मस्तिष्क में एक आन्दोलन होता है, जिसे चिन्तन, विचार, भावना, बिम्ब, अनुभव, सङ्कल्पित कार्य या कुछ ऐसा ही कह सकते हैं । इन मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार भाषा का काम यही है कि वह हमारे मन की इच्छाओं, विचारों और दृढ़ निश्चयों को अभिव्यक्त भर कर दे । उनका यह मत विश्वविख्यात वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यशास्त्री भी मानते हैं । वास्तव में लोगों का यह मान लेना ही तात्पर्यार्थ विज्ञान (सीमेन्टिक्स) का ठीक-ठीक प्रयोजन समझने में सबसे बड़ी बाधा है ।

सङ्केत (साइन) से अर्थ की प्रतीति

जिन अनेक प्रकार के सङ्केतों से किसी बात का परिज्ञान होता है, उन्हें निम्नाङ्कित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, चिन्तन (विचार) ।

सूखे हुए घास के मैदान को देखकर कोई भी समझ जाता है कि यहाँ वर्षा नहीं हुई । मन्दिर के घंटे की ध्वनि सुनकर सब समझ जाते हैं कि आरती

हो रही है । हिना या मेंहदी का इत्र लगाये हुए किसी व्यक्ति के आने पर तत्काल यह ज्ञान हो जाता है कि ये हिना का इत्र लगाकर आये हैं । किसी को नीचे-ऊपर सिर हिलाते हुए देखकर समझ लिया जाता है कि वह अपनी सहमति प्रकट कर रहा है और दायें-बायें सिर घुमाते देखकर समझ लिया जाता है कि वह असहमति प्रकट कर रहा है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सङ्केतों से जो अर्थों का परिज्ञान होता है, वह दो प्रकार का होता है—

१. **इन्द्रियगत**—जिससे (क) या तो किसी वस्तु को देखकर ही अर्थ का परीक्षण होता है, या (ख) किसी का कुछ कार्य, गति या चेष्टा देखकर परिज्ञान होता है या (ग) कुछ लिखित देखकर परिज्ञान होता है । लिखित सङ्केत भी तीन प्रकार के होते हैं-(१) रेखाङ्कित, जैसे बाण की रेखा को देखकर यह परिज्ञान हो जाता है कि बाण के फल के द्वारा क्या सङ्केत किया गया है कि इधर से जाना है या इधर कोई विशेष बात है । (२) चित्राङ्कित, जैसे चित्र को देखकर उसके विषय का ज्ञान हो जाता है । नाव पर चढ़े हुए राम, सीता, लक्ष्मण और केवट का चित्र देखकर कथा का संस्कार होने के कारण यह परिज्ञान हो जाता है कि ये लोग इस नाव पर चढ़कर गङ्गा जी के पार जा रहे हैं, जहाँ से वे वन चले जायेंगे । (३) लिपि, किसी लिपि में लिखे हुए शब्द या वाक्य का अर्थ तभी परिज्ञात होता है, जब पाठक का उस लिपि से परिचय हो ।

२. **विचारगत**—सङ्केतों से प्राप्त होने वाला दूसरे प्रकार का अर्थ वह होता है, जो मन में विचार करने से प्रकट होता है । यह विचारात्मक अर्थ सात प्रकार का होता है—

(क) किसी दृश्य को देखकर उसके परिणाम का विचार करना ।

(ख) स्वयं कल्पना करना या दिवास्वप्न देखना ।

(ग) अपने सम्बन्धियों की अथवा अपनी वस्तु या सम्पत्ति की रक्षा के लिए या उनकी वृद्धि के लिए या कष्ट देने वाले से बदला लेने के लिए चिन्ता करना ।

(घ) कर्तव्य स्थिर करना, जिसे तर्क भी कह सकते हैं । इसके अन्तर्गत कर्तव्य और अकर्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्य, न्याय और अन्याय के दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है ।

(ङ) इच्छा ।

(च) मनन ।

(छ) स्मृति या स्मरण ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी अर्थ के परिज्ञान में दो प्रकार का कार्य होता है—१. इन्द्रियगत ज्ञान और दूसरा विचारगत ज्ञान । इसीलिए अभिनव भरत का मत है—जिन आचार्यों ने वर्ण, पद और वाक्य को स्फोट माना है, उन्हें उन स्फोटों के साथ सङ्केत-स्फोट, रस-स्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रूपस्फोट और चिन्तनस्फोट भी मानना चाहिए; क्योंकि शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और चिन्तन के कारण भी सङ्केतार्थ की प्रतीति होती है; किन्तु वैयाकरणों को तो भाषित और व्याकृत शब्दों का ही व्यवहार करना था । इसीलिए उन्होंने वर्ण, पद और वाक्य-स्फोट की ही चर्चा की और उस फेर में उन्होंने प्रकृति, जीव और ईश्वर को भी ला घसीटा । उन्होंने शब्द की सृष्टि का रचयिता ब्रह्म को माना कि वास्तव में शब्द से ही इस नाम-रूपात्मक जगत् का परिज्ञान हो पाया । संसार से जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है या जिसकी हमें गन्ध मिलती है, उसका यदि नाम न हो, तो एक वस्तु या कार्य को दूसरे से भिन्न समझना कठिन हो जाय । इसीलिए माना गया है कि शब्द-ब्रह्म से ही संसार की उत्पत्ति होती है ।

कोश, शास्त्र और आप्तवचन

कोश, शास्त्र और आप्तवचन से भी अर्थ की प्रतीति होती है । इन्द्रियों या बुद्धि के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसके अतिरिक्त शब्दकोश, शास्त्र, घर के बड़े-बूढ़ों तथा प्राचीनं ऋषियों के वचनों से भी अनेक शब्दों और वाक्यों के अर्थ का परिज्ञान होता है । केवल कोश देखकर ही यह ज्ञान होता है कि 'पारारुक' शब्द का अर्थ चट्टान है, 'भैरव' राग का लक्षण केवल संगीतशास्त्र से ज्ञात होता है, 'पुनर्नवा' के गुण किसी वैद्य से ही जाने जा सकते हैं ।

सत्य, असत्य और सन्देहपूर्ण अर्थ

अर्थों का परिज्ञान तीन प्रकार का होता है—सत्य, असत्य और सन्देह-पूर्ण ।

इन्द्रियों के द्वारा जो अर्थों का परिज्ञान होता है, वह सदा सत्य नहीं होता। वह कभी सत्य, कभी असत्य और कभी सन्देहास्पद होता है। सर्प को देखकर सर्प समझना सत्य अर्थ का परिज्ञान है। रज्जु को देखकर उसे सर्प समझ लेना मिथ्या अर्थ का परिज्ञान है। किसी की विकृत मुखमुद्रा देखकर यह अनुमान लगाना सन्देहास्पद है कि वह किसी से रुष्ट है; क्योंकि पीड़ा के कारण भी वह विकार हो सकता है, स्वभावत: भी हो सकता है और अकारण मुँह बनाने के कारण भी हो सकता है। किसी लम्बी, टेढ़ी, बाँकी पड़ी हुई वस्तु को देखकर यह तर्क भी सन्देहास्पद स्थिति में होता है कि यह सर्प है या रज्जु है या पेटी पड़ी हुई है या काली रेखा है।

अर्थ-परिज्ञान में बुद्धि का योग

बुद्धि और ध्यान का योग होने से अर्थ की प्रतीति होती है। केवल देखने अथवा किसी से पूछने मात्र से ही अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अर्थ के परिज्ञान के लिए एकाग्रता, अवधानता, चेतनापूर्वक ध्यान भी आवश्यक है। कभी-कभी लोग अपनी धुन में मगन चले जाते हैं और मार्ग में होने वाली अनेक घटनाओं या पड़ी हुई वस्तुओं की ओर से पूर्णत: अनभिज्ञ रह जाते हैं। उसका कारण यही होता है कि किसी प्रकार के परिज्ञान के लिए एकाग्रता या उस ओर ध्यान परम आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सब प्रकार के परिज्ञान का निश्चय करने वाली शक्ति हमारी बुद्धि है, वही अर्थ का निश्चय करती है, भले ही वह अर्थ सन्देहपूर्ण क्यों न हो। बुद्धि द्वारा अर्थ की प्रतीति में निम्नाङ्कित ग्यारह साधनों से मुख्य रूप से सहयोग मिलता है—

१. परम्परा—किसी के सिर पर मौर बँधा देखकर समझ लिया जाता है कि यही वर है, जिसका विवाह होने वाला है।

२. प्रतिभा—किसी का उदास मुँह देखकर यह परिज्ञान हो जाता है कि यह विपद्ग्रस्त, चिन्तित, असफल, दु:खी या पीड़ित है।

३. जनसम्पर्क—दलालों के साथ उठने-बैठने से ही यह ज्ञान हो सकेगा कि 'झज्जी' कहने का अर्थ यह है कि वह रूपये टका दलाली चाहता है।

४. भ्रान्ति—कहीं खटपट सुनकर चोर की भ्रान्ति होती है; किन्तु द्वार खोलने पर बिल्ली निकलती है।

५. लोप—जो वस्तु जहाँ होनी चाहिए, वहाँ न मिलने पर समझ लिया जाता है कि उसे कोई उठा ले गया ।

६. अनुमान—धूम को देखकर यह अनुमान लगा लिया जाता है कि वहाँ आग है ।

७. उपमान—समान वस्तु दिखाने या बताने से भी अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे यह कहने पर कि 'शुतुर्मुर्ग' पक्षी ऊँट के समान होता है, इस अर्थ की प्रतीति होती है कि 'शुतुर्मुर्ग' भी ऊँट के समान ऊँचे और लम्बे गले वाला पक्षी होगा ।

८. परिस्थिति या अवसर—जैसे 'तेल तो लाओ' कहने से तेल के प्रकार की प्रतीति उस अवसर या परिस्थिति को देखकर होती है, जिस परिस्थिति में तेल माँगा गया हो, जैसे नहाने के समय माँगने पर उसका अर्थ होगा 'सुगन्धित तेल', करैला छौंकने के समय अर्थ होगा 'सरसों का कड़वा तेल', लालटेन जलाने के समय अर्थ होगा 'मिट्टी का तेल', मोटरगाड़ी चलाते समय अर्थ होगा 'पेट्रोल' और गठिया के लिए अर्थ होगा 'महानारायण तेल' ।

९. स्वतःप्रतीत ज्ञान—कभी-कभी कोई बात संस्कारतः स्वयं प्रतीत हो जाती है, जैसे–स्वतः अकारण यह प्रतीत होगा कि आज मेरा अमुक मित्र आयेगा या कोई विपत्ति आने वाली है ।

१०. अर्थापत्ति—जब किसी एक बात को जान लेने पर उससे दूसरी बात का परिज्ञान होता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं, जैसे–यह जानकर कि यह मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, तो समझ लिया जाता है कि जब यह दिन में न खाने पर भी मोटा है, तब यह निश्चय ही रात में खाता होगा । इसे कुछ विद्वानों ने 'अनुमान' ही कहा है; किन्तु यह अनुमान नहीं 'परिणाम' है ।

११. अभ्यास—अर्थ की प्रतीति अभ्यास से भी होती है, जैसे पीछे बताये हुए सज्जन के पाँच सेवकों को अभ्यास के कारण 'ले आओ' सुनकर अपने-अपने कार्य के अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से साधन यथाप्रसङ्ग और यथावसर अर्थ की प्रतीति में सहायक हो सकते हैं ।

अर्थप्रतीति में भारतीय मत

भारतीय वैयाकरणों ने स्फोट को ही अर्थ-प्रतीति का स्रोत माना है। कुछ लोग अर्थ को स्फोट मानते हैं–'स्फुटति अर्थोऽस्मात्' (इससे जो अर्थ प्रकट हो) उसे स्फोट कहते हैं। कुछ लोग उस वर्ण को स्फोट कहते हैं, जिसमें से अर्थ निकले। 'स्फुटति अर्थो यस्मात्' इस आधार पर वे लोग वर्णस्फोट मानते हैं और कहते हैं कि एक-एक वर्ण या अक्षर से तो अर्थ निकलता है और इन भिन्न अर्थ वाले वर्णों से ही शब्द (पद) बनता है। अभिहितान्वयवाद के प्रवर्तक कुमारिलभट्ट का मत है कि अभिधा के द्वारा शब्द के मुख्य अर्थ का बोध तो हो जाता है; किन्तु वाक्य में आए हुए पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान हुए विना वाक्य के अर्थ का बोध होना सम्भव नहीं है। अत: वाक्य के पदों का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात करके उनके अर्थों का अन्वय करने वाली एक तात्पर्या वृत्ति है, जिससे वाक्य का अर्थ प्रतीत होता है।

प्रभाकरभट्ट आदि अन्वयाभिधानवादी विद्वान् मानते हैं कि वर्ण से नहीं वरन् शब्द या पद से ही अर्थ निकलता है। इनका मत है कि वाक्य में आए हुए शब्दों या पदों के अर्थ में ही वाक्य का अर्थ निहित होता है। ये विद्वान् अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं।

बहुत से विद्वान् इन दोनों सिद्धान्तों को नहीं मानते। वे शब्दों के संग्रह मात्र को वाक्य मान कर कहते हैं कि वाक्य तो शब्दों के अर्थों से भिन्न अपना अलग अर्थ देता है और शब्द का अपना कोई अर्थ नहीं होता; क्योंकि संसार के सभी लोग वाक्यव्यवहार में वाक्य का ही प्रयोग करते हैं, शब्द का नहीं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्फोट को शब्द और ध्वनि को शब्द का गुण माना है। इस ध्वनि को ही वे दो प्रकार का मानते हैं—एक प्राकृत या मौलिक और दूसरा वैकृत या कृत्रिम। इनमें से प्राकृत ध्वनि तो स्वाभाविक और नित्य होती है और वैकृत या कृत्रिम अनित्य होती है।

स्फोट और ध्वनि

भारतीय दार्शनिकों ने शब्द को भी प्रमाण मानते हुए कहा है कि या तो शब्द प्रमाण होते हैं या शब्दों से निर्मित वे वाक्य प्रमाण होते हैं, जिनके शब्द परस्पर मिलकर अर्थ की प्रतीति कराते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शब्दों

के सब अर्थ निश्चित, शाश्वत और ईश्वर-निर्मित हैं । कुछ विद्वान् शब्द को नित्य या शाश्वत मानकर मनुष्य की सृष्टि मानते हैं और कहते हैं कि मनुष्य ने ही उनके अर्थ निश्चित किये हैं । इसीलिए यह माना जाता है कि किसी शब्द का अर्थ शिष्ट जन द्वारा मान्य होने पर ही निश्चित होता है; किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि सबसे महान् तो ईश्वर हैं, वेद ही उस ईश्वर के शब्द हैं—

यस्य निश्वसितं वेदाः, यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

इसलिए वेद ही सबसे बड़े प्रमाण हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।।

अर्थात् धर्म के साक्षात् लक्षण या प्रमाण चार हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने को प्रिय लगने वाली बात ।

इतना ही नहीं, जब कभी श्रुति और स्मृति में भिन्न मत दिखाई पड़े, तब श्रुति को ही प्रमाण माना जाता है—

श्रुतिद्वैधे स्मृतिद्वैधे श्रुतिरेव गरीयसी ।

किन्तु मीमांसक लोग यह नहीं मानते । वे शब्द को नित्य मानते हैं और उनका मत है कि शब्द की समस्त ध्वनियाँ भी नित्य हैं ।

स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध

महामुनि पतञ्जलि ने स्फोट को नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध माना है और कहा है कि यह स्फोट ही वह प्रतिभा या शक्ति है, जो शब्द के अर्थ को प्रकाशित करती चलती है । अर्थ को प्रकाशित करने की यह शक्ति ही ध्वनि कहलाती है । भारतीय वैयाकरणों का मत है कि शब्द स्वयं स्फोट और ध्वनि का सम्मिश्रण है । न स्फोट के विना ध्वनि रह सकती है, न ध्वनि के विना स्फोट रह सकता है । स्फोट ही शब्द है और ध्वनि उसका गुण है । स्फोट ही आकाश है और ध्वनि उसका गुण है । इसलिए स्फोट को शब्द और ध्वनि को अर्थ समझना चाहिए । इसे और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि स्फोट ही प्रकृति (वास्तविक रूप) है और ध्वनि ही उसका प्रत्यय (पहचान) है, स्फोट ही ब्रह्म है और ध्वनि उसकी माया है । स्फोट ही आत्मा है और ध्वनि ही शरीर है; स्फोट है प्रतिभा और ध्वनि है ज्ञान, स्फोट

है परोक्ष या अप्रत्यक्ष और ध्वनि है प्रत्यक्ष, स्फोट है परमाणु और ध्वनि है अणु, स्फोट है अक्षर और ध्वनि है क्षर, स्फोट है नित्य और ध्वनि है अनित्य। इसलिए पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि दोनों को शब्द मानते हुए कहा है कि वे शब्द नित्य, कूटस्थ और अविकारी हैं।

स्फोट और ध्वनि में अन्तर

स्फोट और ध्वनि में अन्तर बताते हुए वैयाकरणों ने कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है। कान से जो कुछ सुना जाय, वह ध्वनि कहलाती है, जैसे 'घोड़ा' शब्द किसी के मुँह से निकलने पर जो दो वर्ण सुनाई पड़े, वही ध्वनि है। इन दो वर्णों का शब्द सुनकर श्रोता अपने पूर्व-ज्ञान या बुद्धि के आधार पर वेग से चलने वाले चार पैरों वाले जीव की प्रतीति कर लेता है। यह प्रतीत होने वाला अर्थ ही स्फोट है। पतञ्जलि का मत है कि अर्थज्ञान के लिए 'स्फोट' और 'ध्वनि' दोनों आवश्यक हैं। जब कोई वक्ता मुँह से 'घोड़ा' शब्द निकालता है, उस समय उसकी बुद्धि में निश्चित घोड़े का रूप ही उससे 'अश्व' शब्द कहलाता है। वह 'अश्व' शब्द ही (जो बोला नहीं गया) स्फोट है और वह स्फोट ही मुँह से बोला जाने वाला 'अश्व' ध्वनि का कारण है। जब श्रोता उस वक्ता के मुँह से 'अश्व' ध्वनि सुनता है, तब वह ध्वनि श्रोता की बुद्धि में स्थित अश्व के स्फोट को (अश्व शब्द के अर्थ को) प्रकट कर देता है। इस प्रकार किये हुए स्फोट से ही अर्थ का ज्ञान होता है। भारतीय वैयाकरण यह भी मानते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ के सूचक वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्द अथवा उनकी जाति को ही स्फोट कहते हैं। अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्द ही स्फोट है। बहुत तर्क और विचार करने पर अधिकांश भारतीय वैयाकरणों का यही मत स्थिर हुआ कि वाक्य स्फोट ही प्रधान और कूटस्थ है।

जिन (अभिहितान्वयवादी) वैयाकरणों ने वाक्य से ही अर्थ की प्रतीति मानी है, वे छः प्रकार के वाक्य का अर्थ मानते हैं। वे हैं–प्रतिभा, संसर्ग, विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ, संश्लिष्ट अर्थ, क्रिया और प्रयोजन।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

मीमांसकों का कथन है कि जिस बात को कोई नहीं जानता, वह बात उसे ज्ञात करा देने या समझा देने का काम शब्द करता है, इसलिए वह स्थायी प्रमाण है, स्वतः सिद्ध है तथा अव्यतिरेक और अव्यभिचारी है। जैमिनि ने

शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना है । ज़हाँ शब्द होगा, वहाँ अर्थ होगा और जहाँ अर्थ होगा, वहाँ शब्द भी रहेगा । जब इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है, तो इनका बोध्यबोधक सम्बन्ध भी नित्य है । जैमिनि ने स्वयं इस प्रश्न पर छः आपत्तियाँ खड़ी कीं और फिर उनका स्वयं समाधान किया, वे आपत्तियाँ हैं—

१. गौतम और कणाद का कथन है कि शब्द तो एक क्षणिक बोलने की क्रियामात्र है, जो एक विशेष प्रकार से मुख और जीभ चलाने और डुलाने से पूर्ण होती है । इसलिए उन क्रियमाण शब्द के बोले जाने से पहले वह शब्द नहीं रहता, बोलने के पश्चात् ही प्रकाशित होता है । उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता । इसलिए क्रियमाण और अनित्य का परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है ।

इसका उत्तर देते हुए जैमिनि ने कहा है—नित्य और निराकार शब्द को भी बोले जाने से पहले कोई नहीं जानता, इसलिए वह नित्य ही है ।

२. शब्द अस्थिर होता है; क्योंकि वह प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में विद्यमान रहता है और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है ।

समाधान—कोई शब्द नष्ट नहीं होता । वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, केवल सुनने में नहीं आता । इसलिए वह नित्य है ।

३. **प्रश्न**—प्रायः लोग कहते हैं कि 'शब्द मत करो' । इसका अर्थ है कि मनुष्य ने शब्द की रचना की है । ऐसी स्थिति में वह नित्य कैसे हो सकता है ।

उत्तर—'शब्द करो' या 'शब्द न करो' ऐसा केवल ध्यान दिलाने के लिए कहा जाता है, शब्द के लिए नहीं ।

४. अनेक स्थानों पर अनेक व्यक्ति एक ही शब्द बोलते और सुनते हैं । यदि शब्द एक और नित्य होता, तो एक साथ बहुत से स्थानों पर कैसे बोला और सुना जा सकता है ।

समाधान—जैसे एक ही सूर्य अनेक स्थानों पर दिखाई पड़ता है, वैसे ही नित्य वर्तमान शब्द भी एक साथ बहुत स्थानों पर बोला और सुना जा सकता है ।

५. व्याकरणों और भाषाओं के अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि वाक्य में पहुँचने पर (प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगने पर) शब्द विकृत होकर प्रयुक्त होते हैं। यदि शब्द भी नित्य होता, तो उसमें विकार कैसे आता।

समाधान—व्याकरण के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त होने पर प्रत्यय आदि लगने से शब्द में विकार नहीं आता, क्योंकि शब्द और प्रत्यय दोनों अलग-अलग बने रहते हैं।

६. शब्द ऊँचा और नीचा सुनाई पड़ता है। यदि बोलने वाले अधिक हों, तो शब्द ऊँचा हो जाता है, कम हों, तो नीचा हो जाता है। जिस पदार्थ में इस प्रकार घटना-बढ़ना होता हो, वह नित्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऊँचा या नीचा बोलने से शब्द नहीं, वरन् स्वर ही घटता-बढ़ता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जैमिनि के अनुसार शब्द और अर्थ नित्य हैं और उनका सम्बन्ध भी नित्य है।

अर्थ-परीक्षण के तीन आधार

अर्टल का मानना है कि अर्थ के परीक्षण में तीन ही बातों का विचार करना चाहिए—

१. किसी भाषा में उस भाषा के बोलने वाले अपने मन के भाव और विचार किन साधनों से दूसरों को समझाते हैं ?

२. शब्द के एक रूप के कितने अर्थ हो सकते हैं ?

३. एक ही अर्थ कितने विभिन्न रूपों में प्रकट होता है ? मन, बुद्धि, समाज और प्रसङ्ग या परिस्थिति का अध्ययन भी अर्थ-परीक्षण के लिए आवश्यक है।

अभिनव भरत का मत है कि अर्थ-परीक्षण के लिए केवल उपर्युक्त तीन पक्ष ही पर्याप्त नहीं हैं। उसके साथ मनुष्य की बौद्धिक योग्यता, परिवेश तथा प्रसङ्ग का भी परीक्षण करना चाहिए। भारतीय वैयाकरणों और मीमांसकों ने जितनी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ अर्थ का जितना परीक्षण किया है, उतना अभी योरोप में नहीं हो पाया है।

निरुक्त और व्याकरण में भी संस्कृत भाषाशास्त्रियों ने अर्थ का परीक्षण किया है; किन्तु उनकी पद्धति भिन्न है । निरुक्त में तो यह विवरण दिया गया है कि वेद में प्रयुक्त शब्द किस प्रकार बने और कहाँ किस अर्थ में उनका प्रयोग हुआ ? व्याकरण में यह बताया गया है कि शब्द कैसे बनते हैं और किस क्रम, रूप या प्रकार से वाक्यों में उनका प्रयोग होता है । इस प्रकार निरुक्त और व्याकरण दोनों में अर्थ का परीक्षण नहीं किया जा‾ । यह कार्य तो तात्पर्य-परीक्षाविज्ञान (साइन्स आफ मीनिंग) के अन्तर्गत ह। होता है ।

अर्थ का परिज्ञान

आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' नामक अपने ग्रन्थ में अर्थ-परिज्ञान के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के बारह मत गिनाये हैं—

१. अर्थ का आकार नहीं होता ।
२. अर्थ का आकार होता है ।
३. अर्थ अवयवी है, जो बहुत से अवयवों या आकारों से मिलकर बनता है ।
४. अर्थ असत्य और अनित्य होता है और वह वस्तुओं की जाति, गुण या क्रिया के संसर्ग से रूप ग्रहण करता है ।
५. अर्थ तो असत्याभास सत्य है ।
६. अर्थ अध्यासरूप (धोखा) होता है ।
७. अर्थ में सब शक्ति नहीं होती ।
८. अर्थ परिवर्तनशील है ।
९. अर्थ में सब शक्ति होती है ।
१०. अर्थ तो बौद्ध (बुद्धि से समझा जाने वाला) होता है ।
११. अर्थ बुद्धि से समझा जाता है और बाह्य साधनों से भी ।
१२. अर्थ निश्चित नहीं होता ।

इन बारह मतों की गणना कराकर भर्तृहरि ने बताया है कि वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, तब वह उसका जो अर्थ ठीक समझता है, उसी अर्थ में बोलता है, किन्तु श्रोतागण अपनी-अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार उसका अलग-अलग अर्थ समझते हैं । ये श्रोता लोग भिन्न ज्ञान और भिन्न वासना के कारण एक ही वस्तु को भिन्न समझते हैं । इतना ही नहीं, भिन्न काल और भिन्न

व्यवस्था के कारण भी एक ही व्यक्ति एक ही वस्तु को भिन्न रूपों में देखने लगता है। इससे भर्तृहरि ने यह परिणाम निकाला कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता, उसका ज्ञान अधूरा और अव्यवस्थित होता है। इसलिए वह जो कुछ बोलता है, वह सब अव्यवस्थित, प्रभावपूर्ण और अपूर्ण होता है।

भर्तृहरि और पुण्यराज ने अर्थ के परिज्ञान के सम्बन्ध में कुछ और भी नये तथ्य प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं कि अर्थ का कोई निश्चित रूप नहीं होता। वक्ता अपने शब्दों का जैसा अर्थ समझता है, वही उसका अर्थ होता है, यहाँ तक कि एक शब्द को एक प्रकार से व्यवहृत करके एक वक्ता एक वाक्य कहता है, दूसरा वक्ता उसी शब्द का दूसरे रूप में प्रयोग करके दूसरे अर्थ की प्रतीति करा देता है। कोई भी शब्द कभी अपने अर्थ का परित्याग नहीं करता है। वह दूर-दूर से अर्थ का सङ्केत भर देता है।

भर्तृहरि और हेलाराज ने यह भी कहा है कि शब्द से ही अर्थ का प्रसार और उसके अर्थ का ज्ञान होता है, यहाँ तक कि अक्षिनिकोचन (आँख मारने) से भी जो अर्थ बताया जाता है, वह भी शब्द के आश्रय से ही बताया जाता है; किन्तु आचार्य सीताराम चतुर्वेदी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यद्यपि व्यवहार से सङ्केत शब्दों के आधार पर नहीं बना। सङ्केत के बहुत बाद में भाषा आयी। भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि अर्थ तो काल्पनिक होते हैं। इसलिए वे सत्य नहीं होते और इसीलिए शब्द का अर्थ असत्य होता है।

भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि अर्थ बदलता रहता है। वक्ता उसे जिस उद्देश्य से चला दे, वही उसका अर्थ हो जाता है। सीरदेव ने 'परिभाषावृत्ति' में अर्थ को तीन प्रकार का माना है—

१. लौकिक अर्थ—यह अर्थ कभी शब्द में नहीं रहता, अर्थात् वाक्य सुनने से किसी कार्य में जो प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है, उसी को अर्थवान् कहते हैं। यह प्रवृत्ति या निवृत्ति वाक्य में ही होती है। इसलिए कोई वाक्य सुनने पर उसका जो तात्पर्य समझ में आवे, उसे ही लौकिक अर्थ कहते हैं।

२. अन्वय-व्यतिरेक-समाधिगम्य अर्थ—किसी वाक्य के शब्दों को अलग-अलग तोड़कर और उनका पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने पर जो अर्थ निकले, उसे अन्वयव्यतिरेक-समाधिगम्य अर्थ कहते हैं। इस पद्धति से यह ज्ञात

किया जाता है कि जो बात कही गयी है, उसके अर्थ में कितने शब्दों का अपना अर्थ है और कितना अर्थ उनमें जुड़े हुए प्रत्ययों का है ।

३. **प्रतिभा-ज्ञापित अर्थ**—यह अर्थ न तो लोक-प्रचलित होता है और न शब्दों को तोड़कर ही निकाला जा सकता है । प्रसिद्ध आचार्यों ने जिस विशेष अर्थ में समझा या पढ़ा है, वह प्रतिभा-ज्ञापित अर्थ कहलाता है ।

अर्थ के प्रकार

भर्तृहरि ने अर्थ के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है, उसकी व्याख्या करते हुए पुण्यराज ने अट्ठारह प्रकार के अर्थ बताये हैं—

१. **वस्तुमात्र या बाह्यरूप**—जब हम किसी वस्तु को शब्दों के द्वारा समझाना न चाहते हों और उसका रूप भर दिखा देते हों, वह वस्तुमात्र होता है । जैसे किसी को रेडियो दिखाकर कहना 'यह उठा लाओ' तो वह वस्तु-मात्र अर्थ जानेगा, उसका नाम या काम कुछ नहीं जान सकेगा ।

२. **अभिधेय**—जब बाह्य अर्थ समझाना पड़ जाय, तब वह अभिधेय (बोध्य या वाच्य) कहलाता है, जैसे-'काला घोड़ा ले आओ' ।

३. **शास्त्रीय**—वह जो शास्त्रों से समझाया जाय, जैसे-'प्रातिपदिक' शब्द का अर्थ ।

४. **लौकिक**—जो लोगों की सामान्य बोल-चाल में समझा जाता हो, जैसे 'उठाईगीर' शब्द ।

५. **विशिष्टावग्रह-सम्प्रत्यय हेतु**—जो अर्थ किसी कृत्रिम रूप में सामने दिखाया जाय, जैसे-नाटक में कंस को मारते समय यह कहना कि 'कृष्ण अब कंस को मार रहे हैं' यहाँ नाटक के कृत्रिम या असत्य रूप में एक प्राचीन सत्य घटना लाकर दिखाई गयी है, इसलिए 'कंस को अब मार रहे हैं' अर्थ विशिष्टावग्रह-सम्प्रत्यय हेतु कहलाता है ।

६. **वास्तविक**—जैसे-'श्वेत गाय' जो ज्यों की त्यों सचमुच हमारे सामने ही है ।

७. **मुख्य**—अभिधा शक्ति से जो अर्थ समझ में आये, उसे मुख्य अर्थ कहते हैं ।

८. **परिकल्पितरूप विपर्यास**—जिसमें कोई नया अर्थ निकालने के लिए किसी शब्द का सत्य या अप्रचलित अर्थ जान-बूझकर बदल दिया जाय, जैसे—'वह बैल है' बैल का अर्थ तो 'हल चलाने वाला' गौ का वत्स, सींग, पूँछ वाला चौपाया होता है, पर यहाँ बोलने वाले ने मूर्ख के अर्थ में प्रयुक्त किया है । लक्षणा या व्यञ्जना से जो अर्थ निकाले जाते हैं, वे सब परिकल्पितरूप विपर्यास अपने मन से किये हुए अर्थ के उलट-फेर वाले कहलाते हैं ।

९. **व्यपदेश्य**—जिसका विवरण दिया जा सके । जैसे–संसार के सभी प्रत्यक्ष पदार्थ ।

१०. **अव्यपदेश्य**—अपनी इन्द्रियों से जो न जाना जा सके, उस अर्थ को अव्यपदेश्य कहते हैं, जैसे–ब्रह्म ।

११. **सत्त्वभावापन्न**—जो वस्तुएँ विद्यमान (सत्) हों, उनकी जानकारी जिससे हो सके, उस अर्थ को सत्त्वभावापन्न कहते हैं ।

१२. **असत्त्वभूत**—जो वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं, उनकी जानकारी जिस अर्थ से होती हो, उसे 'असत्त्वभूत' कहते हैं ।

१३. **स्थिर लक्षण**—जो अर्थ सदा एक-सा रहे और उसमें कभी परिवर्तन न हो ।

१४. **विवक्षाप्राप्ति-सन्निधान**—जब बोलने वाले की इच्छा जानने पर कोई अर्थ समझ में आये, वह 'विवक्षा-प्राप्ति-सन्निधान' कहलाता है । यह अर्थ बदलता रहता है, अनिश्चित होता है और कभी स्थिर नहीं होता ।

१५. **अभिधीयमान**—जो अर्थ सामने कहकर और सङ्केत करके बताया जाय, जैसे–'राम का घोड़ा' । यह अभिधीयमान अर्थ है ।

१६. **प्रतीयमान**—व्यञ्जना या ध्वनि से जो अर्थ समझा जाय, उसे प्रतीयमान कहते हैं ।

१७. **अभिसंहित**—जब किसी शब्द से किसी जाति या व्यक्ति का सीधा-सीधा परिचय प्राप्त होता है, तब वह अर्थ अभिसंहित होता है, जैसे–'कमल' ।

१८. **नान्तरीयक**—वह अर्थ जो अपने आप किसी के परिचय के साथ सम्बद्ध रहता है, उसे 'नान्तरीयक' अर्थ कहते हैं, जैसे–'मेरी गौ' कहने से उसके श्वेत, काले, पीले या लाल रंग की भी जानकारी हो जाती है ।

पतञ्जलि के मत में अर्थ-प्रकार

महामुनि पतञ्जलि ने शब्द और अर्थ को सम्पृक्त मानकर उसके दो अङ्ग बताये हैं–१. शब्द का रूप और २. उसका अर्थ। उदाहरण के लिए किसी ने कहा–'चाल'। यह शब्द 'चलने' से बना है। यहाँ चाल शब्द केवल शब्द के रूप में आया है, चलने की विधि के लिए नहीं; किन्तु यदि यह कहा जाता–'घोड़े की चाल अच्छी है', तब चाल शब्द का अर्थ चलने का ढंग होता। पतञ्जलि का कथन है कि कोई शब्द सुनते ही पहले उस शब्द के रूप का ज्ञान होता है, और उसके पश्चात् अर्थ का। यदि शब्द ठीक प्रकार से श्रवण न हो पाये, तो अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती। उन्होंने चार प्रकार के शब्द माने हैं। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य।

१. जाति, जैसे 'गौ' कहने से गो-जाति का जीव समझा जाता है।
२. गुण, जैसे–'काली' कहने से गाय का गुण समझा जाता है।
३. क्रिया, जैसे–'चलना' कहने से चलने की क्रिया का ज्ञान होता है।
४. द्रव्य, जैसे–'कलम' और 'राम' कहने से द्रव्य या व्यक्ति समझा जाता है।

चरक के अनुसार अर्थ-प्रकार

चरक ने अपने ग्रन्थ के विमान-स्थान में शब्द के चार प्रकार माने हैं–

१. दृष्टार्थ—जिसका अर्थ स्पष्ट दिखाई पड़े, जैसे–अग्नि को देखते ही यह अर्थ प्रतीत हो जाता है कि अग्नि जलाती है।

२. अदृष्टार्थ—जिसका अर्थ प्रत्यक्ष न दिखाई पड़े, जैसे–'मुक्ति', क्योंकि 'मुक्त होना' दिखाई नहीं पड़ता।

३. सत्य—वह अर्थ, जिसे शब्द मान लें, जैसे–सूर्य का उदय पूर्व में होता है।

४. अमृत—वह अर्थ, जो पूर्णतः अविश्वसनीय और मिथ्या हो, जैसे–सूर्य का उदय पश्चिम में होता है।

रिचार्ड्स के अनुसार अर्थ के प्रकार

आई० ए० रिचार्ड्स ने अर्थ के प्रकारों की व्याख्या करते हुए कहा है कि किसी की बात सुनकर उसका अर्थ चार रूपों में समझा जा सकता है—

१. भाव (सेन्स)—अर्थात् वह क्या कहना चाहता है ।

२. संवेदन (फीलिंग)—अर्थात् वह किस भावना के साथ कहना चाहता है ।

३. काकु (टोन)—अर्थात् वह किस स्वर (प्रश्न, सन्देह, आश्चर्य, क्रोध आदि) में कह रहा है ।

४. उद्देश्य (इन्टेन्शन)—अर्थात् वह क्यों कुछ कह रहा है ।

अभिनव-भरत का मत

अर्थ सदा बुद्धिगम्य, सत्य, मिथ्या, सन्देहपूर्ण या परिवर्तनशील होता है तथा वक्ता, श्रोता और विद्वानों की प्रतिभा के अनुसार रूप ग्रहण करता चलता है ।

उपर्युक्त अर्थ के सम्बन्ध विचार से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सङ्केत से ही अर्थ निकलता है, वह सङ्केत चाहे जिस प्रकार का हो । बुद्धि से जो प्रतीत हो, वही अर्थ होता है; क्योंकि अर्थ का ज्ञान बुद्धि से ही होता है । बुद्धि के द्वारा समझे जाने वाले अर्थ सत्य, असत्य या सन्देहपूर्ण हो सकते हैं और अन्तिम बात यह है कि अर्थ बदलते रहते हैं । इतना ही नहीं, वक्ता एक भाव मन में लेकर कुछ कहता है और श्रोता या पाठक अपनी बुद्धि के अनुसार या तो उसे ठीक समझते हैं या कुछ अन्य समझते हैं । कुछ ऐसे पण्डित भी होते हैं, जो अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ऐसे विचित्र अर्थ निकाल लेते हैं, जो वक्ता का उद्दिष्ट नहीं होता । अत: आचार्य चतुर्वेदी का मत है कि वक्ता, श्रोता और विद्वानों की प्रतिभा के अनुसार अर्थ का रूप बदलता चलता है ।

पाँच प्रकार के अर्थ

उपर्युक्त अर्थसम्बन्धी विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं—

१. वक्तृ-भावस्थ—वक्ता या लेखक के मन में किसी कथन या लेखन के विषय में जो भाव होता है और जिसे वह अनलंकृत, स्पष्ट और अगूढ़ रूप से बोलता या लिखता है, वही सच्चा अर्थ होता है और वही वक्ता का इष्टार्थ कहलाता है । इसी का एक दूसरा रूप होता है, जिसे प्रत्यक्षार्थ कहते हैं, जिसमें कहने वाला अपने मन में कुछ रखकर सामने कुछ कहता है और इस कहे हुए

का अर्थ दृष्टार्थ से भिन्न होता है । इसी का तीसरा रूप परोक्षार्थ होता है, जब कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष निन्दा करता हो, जिसका अर्थ निन्दापरक हो (व्याज-निन्दा) ।

२. **व्यंग्य**—जब वक्ता या लेखक इस प्रकार वाणी का प्रयोग करता है कि उसमें कुछ ऐसा दूसरा अर्थ दिया रहे, जिसे कुछ विशेष समझने वाले ही समझ पायें, वह व्यङ्ग्य कहलाता है । अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलङ्कारों से इसी अर्थ की प्रतीति होती है । विपरीत-लक्षणा में भी यही व्यंग्यार्थ प्रधान होता है ।

कभी-कभी कहने या लिखने वाले के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होने से भी अर्थ की भावना में अन्तर पड़ जाता है, जैसे किसी अधीन कर्मचारी को कोई प्रलेख फिर से लिखकर लाने के लिए तीव्र स्वर में कहा जाय, तो वह मन में यही समझेगा कि मुझे निकम्मा समझा गया । यदि यही बात चपरासी के द्वारा कहलाई जाय, तब तीव्र स्वर के अभाव के कारण यही समझेगा कि मुझे फिर से लिखना है । इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रवण और परोक्ष श्रवण से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है ।

३. **श्रोत्र-गृहीत**—वक्ता या लेखक के कुछ कहने या लिखने पर यह आवश्यक नहीं है कि श्रोता उसका उद्दिष्ट अर्थ ठीक समझ ही ले । श्रोता जो अर्थ ग्रहण करता है, वे तीन प्रकार के होते हैं–शुद्धार्थ, अशुद्धार्थ और विशिष्टार्थ ।

(क) शुद्धार्थ—वह अर्थ जो वक्ता या लेखक का वास्तविक उद्दिष्ट अर्थ हो, उसे शुद्धार्थ कहते हैं । शुद्धार्थ तीन प्रकार के होते हैं–योग्यार्थ, प्रसङ्गार्थ और आप्तोपदिष्टार्थ ।

(ख) अशुद्धार्थ—श्रोता द्वारा समझा हुआ अशुद्ध या विपरीत अर्थ ।

(ग) विशिष्टार्थ—तीसरे विशिष्टार्थ वे होते हैं, जो वक्ता या लेखक के इष्टार्थ से भिन्न श्रोता जान-बूझकर दूसरे अर्थ में ग्रहण करे । वक्ता को मूर्ख बनाने या तङ्ग करने के लिए ऐसा किया जाता है । काकु-वक्रोक्ति या श्लेष-वक्रोक्ति में यही होता है । जैसे—

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नीलकण्ठः प्रियेऽहं
केकामेकां कुरु पशुपतिर्नैव दृश्ये विषाणे ।
स्थाणुर्मुग्धे न वदति तरुर्जीवितेशः शिवायाः
गच्छाटव्यामिति हतवचाः पातु वश्चन्द्रचूडः ।।

द्वार खटखटाने वाले शङ्कर से पार्वती ने भीतर से पूछा–आप कौन हैं ? शङ्कर ने कहा–मैं हूँ शूली (त्रिशूल वाला) । पार्वती ने पीड़ा वाला अर्थ लेकर कहा–तो जाकर औषधि ढूँढो । शङ्कर ने कहा–प्यारी ! मैं नीलकण्ठ (नीले कण्ठवाला हूँ) । मोर अर्थ ग्रहण कर पार्वती ने कहा–एक केका वाणी सुनाओ । शङ्कर–मैं पशुपति (प्राणियों का स्वामी) हूँ । पार्वती–पर आपके सींग तो दिखाई नहीं देते । शङ्कर–मैं स्थाणु (सदा स्थित या ठूँठ) हूँ । पार्वती–पर ठूँठ तो कभी बोलता नहीं । शङ्कर–मैं शिवा (पार्वती या सियारी) का पति हूँ । पार्वती–सियारी का पति अर्थ लेकर कहती हैं–तो जङ्गल में जाकर घूमो । पार्वती के इस प्रकार कहने पर कोई उत्तर न दे सकने वाले शङ्कर सबकी रक्षा करें । ये शिष्ट अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं–सत्य और असत्य । कभी-कभी वक्ता तो व्यङ्ग्य में प्रशंसा करता है; किन्तु श्रोता उसे सत्य समझ बैठता है, जैसे–'वाह ! कवि जी ! क्या कहने' का सत्य अर्थ यह है कि आप मूर्ख हैं, कविता बन्द कीजिए; किन्तु कवि जी उसका असत्य अर्थ यह समझ बैठते हैं कि हमारी प्रशंसा हो रही है ।

४. सन्दिग्ध—ऐसा अर्थ या तो स्पष्ट नहीं होता या जिसकी निश्चितता सन्दिग्ध रहती है । जैसे–किसी को चार काम बताये गये हों और उसके लौट कर आने पर पूछा गया हो–'कहिए कर आए', तो उसके मन में संशय होता है कि किसके सम्बन्ध में पूछ रहे हैं । यही संशयपूर्ण या सन्दिग्ध अर्थ होता है ।

५. आरोपित—जब विद्वान् लोग अपने पाण्डित्य के बल पर कोई विशेष चमत्कारपूर्ण अर्थ निकाल लेते हैं, उसे आरोपित कहते हैं, जैसे–रामचरितमानस के कथाकार व्यास ऐसे अर्थों की उद्भावना करते हैं, जो गोस्वामी तुलसीदास जी की कल्पना में भी नहीं थी ।

अर्थ-परिवर्तन के प्रकार

यद्यपि अर्थ तो वाक्यों से ही प्रकट होता है; किन्तु वाक्य में आए हुए पदों का भी अपना विशिष्ट अर्थ होता है । इसलिए पद और वाक्य दोनों के अर्थों में होने वाले परिवर्तनों पर विचार किया जा रहा है ।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार अर्थों में निम्नाङ्कित प्रकार से परिवर्तन होते हैं—

अपकर्षश्चोत्कर्षौ विस्तारादेशभावसङ्कोचाः ।
विनिमयविसर्पणौ चेदर्थारोपो हि परिवृत्तिश्चार्थे ।।

अर्थात् अर्थ में परिवर्तन लाने वाले अपकर्ष, उत्कर्ष, अर्थविस्तार, अर्थ-सङ्कोच, अर्थान्तरण या अर्थादेश, अर्थविनिमय, अर्थविसर्पण और अर्थारोप होते हैं ।

१. अर्थापकर्ष

कोई शब्द जो पहले अच्छे अर्थों में प्रयुक्त होता था, वह यदि पीछे चलकर बुरे अर्थों में प्रयुक्त होने लगे अथवा एक स्थान पर जो शब्द अच्छे अर्थ में आता हो, वह दूसरे स्थान पर बुरे अर्थ का द्योतक हो जाय, वहाँ अर्थापकर्ष होता है, जैसे–'भइया' शब्द उत्तर-प्रदेश और बिहार में स्नेही, बन्धु-बान्धव के अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु सिन्ध, गुजरात और मुम्बई में 'सेवक' या छोटा काम करने वाले का अर्थ देता है । पहले बौद्ध शब्द 'बुद्ध के अनुयायियों के लिए आदरार्थ-प्रयुक्त होता था; किन्तु उसका अपभ्रष्ट शब्द 'बुद्ध' अब 'मूर्ख' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । वही बुद्धू का रूप ले लिया है । पहले 'नग्न' और 'लुञ्चित' शब्द जैन साधुओं के लिए आदरार्थ-प्रयुक्त होते थे; किन्तु उसका अपभ्रष्ट रूप 'नंगा-लुच्चा' अब बुरे अर्थ में ही आता है ।

२. अर्थोत्कर्ष

कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनका पहले तो बुरे अर्थ में प्रयोग होता था; किन्तु पीछे चलकर अच्छे अर्थ में प्रयोग होने लगा, जैसे–'साहसी' शब्द का अर्थ पहले 'डाकू, हत्यारा, चोर, जार और दुष्कर्मी' था; किन्तु अब इसका अर्थ हो गया है 'वीरतापूर्ण और सङ्कटपूर्ण कार्य करने वाला' ।

३. अर्थ-विस्तार

कुछ शब्द पहले किसी एक निश्चित पदार्थ या अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होते थे; किन्तु आगे चलकर उस जाति के अन्य सब पदार्थों के लिए होने लगे । जैसे–'तेल' शब्द का अर्थ तिल पेरकर निकाली हुई तरल चिकनाई था,

किन्तु अब सरसो, एरण्ड, मिट्टी का तेल आदि सबके लिए तेल शब्द का प्रयोग होने लगा । गोहार शब्द पहले गौओं के हरण किए जाने पर मचाई हुई पुकार के लिए प्रयुक्त होता था; किन्तु अब सब प्रकार की पुकारों के लिए उसका प्रयोग होने लगा । पहले उसी व्यक्ति को 'कुशल' कहते थे, जो बिना हाथ में काँटा चुभाये कुश उखाड़ लाता था; किन्तु अब तो जो भी व्यक्ति सुचारु और व्यवस्थित रूप से अपना काम करता है, उसे ही 'कुशल' कहते हैं । पहले 'गवेषणा' का अर्थ था 'खोई हुई गाय को ढूँढना'; किन्तु अब सब प्रकार की खोज को गवेषणा कहने लगे हैं, यही अर्थ-विस्तार कहलाता है ।

४. अर्थ-सङ्कोच

बहुत से शब्द पहले किसी एक जाति के समस्त पदार्थों के लिए प्रयुक्त होते थे; किन्तु अब वे शब्द उस जाति के पदार्थों में से किसी एक के लिए रूढ़ हो गए, जैसे 'महाजन' शब्द पहले सब प्रकार के महापुरुषों के लिए प्रयुक्त होता था; किन्तु अब केवल 'रूपये लेन-देन करने वाले' के लिए होता है । 'मृग' शब्द पहले सब पशुओं के लिए प्रयुक्त होता था; किन्तु अब केवल 'हरिण' के लिए ही रूढ़ रह गया है ।

५. अर्थान्तरण या अर्थादेश

कभी-कभी एक साथ प्रयुक्त होने वाले दो विभिन्न अर्थों वाले शब्दों में से किसी एक शब्द के निकल जाने पर उसका अर्थ दूसरे शब्द का अर्थ बन जाता है, जैसे—'गृहवाटिका' शब्द एक साथ 'घर-बार' अर्थ में चलते थे; किन्तु गृह निकल जाने से बाड़ी (वाटिका) शब्द का अर्थ बँगला भाषा में 'घर' हो गया । इसी प्रकार कभी-कभी एक अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द पीछे चलकर दूसरे अर्थ में काम आने लगता है, जैसे वेद में 'सह' का अर्थ था 'जीतना'; किन्तु संस्कृत काव्य में उसका अर्थ हो गया 'सहना' ।

६. अर्थविनिमय

कभी-कभी लगभग समान गुणवाली, किन्तु दो भिन्न वस्तुओं के लिए काम में आने वाले शब्दों के अर्थों में परस्पर अदला-बदली भी हो जाती है, जैसे संस्कृत में नीम का स्वाद 'तिक्त' और मिर्च का 'कटु' है; किन्तु हिन्दी में नीम को 'कड़वा' और मिर्च को 'तीता' (तिक्त) कहने लगे ।

७. अर्थ-विसर्पण

कभी-कभी किसी शब्द का निश्चित सामान्य अर्थ भी असामान्य या बहुत बढ़ा-चढ़ा अर्थ देने वाला हो जाता है, जैसे–'उसे आज ताप हो गया है', कहने से यह समझा जाता है कि 'उसे बहुत ताप (तीव्रज्वर) हो गया है ।' इसी प्रकार 'उसे मिजाज हो गया है' का अर्थ होगा 'उसे बड़ा मिजाज (अभिमान) हो गया है' ।

८. अर्थारोप और उसके प्रकार

कभी-कभी लोग जान-बूझ कर भ्रमवश या अज्ञानवश किसी एक अर्थ में आने वाले शब्दों को दूसरे ऐसे अर्थों में चला देते हैं, जो अपने मूल अर्थ से भिन्न होता है । इसी प्रकार कभी-कभी कोई लेखक किसी बात को विचित्र, नवीन, अद्भुत या अप्रतिम शैली में कहने के लिए भी शब्दों के अर्थों में नये अर्थों का आरोप करके अपनी बात इस प्रकार और इस शैली में कहता है कि वह दूसरों को नवीन प्रतीत हो । अर्थारोप छः प्रकार से होता है—

१. अभिधा-शक्ति से ।
२. लक्षणा-शक्ति से ।
३. व्यञ्जना-शक्ति, तात्पर्या वृत्ति या ध्वनि से ।
४. उक्ति-संस्कार से ।
५. अर्थभ्रान्ति से ।
६. शब्ददारिद्र्य से ।

इस प्रकार शब्द और अर्थ का विश्लेषण प्रस्तुत करने से स्पष्ट होता है कि किसी शब्द का कोई अर्थ चाहे पहले से मान्य चला आया हो या नया जोड़ा गया हो, सबमें यही तत्त्व व्याप्त है कि या तो प्रमाद या अज्ञान से किसी शब्द का नया अर्थ निकाल लिया गया है या कवियों ने जान-बूझकर अर्थ में चमत्कार लाने के लिए परिवर्तन किया है या समाज ने ही नये अर्थ को व्यापक रूप में ग्रहण कर लिया ।

व्युत्पत्तिशास्त्र के अन्तर्गत शब्दों की निरुक्ति की जाती है; क्योंकि शब्दकोश का अध्यगन व्युत्पत्तिशास्त्र का विषय है । इसका कार्य यह है कि शब्दकोश के प्रत्येक शब्द को लेकर उसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना । जैसे— यह शब्द कहाँ से आया ? कब और कैसे बना ? तथा उसके अस्तित्व

के लिए वह किन-किन प्रतिकूल अवस्थाओं से गुजरा । अतः यह एक ऐतिहासिक विज्ञान है । यथासम्भव प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का आश्रय लेकर यह विज्ञान शब्दों के प्राचीनतम रूप को निर्धारित करता है और अध्ययन करता है कि कालान्तर में उस शब्द के प्रयोगों एवं अर्थों में क्या-क्या परिवर्तन हुए । इस प्रकार व्युत्पत्तिशास्त्र के अन्तर्गत शब्द का पूर्ण लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है । इसे शब्द-निर्वचन या शब्द-निरुक्ति भी कहते हैं ।

किसी एक ग्रन्थ में सम्पूर्ण शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, इसलिए भाषा के किसी एक पक्ष को लेकर इसका अध्ययन किया जा सकता है । इसी को हृदयङ्गम करके काव्यशास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति प्रस्तुत करना इस प्रबन्ध का मुख्य लक्ष्य है । उसमें भी काव्यशास्त्र में प्रयुक्त बौद्धदर्शन के शब्दों का विश्लेषण प्रस्तुत करना विशेष ध्येय है । इस तरह इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों एवं काव्यशास्त्र में प्रयुक्त बौद्धदर्शन के शब्दों की निरुक्ति प्रस्तुत की जायेगी । काव्यशास्त्र में भी अनेक ग्रन्थ हैं, अतः काव्यप्रकाश को मुख्य आधार बनाकर अन्य ग्रन्थों का पुट एवं तदपेक्षित विवरण प्रस्तुत किया जायेगा ।

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवरण

काव्यशास्त्र का अर्थ

इस प्रबन्ध में काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति, अर्थ-निर्वचन प्रस्तुत किया जाना है, इसलिए काव्यशास्त्र शब्द पर भी कुछ विचार अनपेक्षित न होगा। 'काव्यशास्त्र' शब्द का तीन प्रकार से व्युत्पत्तिपूर्ण अर्थ किया जा सकता है—

१. काव्यं च तत् शास्त्रम्, काव्यशास्त्रम्। इस व्युत्पत्ति में कर्मधारय समास करने पर इसका अर्थ होता है—काव्यस्वरूप शास्त्र।

२. काव्यं च शास्त्रं च काव्यशास्त्रे, तयोरुक्तानां शब्दानां निरुक्तिः, काव्यशास्त्रोक्तशब्दानां निरुक्तिः। इस द्वन्द्वगर्भित तत्पुरुष समास से 'काव्य और शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति' यह अर्थ लिया जायेगा। जैसा कि द्वन्द्वगर्भित शब्द-प्रयोग मिलता है। जैसे—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

यहाँ काव्य और शास्त्र अर्थ अपेक्षित है। इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी प्रयुक्त किया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

यहाँ शास्त्र और काव्य दोनों का स्वतन्त्ररूप से उल्लेख है।

३. काव्यस्य शास्त्रम्, काव्यशास्त्रम्। षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर काव्य का शास्त्र या काव्यसम्बन्धी शास्त्र अर्थ होगा। 'शिष्यतेऽनेन इति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार काव्य के सम्बन्ध में शिक्षा देने वाला ग्रन्थ काव्यशास्त्र कहलायेगा। जैसा कि व्याकरणशास्त्र, भाषाशास्त्र, व्युत्पत्तिशास्त्र आदि प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त तीन व्युत्पत्तिपरक अर्थों में प्रथम अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं; क्योंकि मम्मट आदि आचार्यों द्वारा 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' शास्त्र और काव्य शब्द का अलग-अलग प्रयोग किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि काव्य ही शास्त्र नहीं है, दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ता भी है। इस अर्थ के ग्रहण करने में 'अप्रयुक्त' दोष होगा; क्योंकि व्युत्पत्तिगम्य अर्थ होने पर भी ऐसा शिष्ट प्रयोग नहीं मिलता है।

इसी तरह द्वितीय अर्थ भी हमें अभीष्ट नहीं है। यद्यपि इस अर्थ में काव्यशास्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है, तथापि मेरा उस अर्थ में अभिप्राय नहीं है; क्योंकि इस अर्थ से सभी काव्य तथा सभी शास्त्र गृहीत हो जायेंगे। काव्य और शास्त्र ग्रन्थों की संख्या अपरिमित है। ऐसा अर्थ लेने पर प्रबन्ध का विषय अनन्त हो जायेगा, किसी एक व्यक्ति या एक प्रबन्ध सुलभ यह कार्य नहीं रह पायेगा।

अत: हमें तीसरा अर्थ ही अभीष्ट है। अर्थात् काव्य पर शासन करने वाले या काव्य की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ ही काव्यशास्त्र शब्द से अभिप्रेत हैं। काव्य के जो लक्षण-ग्रन्थ हैं, उनके जो पारिभाषिक शब्द हैं, उनकी ही निरुक्ति अर्थात् निर्वचन यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा। यहाँ काव्यशास्त्र पर कुछ विमर्श अपेक्षित है।

काव्यशास्त्र-नामकरण

काव्य-सौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र का नाम काव्यशास्त्र है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में इसके लिए मुख्यरूप से **'काव्यालङ्कार'** शब्द का प्रयोग होता था। इसीलिए काव्यशास्त्र के आदि युग के सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है। भामह का कारिकारूप में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से ही प्रसिद्ध है। उद्भट ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' रखा है। रुद्रट के काव्य-शास्त्रविषयक ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' है। वामन ने भी सूत्ररूप में लिखे हुए अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में काव्यशास्त्र के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित था। इस नाम में आया हुआ 'अलङ्कार' शब्द सौन्दर्य अर्थ का बोध कराने वाला है। वामन ने 'सौन्दर्यमलङ्कार:'[१] सूत्र लिखकर अलङ्कार शब्द को

---

१. काव्यालङ्कारसूत्रम्–१.२.।

सौन्दर्यपरक प्रतिपादित किया है। अन्य सब आचार्यों ने भी काव्य के सौन्दर्याधायक धर्मों को ही 'अलङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है। **'काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते'**[१] आदि वचन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' शब्द का अर्थ काव्यसौन्दर्य होता है और उससे लक्षणा द्वारा काव्यसौन्दर्यपरक शास्त्र का ग्रहण होता है। इसीलिए काव्यसौन्दर्य की परीक्षा के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले ये सब प्राचीन ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन नहीं है, अपितु सौन्दर्य की परीक्षा के लिए गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि जिन-जिन तत्त्वों के ज्ञान की आवश्यकता है, उन सभी का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इन नामों में आए हुए 'अलङ्कार' शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर काव्यसौन्दर्य के प्रतिपादक शास्त्रों के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम का प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

अलङ्कारशास्त्र

काव्यशास्त्र के लिए अनेक स्थलों पर 'काव्यालङ्कार' के बजाय केवल 'अलङ्कारशास्त्र' नाम का प्रयोग ही पाया जाता है। प्रतापरुद्रीय की टीका में 'अलङ्कारशास्त्र' नाम के प्रतिपादन के लिए 'छत्रिन्याय' का अवलम्बन किया गया है। उन्होंने लिखा है–**'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते'**[२]। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि इस शास्त्र में रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयों का विवेचन किया गया है; परन्तु 'छत्रिन्याय' से उसे केवल 'अलङ्कारशास्त्र' कहा जाता है। 'छत्रिन्याय' का अभिप्राय यह है कि कहीं बहुत से व्यक्ति जा रहे थे, इनमें दो-चार या एक-दो व्यक्ति छाता लगाये हुए छत्रधारी थे, उन दो-चार छत्रधारी व्यक्तियों की प्रधा-नता मानकर उनके साथ चलने वाले छत्ररहित अन्य व्यक्तियों का भी 'छत्रिणो यान्ति' आदि पदों से ग्रहण हो गया, और व्यवहारत: उन दो-चार छाते वालों के कारण उस समुदाय के अनेक छत्ररहित व्यक्तियों को भी 'ये छाते वाले जा रहे हैं' इस प्रकार कहा जाता है। इसी तरह अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कार के अति-रिक्त रस आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन होते हुए भी अलङ्कार को प्रधान मानकर 'अलङ्कारशास्त्र' नाम से उनका ग्रहण हो जाता है। यह प्रतापरुद्रीय के टीकाकार का अभिप्राय है। अलङ्कारशास्त्र नाम की व्याख्या के विषय में अन्य विद्वानों का भी प्राय: यही मत है।

---

१. काव्यादर्श–२.१;   २. प्रतापरुद्रीय–टीका, पृ० ३।

कुछ लोग इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हैं । उनका मत है कि काव्य में अलङ्कार की प्रधानता नहीं है, वह काव्य का आत्मा नहीं है, काव्य का आत्मा तो रस है । अलङ्कार की स्थिति तो केवल कटक-कुण्डल आदि के समान गौण है । कटक-कुण्डल आदि मनुष्य के उत्कर्षाधायक धर्म तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं । कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों को धारण करनेवाला व्यक्ति बड़ा आदमी माना जा सकता है, पर उनके हटा देने पर या उनके रहित व्यक्ति मनुष्य न रहे, यह नहीं हो सकता है । शरीर का जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है, इसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व रस है । इसीलिए रसादि के रहते उनको गौण करके और गौण अलङ्कारों को प्रधान मानकर उनके आधार पर इस शास्त्र का 'अलङ्कारशास्त्र' नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता । इसीलिए वे लोग इस व्याख्या के पक्ष में नहीं हैं । उनके विचार में वामन के मतानुसार अलङ्कारशब्द को सौन्दर्यपरक मानकर अलङ्कारशास्त्र को 'सौन्दर्यशास्त्र' या "काव्यसौन्दर्यशास्त्र' मानना अधिक सङ्गत और उचित प्रतीत होता है ।

काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग

ऊपर के विवरण से हमने अनुभव किया कि इस शास्त्र का नाम केवल काव्यालङ्कार था । शास्त्र शब्द का प्रयोग उसके साथ नहीं होता था । आगे उसका और अधिक विकास होने पर उसका महत्त्व बढ़ाने के लिए उसके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग होने लगा । सामान्यरूप से शास्त्र-शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करनेवाला होने से शास्त्र कहलाता है । शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है । वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त होने और असत्कार्यों से निवृत्त होने का आदेश देते हैं, इसलिए वे शास्त्र कहे जाते हैं । मुख्यरूप से शासन करनेवाले अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले ग्रन्थ 'शास्त्र' कहलाते हैं । जैसा कि शास्त्र का लक्षण करते हुए कहा गया है—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदेशित्वं तच्छास्त्रमिति कथ्यते ।।

यहाँ नित्य पद से वेद विवक्षित है और कृतक पद से स्मृतियाँ ग्रहीत होती हैं । ये शास्त्र मनुष्य को हेयोपादेय का उपदेश देते हैं, इसलिए मनुष्य के द्वारा सेव्य हैं । यद्यपि काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं, रसास्वादन या 'सद्यः परनिर्वृत्ति' है, 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का

उपदेश काव्य का गौण प्रयोजन माना गया है। फिर भी उसमें उपदेशकता है ही। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को चतुर्वर्ग के फल की प्राप्ति का सुगम साधन बताया है। जैसा कि उन्होंने कहा है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव..........................।। (सा० द० १.२)

काव्य से चतुर्वर्ग-प्राप्ति का उपपादन करते हुए कहते हैं–चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव।

अर्थात् काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति, रामादिकों की भाँति पिता की आज्ञा के पालन आदि धर्म-कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए और रावण आदि की भाँति पराई स्त्री के हरण करने आदि अधर्म-कार्यों में नहीं प्रवृत्त होना चाहिए, इत्यादि रीति से कृत्य अर्थात् अनुष्ठेय (शास्त्रविहित) कर्मों में प्रवृत्ति, अकृत्य अर्थात् अनाचरणीय शास्त्रनिषिद्ध कर्मों में निवृत्ति के उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि रामायणादिक काव्यों के पढ़ने से श्रीरामचन्द्र आदि के अभ्युदय और रावणादि का सर्वनाश देखकर यह उपदेश मिलता है कि धर्म पर आरूढ़ रहने से अवश्य अभ्युदय होता है और जङ्गल के पशु-पक्षी तक मनुष्य की सहायता करते हैं एवं अधर्म करने के लिए कमर कसने से सगा भाई भी साथ छोड़ देता है और अन्त में सर्वनाश ही होता है। इस उपदेश से धर्मकार्य ही कर्तव्य है, ऐसा ज्ञान होगा। उससे धर्म-कार्यों में प्रवृत्ति होगी। इस प्रवृत्ति से धर्म (शुभ अदृष्ट) से अर्थ एवं अर्थ से काम-सुख की प्राप्ति होगी और यदि इस धर्म-फल की इच्छा का परित्याग कर दें, तो मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि शुभ कर्मों के फलत्याग एवं अशुभ कर्मों के अनाचरण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्।।

इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्ति से काव्य की शास्त्रता सिद्ध होती है। वेदान्तदर्शन में 'शास्त्र' शब्द की एक और व्युत्पत्ति की गयी है। 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् केवल शासन करने वाले विधि-प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही 'शास्त्र' नहीं कहलाते, अपितु किसी गूढ़तत्त्व का 'शंसन' प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ भी

'शास्त्र' कहलाते हैं। इस व्युत्पत्ति के करने का कारण यह है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय–'ब्रह्मप्रवृत्ति-निवृत्ति' या विधि-प्रतिषेध का विषय नहीं माना गया है। तब उसका प्रतिपादन शास्त्र में कैसे सम्भव होगा, यह शङ्का 'ब्रह्म' के विषय में उठायी गयी है। उस शङ्का के निवारण के लिए 'शंसनात् शास्त्रम्' यह दूसरे प्रकार की व्युत्पत्ति भाष्यकार ने की है। इसके अनुसार 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त आदि के लिए 'शास्त्र' शब्द के प्रयोग का और विधि-प्रतिषेधरहित 'ब्रह्म' के शास्त्रप्रतिपाद्यत्व का समर्थन किया गया है। इसलिए शासनात्मक न होने पर भी, अर्थात् विधि-प्रतिषेधरहित होने पर भी किसी गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ 'शास्त्र' नाम से कहे गये हैं। इसी व्युत्पत्ति को लेकर अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नामों मे शास्त्र का प्रयोग हुआ है। काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द का सम्बन्ध जुड़ जाने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार' में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता, जितना 'काव्यशास्त्र' यां 'अलङ्कारशास्त्र' नामों में प्रतीत होता है।

'काव्यशास्त्र' शब्द के प्रयोग का आधार

ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया है; परन्तु उन्होंने 'शास्त्र' शब्द की विधि-प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रम्' इस पहली व्युत्पत्ति को लेकर ही शास्त्र शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है—

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते[१] ।।

इसका तात्पर्य यह है कि विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला अर्थात् शासन करने वाला 'शास्त्र' है, उसका अध्ययन करना चाहिए; वयोंकि उसी से लोकव्यवहार का सञ्चालन होता है। इस विधि और प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाले मुख्य तीन साधन हैं—१. काव्य, २. शास्त्र और ३. इतिहास। इन तीनों के मिश्रण से तीन और बन जाते हैं—१. काव्य और शास्त्र को मिलाकर 'काव्यशास्त्र', २. काव्य और इतिहास को मिलाकर 'काव्येतिहास', ३. शास्त्र और इतिहास को मिलाकर 'शास्त्रेतिहास'। इस प्रकार भोजदेव के मत

---

१. सर० कण्ठा० २.१३८।

में विधि और प्रतिषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छः हो जाते हैं–१. काव्य, २. शास्त्र, ३. इतिहास, ४. काव्यशास्त्र, ५. काव्येतिहास, ६. शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्[1]।।

इस प्रकार भोजदेव ने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनों को विधि-प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाला माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्य के सब प्रयोजनों में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् विधि-प्रतिषेध को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है।

साहित्यशास्त्र

'काव्यशास्त्र' के लिए प्रारम्भ में 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता था। उसमें अलङ्कार शब्द सौन्दर्यपरक था, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र के लिए काव्यालङ्कार नाम रखे थे; परन्तु इसके साथ ही एक और शब्द भी है, जो इस शास्त्र के लिए प्रयुक्त पाया जाता है, वह है 'साहित्यशास्त्र' शब्द। इधर नवीन युग में तो यह शब्द काव्यशास्त्र के अन्य सब नामों की अपेक्षा अधिक प्रचलित है और इसका श्रेय कदाचित् चौदहवीं शताब्दी के विश्वनाथ को है। उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है, इधर के नवीन युग में यह ग्रन्थ पठन-पाठन की प्रणाली में बहुत अधिक प्रचलित रहा। इसलिए काव्यसौन्दर्य की विवेचना करने वाले शास्त्र के लिए 'साहित्य' शब्द अधिक प्रचलित हो गया और 'काव्यालङ्कार' या 'काव्यशास्त्र' जैसे शब्दों का प्रयोग ही कम हो गया। विश्वनाथ से पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी में अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने भी 'साहित्यमीमांसा' नामक अपने दूसरे ग्रन्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया था; परन्तु उनका यह ग्रन्थ अधिक प्रचलित नहीं हुआ, इसीलिए काव्यशास्त्र के लिए 'साहित्य' शब्द के प्रचार का श्रेय विश्वनाथ को ही दिया जा सकता है।

परन्तु विश्वनाथ इस शब्द के प्रयोग के आदि प्रवर्तक नहीं हैं। इसका आदि मूल तो काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह के 'काव्यालङ्कार' में ही पाया जाता है। भामह ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह-

१. सर० कण्ठा० २.१३९।

कर काव्य का लक्षण किया है । अर्थात् शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम काव्य है । शब्दार्थ के साहित्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए दशम शताब्दी के वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने कहा है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः[१] ।।

इसके अतिरिक्त काव्य में सौन्दर्याधान के लिए शब्द और अर्थ दोनों की एक-सी मनोहारिणी स्थिति का नाम 'साहित्य' है । अर्थात् काव्य में जितने सुन्दर अर्थ का वर्णन किया जा रहा हो, उतने ही सुन्दर शब्दों का सन्निवेश होना चाहिए । अथवा जैसे सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया जा रहा हो, उसी के अनुरूप सुन्दर अर्थ का समन्वय होना चाहिए । शब्द-अर्थ गौरव के अनुरूप हो, न कम, न अधिक और अर्थ शब्दसौन्दर्य के अनुरूप हो, न कम, न अधिक । यही शब्द और अर्थ की अन्यूतानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति हुई । इसी का नाम शब्द और अर्थ का साहित्य है । इस प्रकार के 'साहित्य' से युक्त शब्द और अर्थ का नाम ही काव्य है, यह भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण का अभिप्राय है । वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी शब्द और अर्थ के इस 'साहित्य' को अपने काव्य-लक्षण में समाविष्ट किया है । उन्होंने काव्य-लक्षण करते हुए कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि[२] ।।

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले सुन्दर कविव्यापार से युक्त रचना में समुचित रीति से स्थित साहित्ययुक्त शब्दार्थ का नाम ही काव्य है । आचार्य भोजदेव ने भी शृङ्गारप्रकाश में 'शब्दार्थयोः साहित्यं काव्यम्' कहकर साहित्य का उल्लेख किया है । इस प्रकार भामह, कुन्तक, भोजदेव आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ के 'साहित्य' के आधार पर ही अपने काव्यलक्षण किये हैं और इस आधार पर ही 'काव्यशास्त्र' के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होता है । यह प्रयोग तो आदिकाल से होता आया है और उसी के आधार पर नवम शताब्दी में काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर ने 'पञ्चमी साहित्य-विद्या इति यायावरीयः'[३] लिखकर इस शास्त्र के लिए 'साहित्यविद्या' या

---

१. वक्रोक्तिजी० १.१७; २. वक्रोक्तिजी० १.७ ।
३. काव्यमीमांसा, पृ० ४ ।

'साहित्यशास्त्र' नाम का निर्देश किया है और उसी आधार पर ग्यारहवीं शताब्दी में रुय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यमीमांसा' तथा चौदहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा ।

काव्यशास्त्र का नामान्तर 'क्रियाकल्प'

काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले इस शास्त्र के लिए काव्यालङ्कार, काव्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, साहित्यविद्या आदि अनेक नामों का प्रयोग करते आ रहे हैं; परन्तु इन सब नामों से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक और भी नाम प्रयुक्त है, और वह है–'क्रियाकल्प' । यह नाम कदाचित् इन सब नामों से अधिक प्राचीन है । इसका निर्देश वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' में गिनायी गयी ६४ कलाओं में आता है । 'क्रियाकल्प' 'काव्यक्रियाकल्प' का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है । इसका पूरा नाम 'काव्यक्रियाकल्प' अर्थात् 'काव्यशास्त्र' है । केवल कामशास्त्र में ही नहीं, अपितु 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में भी 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग किया गया है । टीकाकार जयमङ्गलार्क ने उसका अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधि: काव्यालङ्कार इत्यर्थ:' इस प्रकार किया है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त 'क्रियाकल्प' शब्द काव्यालङ्कार अथवा अलङ्कारशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड (अध्याय ७४, श्लोक ४-१०) में लव-कुश के ज्ञान को सुनने के लिए राम की सभा में वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ गान्धर्व आदि विद्याओं के विशेषज्ञों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है, उसी के साथ 'क्रियाकल्प' तथा 'काव्यविद्' का वर्णन भी आया है । उसमें 'काव्यविद्' का अर्थ केवल काव्यरस को ग्रहण करने में समर्थ व्यक्ति है तथा 'क्रियाकल्पविद्' का अभिप्राय काव्यसौन्दर्य की परीक्षा में समर्थ व्यक्ति है । रामायण के श्लोक का सम्बद्ध भाग निम्न प्रकार है—

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्[१] ।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के लिए—१. काव्यालङ्कार, २. काव्यशास्त्र, ३. अलङ्कारशास्त्र, ४. साहित्यशास्त्र, ५. क्रियाकल्प, इन पाँच नामों का प्रयोग प्राय: होता है । भामह, रुद्रट, उद्भट, वामन और कुन्तक ने इनमें से काव्यालङ्कार शब्द को अधिक पसन्द किया है । इसलिए अपने ग्रन्थों के नाम 'काव्यालङ्कार' रखे हैं, कुन्तक का ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से

---

१. वा० रा०, उत्तर. ९४.४ ।

प्रसिद्ध है; परन्तु इसके दो भाग हैं–एक मूल कारिका-भाग और दूसरा वृत्ति-भाग । दोनों भागों के रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं, उन्होंने अपने वृत्ति-भाग का नाम वक्रोक्तिजीवित रखा और इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है । उनके मूल कारिका-भाग का नाम 'काव्यालङ्कार' ही है । इसी कुन्तक ने प्रारम्भ में ही लिखा है—

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते[1] ।।

इससे प्रतीत होता है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने भी अपने मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' ही रखा था । इस प्रकार बहुत समय तक इस शास्त्र के लिए 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता रहा; परन्तु पीछे ऐसा अनुभव हुआ कि भिन्न-भिन्न आचार्यों के सभी ग्रन्थों के लिए एक ही नाम 'काव्यालङ्कार' उचित नहीं है । इसलिए दण्डी ने सातवीं शताब्दी में अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' रखा और नवम शताब्दी में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्य-मीमांसा' तथा ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ को 'काव्य-प्रकाश' नाम से अभिहित किया । इसी तरह चौदहवीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' की रचना की ।

साहित्यशास्त्र का उद्गम

साहित्यशास्त्र के उद्गम के विषय में राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के प्रारम्भ में एक आख्यायिका प्रस्तुत की है । आख्यायिका पौराणिक शैली की जान पड़ती है । उसमें प्रामाणिक तत्त्व कम हैं, फिर भी उसमें साहित्यशास्त्र के उद्गम के विषय में एक विचारधारा का विषय मिलता है । इसलिए उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जो उपयुक्त ही होगा । राजशेखर ने लिखा है—

"अब काव्य की विवेचना प्रारम्भ करते हैं । भगवान् श्रीकण्ठ शिव ने इस काव्यविद्या का उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया था । उसमें प्रथम शिष्य स्वयम्भू ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों-ऋषियों को दिया । इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र 'काव्यपुरुष' भी एक था, जिसकी वन्दना जगद्वन्द्य देवता भी करते थे । ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ और दिव्य दृष्टि द्वारा भविष्य की बातों को जानने

---

१. वक्रोक्तिजी० १.२ ।

वाले उस काव्यपुरुष को भूः, भुवः और स्वर्ग तीनों लोकों में रहनेवाली प्रजा में काव्यविद्या का प्रचार करने की आज्ञा दी । काव्यपुरुष ने अट्ठारह भागों में विभक्त काव्यविद्या का उपदेश सबसे पहले प्रथम सहस्राक्षादि दिव्य काव्यविद्या-स्नातकों को किया । उनमें एक-एक शिष्य ने अट्ठारह भागों में विभक्त उस काव्यविद्या के एक-एक भाग में विशेषज्ञता प्राप्त करके अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की ।

सहस्राक्ष इन्द्र ने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया । इसी प्रकार उक्तिगर्भ ने उक्तिविषयक ग्रन्थ का निर्माण किया । सुवर्ण-नाभ ने रीतिविषयक, प्रचेता ने अनुप्रासविषयक, यम ने यमकसम्बन्धी, चित्राङ्गद ने चित्रकाव्यविषयक, शेष ने शब्दश्लेष पर, पुलस्त्य ने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति पर, औपकायन ने उपमा अलङ्कार के सम्बन्ध में, पराशर ने अति-शयोक्ति के सम्बन्ध में, उतथ्य ने अर्थश्लेष पर, कुबेर ने शब्द और अर्थ उभया-लङ्कारों के सम्बन्ध में, कामदेव ने विनोदसम्बन्धी, भरत ने नाट्यविषय पर, नन्दिकेश्वर ने रसविषय पर, धिषण-बृहस्पति ने दोष पर, उपमन्यु ने गुणों के सम्बन्ध में और कुचमार ने औपनिषदिक विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की ।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों की ग्रन्थरचनाओं से काव्यविद्या अनेक भागों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी । इसलिए अत्यावश्यक काव्यविद्या के सभी विषयों को संक्षिप्त करके हमने अट्ठारह अधिकरणों में 'काव्यमीमांसा' नामक इस ग्रन्थ की रचना की है"[१] ।

इस प्रकार राजशेखर ने काव्यशास्त्र के उद्गम के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है; किन्तु इस प्रकार का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है ।

वेदों में काव्यशास्त्र का बीज

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार वेद सभी सत्य विद्याओं का प्रति-पादक ग्रन्थ है । सभी सत्य विद्याओं की उत्पत्ति और विकास वेदों से ही हुआ है, इसलिए सभी विद्याओं के मूल तत्त्वों का अनुसन्धान वेदों में किया जाता है । आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेद को विश्वसाहित्य का सबसे प्राचीन

१. द्रष्टव्य–काव्यमीमांसा, पृ० ३-४ ।

ग्रन्थ मानते हैं । इसीलिए अपनी अनुसन्धान-प्रक्रिया में वे भी प्रत्येक विषय का बीज ऋग्वेद में खोजने का प्रयत्न करते हैं । इसी दृष्टि से साहित्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेदों में अन्वेषण करने का यत्न किया गया है । यों तो साक्षात् साहित्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं । वेदाङ्गों में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः विद्याओं की गणना की गयी है, पर उनमें साहित्य का नाम नहीं आता । इसलिए वेद और वेदाङ्गों से साहित्य-शास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वेद को 'देव का अमर काव्य' कहा गया है—**'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** इस वैदिक वचन में 'देव के काव्य' रूप में वेद का ही निर्देश किया गया है और वेद के निर्माता परमात्मा के लिए वेदों में अनेक जगह 'कवि' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है । इसलिए काव्य-सौन्दर्य के निरूपक साहित्यशास्त्र में काव्यसौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है, वे सभी तत्त्व मूलरूप में वेद में पाये जाते हैं । वेदों में रचना का माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि गुणों के उदाहरण अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं । गुणों के आधार पर ही रीतियों का निर्धारण होता है । इसलिए रीतियों के उदाहरण भी वेद में खोजे जा सकते हैं । उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों की तो वेदों में भर-मार है । एक-एक मन्त्र में अनेक जगह रूपक और उपमा आदि का प्रयोग देखा जा सकता है । उपमा का एक उदाहरण देखें—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं
उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्ये उषती सुवासाः[१] ।।

अर्थात् अनेक लोग विद्या पढ़ते हैं, पर उसका रहस्य खुलता नहीं, अनेक लोग महत्त्व की बातें सुनते हैं, पर उनका भाव समझ में आता नहीं । ऐसे ही लोगों को लक्ष्य में रखकर मन्त्र में कहा गया है—'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्' । त्व अर्थात् 'एके' कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं, 'शृण्वन् अपि न शृणोत्येनाम्' सुनकर भी उसको सुन नहीं

---

१. ऋग्वेद–१०.७१.४ ।

पाते। ये दोनों विरोधाभास के कितने सुन्दर और प्रसादगुणयुक्त मनोहर उदाहरण हैं। तीसरे वे लोग हैं, जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है, जैसे सुन्दरतम वेश-भूषा में अलङ्कृत होकर पत्नी अपने पति के सामने अपने सौन्दर्य को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है। 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा'। इस उपमा का यही भाव है। यह कितनी सुन्दर उपमा है। दूसरी जगह 'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उषा हँसती हुई-सी अपने 'अप्सः रूपाणि' अर्थात् सौन्दर्य को प्रकाशित करती है, इसमें 'हँसती हुई-सी, सौन्दर्य को प्रकाशित करती है' कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

वेद के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि, अनन्त, मौलिक तत्त्व हैं। ईश्वर प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और जीव उस सृष्टि में अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःखरूप फलों का भोग करता है। इस जटिल दार्शनिक तत्त्व का निरूपण 'दिव्यकाव्य' वेद में हुआ है, जो काव्य के समान सुन्दर प्रतीत होता है। मन्त्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्त्वों को अपने नामों से न कहकर रूपकालङ्कार में दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में कहा गया है। ईश्वर और जीव दोनों दो सुन्दर पंखवाले साथ रहनेवाले और मित्ररूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं। उन दोनों में एक जीव उस वृक्ष के फलों को खाता है, अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार सृष्टि में सुख-दुःखरूप फलों का भोग करता है और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[1]'॥

इस मन्त्र में यों तो दर्शनशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है; परन्तु काव्य या साहित्य की दृष्टि से भी यह एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है। काव्य की मनोहर भाषा में दार्शनिक तत्त्व का ऐसा सुन्दर निरूपण सारे साहित्य में कहीं और देखने को नहीं मिलता है। रूपक की कल्पना कैसी सुन्दर बनी है और उसके साथ 'सुपर्णा, सयुजा, सखाया, समानं, परिषस्वजाते' के सुन्दर अनुप्रास ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। 'अनश्नन्नन्यः अभि-

१. ऋग्वेद-१.१६४.२०।

चाकशीति' में नकार का अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है। 'अनश्नन् अन्य: अभिचाकशीति' फल का भोग न करते हुए भी अपने तेज को, सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहा है, यह विभावना अलङ्कार का सुन्दर उदाहरण है। 'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' विना हेतु के जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। फल का भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्य का जनक है, पर यहाँ 'अनश्नन्' न खाने पर भी 'अभिचाकशीति' सौन्दर्य के प्रकाश का उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह विभावना अलङ्कार का उदाहरण है। काव्यप्रकाश के 'य: कौमारहर:' इत्यादि अनलङ्कृति वाले उदाहरण के खण्डन में साहित्य की अपनायी गयी प्रक्रिया के अनुसार यदि इसको उलट दिया जाय, तो यह 'विशेषोक्ति' का उदाहरण बन जायेगा। 'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति:' हेतु के होने पर भी फल का न होना 'विशेषोक्ति' अलङ्कार कहलाता है। यहाँ 'अनश्नन्' रूप सौन्दर्याभाव का कारण विद्यमान है; परन्तु सौन्दर्याभावरूप कार्य विद्यमान नहीं है; क्योंकि 'अनश्नन् अन्य: अभिचाकशीति' न खाते हुए भी वह अपने सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहा है। इसलिए यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है।

इस मन्त्र में न केवल रूपक, अनुप्रास, विभावना, विशेषोक्ति अलङ्कार ही पाये जाते हैं, अपितु 'सयुजा' और 'सखाया' विशेषणों से जीवात्मा और परमात्मा की नित्यता एवं सच्चिद्रूपता की अभिव्यक्ति भी होती है, इसलिए वे पदद्योत्य ध्वनि के उदाहरण भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, इस एक ही मन्त्र में रूपक, अनुप्रास, विभावना, विशेषोक्ति चार अलङ्कारों, माधुर्य गुण और पदद्योत्य ध्वनि आदि काव्य के अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गों का समावेश पाया जाता है। इस प्रकार के अन्य सैकड़ों मन्त्र पाये जाते हैं, जिनमें साहित्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है। इन मन्त्रों का जितना ही आलोडन किया जाय, उतना ही उनका सौन्दर्य प्रस्फुटित होता जायेगा।

सारांश रूप में कह सकते हैं कि जिसके द्वारा शासन किया जाय, उसे शास्त्र कहते हैं। शास्यते अनेन इति शास्त्रम्। 'शासु अनुशिष्टौ' इस अनुशासनार्थक शास् धातु से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय करने से शास्-ष्ट्रन् (त्र) शास्त्र शब्द सिद्ध होता है। अनुशासन भी शास्त्र का नाम है। 'अथ शब्दानुशासनम्' यह शब्द भी योगरूढ़ है। अब प्रश्न उठता है कि काव्यशास्त्र किसका शासन करता है। उत्तर स्पष्ट है कि काव्य को अनुशासित करने वाला ही काव्यशास्त्र है। 'शिष्यते अनेन इति शास्त्रम्'। जिसके द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षा दी

जाय, उसे भी शास्त्र कहते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजक, काव्य के कारण, काव्य के स्वरूप, दोष, गुण एवं अलङ्कार तथा आत्मभूत रस आदि का शासन होता है या इनके हेयोपादेय की भी शिक्षा दी जाती है। इस रीति से ध्वन्यालोक; काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर आदि सभी लक्षण-ग्रन्थ काव्यशास्त्र शब्द से अभिहित हैं। ये भी कृत्याकृत्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश देते हैं, अत: ये भी शास्त्र ही हैं। काव्य को शासित करने वाले लक्षण-ग्रन्थ भी प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश देते हैं। जैसे–कर्णावतंस, धनुर्ज्या और जघनकाञ्ची शब्दों को लीजिए। इन तीनों पदों में पुनरुक्ति दोष समानरूप से है। अवतंस का अर्थ ही कर्णाभूषण होता है, पुन: कर्ण शब्द का प्रयोग निरर्थक है। इसी प्रकार 'ज्या' कहने से ही धनुष की प्रत्यञ्चा का बोध होता है, धनुष शब्द पुनरुक्त ही है। काञ्ची शब्द भी जघन का ही आभूषण है। पुन: जघन शब्द का प्रयोग होने से पुनरुक्त है; परन्तु काव्य में कर्णावतंस का 'कान में पहने हुए आभूषण' अर्थ में प्रयोग मिलता है, इसी प्रकार 'धनुर्ज्या' शब्द का प्रयोग भी काव्य में मिलता है, जिसका तात्पर्य 'धनुष पर चढ़ती हुई डोरी' है; परन्तु जघनकाञ्ची का प्रयोग नहीं होता; क्योंकि पूर्व के दोनों शब्द में पुनरुक्ति दोष का परिहार 'तदिदं प्रयुक्तेषु'[१] इस वामन के सूत्र के आधार पर 'स्थितेष्वेतत् समर्थनम्'[२] इस सूत्र से महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण किया जाता है। जघनकाञ्ची जैसे शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं मिलता। अत: ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि कोई 'कर्णावतंस' शब्द को देखकर 'जघनकाञ्ची' शब्द का भी प्रयोग करता है, तो वह दुष्ट है, ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में वर्जित है। काव्यशास्त्र का निर्देश है कि कोश आदि में उस अर्थ में पढ़ा भी गया हो, यदि कवियों ने उसको अनादृत कर दिया है, तो ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा अप्रयुक्त दोष होगा। जैसे—

'यथायं दारुणाचार: सर्वत्रैव विभाव्यते।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा[३]' ।।

यहाँ 'दैवतानि पुंसि वा' इस अमरकोश के वचन से दैवत शब्द का विकल्प से पुंल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है; लेकिन इस प्रकार कोश में पठित

१. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, प्र० अ०; २. काव्यप्रकाश।
३. का० प्र० ७.१४३।

होने पर भी किसी महाकवि के द्वारा पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त नहीं किया गया है, इसलिए इसमें अप्रयुक्तत्व दोष है। इस प्रकार शासन अथवा शिक्षा देने के कारण ही काव्य के लक्षण-ग्रन्थ काव्यशास्त्र कहलाते हैं।

इसी तरह उपमानोपमेय में समान लिङ्ग, विभक्ति होनी चाहिए। लिङ्गभेद होना भी दोष माना गया है। फिर भी 'चिन्तारत्नमिव च्यूतोऽसि' यह वाक्य लिङ्गभेद होने से दुष्ट है; परन्तु 'गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः' यहाँ पर गुण शब्द पुल्लिङ्ग है और रत्न शब्द नपुंसकलिङ्ग है, यहाँ उपमानोपमेय में लिङ्गभेद होते हुए भी यह वाक्य दोषयुक्त नहीं माना गया है। इसी प्रकार व्यभिचारिभाव, रस अथवा स्थायिभावों का अपने वाचक शब्द द्वारा यदि कथन किया जाता है, तो स्वशब्दवाच्यता दोष होता है। रस की स्वशब्द रस शब्द से या शृङ्गारादि शब्द से वाच्यता दोनों रसदोष माने गये हैं। जैसे—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजभूतलोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः[१] ॥

यहाँ रस शब्द का प्रयोग स्वशब्दवाच्यता दोष प्रकटित कर रहा है। इसी प्रकार सञ्चारिभावों का भी स्वशब्द से वाच्यता दोष होता है। यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः[२] ॥

यहाँ व्रीडा, करुणा, त्रास, विस्मय, रस, ईर्ष्या आदि शब्द स्ववाच्यता दोष से ग्रस्त हैं। फिर भी कहीं ऐसे प्रयोग को दोष नहीं माना गया है। जैसे—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः[३] ॥

---

१. का० प्र० ७.३२३; २. तदेव-७.३२२।
३. तदेव-७.३३१।

यहाँ औत्सुक्य तथा लज्जा व्यभिचारिभावों को स्वशब्द से कहा गया है; परन्तु यह दोष नहीं है । इसका कारण यह है कि यदि यहाँ उनको स्वशब्द से न कहा जाय, तो उनके 'त्वरा' तथा व्यावर्तनरूप अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से औत्सुक्य तथा लज्जा का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि 'त्वरा' और 'व्यावर्तन' रूप अनुभाव रोष तथा भय आदि के कारण भी हो सकते हैं; परन्तु यहाँ भय या रोष आदि के कारण 'त्वरा' या 'व्यावर्तन' विवक्षित नहीं है, अपितु औत्सुक्य तथा लज्जा के कारण त्वरा तथा लज्जानिमित्तक व्यावर्तन विवक्षित है । यह बात व्यभिचारिभाव का स्वशब्द से कथन किये बिना केवल अनुभाव द्वारा बोधित नहीं हो सकती है । इसलिए कवि ने ऐसा प्रयोग उचित ही किया है ।

इसी प्रकार अमरुशतक के निम्न पद में भी देखा जा सकता है—

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्पुरुषं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि[1] ।।

यहाँ भी 'उत्सुक' शब्द से ही औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभाव का कथन किया गया है । अन्य व्रीडा, प्रेम आदि व्यभिचारिभावों को स्वशब्द से न कहकर विवलितत्व आदि अनुभावों के द्वारा ही कथन किया गया है; परन्तु औत्सुक्य कथन अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता है; क्योंकि जो त्वरा आदि औत्सुक्य के अनुभाव हैं, वे ही भय आदि के भी अनुभाव हैं, इसलिए केवल अनुभावों के द्वारा औत्सुक्य का निश्चित रूप से बोध सम्भव न होने के कारण अमरुक कवि को औत्सुक्यरूप व्यभिचारिभाव को स्वशब्द से ही कहना पड़ा है ।

इस प्रकार व्यभिचारिभाव का जहाँ अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से प्रतिपादन करना सम्भव न हो, वहाँ उसका स्वशब्द से कथन करना दोष नहीं है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है; परन्तु स्थायिभाव तथा रस की स्वशब्दवाच्यता सदा दोष ही मानी जाती है । इस प्रकार का अनुशासन या शिक्षा हमें काव्यशास्त्र से मिलती है, इसलिए उनकी शास्त्रता सिद्ध होती है । इस तरह काव्य

---

१. का० प्र० ४.२९ ।

का शासन करने वाले या काव्य सम्बन्धी नियमों की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ काव्यशास्त्र हैं, उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति या निर्वचन-निष्पत्ति इस प्रबन्ध का विषय है ।

काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का परिचय

यद्यपि काव्यशास्त्र के ग्रन्थ अनेक हैं, बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं, जो उपलब्ध नहीं हैं, जिनका प्रकाशन आजकल नहीं हो रहा है, दुर्लभ हैं, तो भी उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है, उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति की जायेगी; किन्तु केन्द्र में 'काव्यप्रकाश' को रखा जायेगा । शब्द-निरुक्ति के पूर्व काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा । अत: प्रमुख ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

काव्यशास्त्र के आलोच्य विषय दोनों प्रकार के काव्य होते हैं—दृश्य-काव्य एवं श्रव्यकाव्य; परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य-काव्य की समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहले प्रारम्भ हुई । पाणिनि के समय (७वीं शती विक्रम-पूर्व) में ही इसकी शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी । उन्होंने शिनालि तथा कृशाश्व के द्वारा विरचित नटसूत्रों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है । श्रव्यकाव्य के आलोचनापूर्ण ग्रन्थ का उदय विक्रम की षष्ठ शताब्दी के मध्य में हुआ, जिस युग में भामह ने अपने काव्यालङ्कार की रचना की । भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी; परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है । उपलब्ध आचार्यों में भी मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१. भरत एवं नाट्यशास्त्र

भरत काव्यशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य हैं । संस्कृतसाहित्य में दो भरतों का नामोल्लेख मिलता है–वृद्धभरत तथा भरत । वृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवत: १२ हजार श्लोकों में था, परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है । भरत का नाट्यशास्त्र आज उपलब्ध है तथा काव्यशास्त्र का ही नहीं, प्रत्युत ललित कलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है । नाट्यशास्त्र एक युग की रचना न

होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का प्रतिफल है । आज यह कारिकाबद्ध रूप में ही उपलब्ध है; परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है—

(क). सूत्र-भाष्य—यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है । मूल ग्रन्थ सूत्ररूप में ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य लिखा है ।

(ख). कारिका—मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए कालान्तर में कारिकाओं की रचना हुई ।

(ग). अनुवंश्य श्लोक—गुरु-शिष्य-परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध), जो अभिनवभारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों के द्वारा विरचित हैं तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ संगृहीत हैं ।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से हटकर नहीं हो सकता । कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्य के रूप में मानते हैं और नाटक में आठ रसों का विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे निर्देश करते हैं । यथा—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः[१] ।।

इस तरह भरत कालिदास से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है । नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय हैं तथा लगभग पाँच हजार श्लोक हैं । इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है । रस तथा भाव का वर्णन षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है । यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में की गयी है । १६वें अध्याय में काव्य की आलोचना का मर्म समझाया गया है । भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलङ्कार (यमक, उपमा, रूपक और दीपक) की मीमांसा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया । इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है ।

---

१. विक्रमोर्वशीय–२.१८ ।

२. मेधावी

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भरतमुनि के नाम के बाद मुख्य रूप से भामह का नाम आता है । इन दोनों के बीच छः-सात सौ वर्ष का अन्तराल है । इतना लम्बा बीच का काल साहित्यिक आचार्यों से शून्य ही पड़ा रहा हो, ऐसा अनुभव नहीं है । इसी बीच में अनेक आचार्य हुए होंगे; परन्तु दैव-दुर्विपाक से आज हमें उनका कोई पता नहीं चलता । इन्हीं बीच के आचार्यों में मेधावी या मेधाविरुद्र नाम के अलङ्कारशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं । उनका पता हमें भामह, रुद्रट के व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदि के ग्रन्थों से मिलता है ।

आचार्य मेधावी के जिस मुख्य सिद्धान्त की चर्चा उत्तरवर्ती साहित्य में की गयी है, वह उनका उपमा-दोषों के विवेचन का सिद्धान्त है । उन्होंने १. हीनता, २. असम्भव, ३. लिङ्गभेद, ४. वचनभेद, ५. विपर्यय, ६. उपमानाधिक्य तथा ७. उपमानासादृश्य, इन सात प्रकार के उपमा-दोषों का विशेषरूप से निरूपण किया है । इसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामन ने अपने ग्रन्थों में की है । भामह ने इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है—

हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदौ विपर्ययः ।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ।।
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र ते च पृथक्[१] **।।**

दोषों के अतिरिक्त अलङ्कारों के विवेचन में भी भामह और दण्डी ने मेधावी के सिद्धान्तों की चर्चा की है । भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु 'मेधावी' उत्प्रेक्षा को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नाम से ही उसका कथन करते हैं । इसी बात का प्रतिपादन करते हुए भामह ने कहा है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः ।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्[२] **।।**

मेधाविरुद्र के तीसरे जिस सिद्धान्त की चर्चा उत्तरवर्ती साहित्य में पायी जाती है, वह है शब्दों का चतुर्धा विभाग । व्याकरण आदि शास्त्रों में शब्दों के

---

१. भामह, काव्यालङ्कार-२।३९.४०; २. तदेव-२.८८ ।

१. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग, ४. निपात और ५. कर्मप्रवचनीय नाम से पाँच विभाग किये गये हैं; परन्तु मेधाविरुद्र इनमें से कर्मप्रवचनीय को छोड़कर केवल चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में नमिसाधु ने लिखा है—

''एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः''[१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्र के अनेक सिद्धान्तों की चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थों में हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा, जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखर के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। जैसा कि राजशेखर ने लिखा है—

''प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते''[२]।

राजशेखर के इस लेख से प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान् उच्च कोटि के कवि भी थे; परन्तु दुःख की बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ और न ही अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

३. भामह और काव्यालङ्कार

भामह ने ही अलङ्कारशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। भामह के पिता का नाम रक्रिल गोमी था। वे कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था; परन्तु अब तो यह सर्वजनमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदोष के वर्णन में बौद्धन्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठ शती) के अनुसार है, धर्मकीर्ति (सप्तम शती) के अनुसार नहीं। फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए। अतः इनका आविर्भाव काल षष्ठ शती का मध्यभाग माना जाता है। भामह बौद्धन्याय से विशेष परिचय

---

१. रुद्रट-काव्यालङ्कार की टीका, २.२, पृ० ९।
२. काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२।

रखने पर भी बौद्ध नहीं हैं, प्रत्युत ब्राह्मण हैं; क्योंकि इन्होंने रामायण एवं महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन भी किया है, जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता। भामह का ग्रन्थ काव्यालङ्कार छ: परिच्छेदों में विभक्त है। वहाँ काव्य के साधन तथा भेद का (प्रथम परिच्छेद में), द्वितीय परिच्छेद में दश दोषों का, पञ्चम में न्यायविरोधी दोष का तथा षष्ठ परिच्छेद में शब्दशुद्धि का वर्णन किया गया है। इसमें चार सौ के लगभग श्लोक हैं। भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त हैं—

१. शब्द तथा अर्थ दोनों की काव्यता—शब्दार्थौ काव्यम्।
२. भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी (माधुर्य, ओज और प्रसाद) में अन्तर्भाव।
३. वक्रोक्ति को सकल अलङ्कारों के प्राण की मान्यता।
४. दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।
५. रीति पर आग्रह न मानकर काव्यगुणों पर आस्था।

४. दण्डी एवं काव्यादर्श

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लवनरेश सिंहविष्णु (सप्तम शती) के सभा-पण्डित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ **'काव्यादर्श'** है, जिसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नड़-भाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'कविराज मार्गे' तथा सिंहली ग्रन्थ 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालङ्कार) में किया गया है और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

काव्यादर्श बड़ा ही महनीय ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या लगभग छः सौ पचास है। पहले परिच्छेद में काव्य का लक्षण एवं भेद, रीति तथा गुण का विस्तृत विवेचन है। दूसरे में अर्थालङ्कारों का, तृतीय में शब्दालङ्कारों का (विशेषत: यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। वे सबसे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया। इस प्रकार ये रीति-सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जाते हैं। श्री आगाशे का कहना है कि काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी बड़े कठोर आलोचक हैं।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्[१] ।।

काव्यादर्श के इस सिद्धान्त के अनुसार दण्डी काव्य में तनिक से भी दूषण को सहन नहीं करते हैं। सुन्दर चेहरे पर जैसे एक भी कोढ़ हो जाता है, उसी प्रकार सुन्दर काव्य में एक भी दोष आ जाने पर काव्य का सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्य में एक भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

५. भट्टोद्भट और काव्यालङ्कारसारसंग्रह

दण्डी के बाद आचार्य भट्टोद्भट हैं, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्ट उद्भट जैसा कि उनके नाम से विदित होता है, काश्मीरी ब्राह्मण थे। वे कश्मीर के राजा जयादित्य की राजसभा के पण्डित नहीं, अपितु सभापति थे। उन्हें राज्य की ओर से प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतन के रूप में मिलता था। कल्हण की राजतरङ्गिणी में उनका वर्णन करते हुए लिखा गया है—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः[२] ।।

कश्मीर में महाराज जयसिंह का शासनकाल ७७९ ई. से लेकर ८१३ ई. तक माना जाता है। इसलिए उद्भट का समय भी आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम शताब्दी का प्रारम्भिक भाग निर्धारित होता है।

भट्टोद्भट ने साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में तीन ग्रन्थ लिखे हैं—

(क). भामहविवरण—यह ग्रन्थ भामह के काव्यालङ्कारों की व्याख्या के रूप में लिखा गया था; किन्तु आजकल उपलब्ध नहीं है।

(ख). काव्यालङ्कारसारसंग्रह—यह भट्टोद्भट का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। यह छः वर्गों में विभक्त है। इसमें कुछ मिलाकर ७९ कारिकाएँ हैं और उनमें ४१ अलङ्कारों के लक्षण आदि किये गये हैं। काव्यालङ्कारसारसंग्रह में उद्भट ने जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे सब अपने बनाये हुए 'कुमारसम्भव' काव्य से ही दिये हैं।

---

१. काव्यादर्श, १.७; २. राजत० ४.४९५ ।

(ग). कुमारसम्भव—कुमारसम्भव काव्य भी नहीं मिलता है । महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' महाकाव्य से उद्भट का कुमारसम्भव बिल्कुल भिन्न है ।

६. वामन और काव्यालङ्कारसूत्र

कल्हण के अनुसार वामन कश्मीरनरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री थे । वामन ने भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । फलत: ये भवभूति (अष्टम शती पूर्वार्द्ध) से परवर्ती हैं तथा राजशेखर (१०वीं शती) से प्राचीन हैं; क्योंकि काव्यमीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं । वामन आनन्दवर्धन (नवम शती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं, जिन्होंने इनका नामत: उल्लेख नहीं किया है; परन्तु इनके रीति-सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है ।

वामन का **काव्यालङ्कारसूत्र** नामक ग्रन्थ है, जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गयी है । वामन ने इसके ऊपर अपनी वृत्ति भी लिखी है । सूत्रों की संख्या ३१९ है । प्रथम परिच्छेद में काव्य का स्वरूप, प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है । दूसरे में दोष, तीसरे में गुण, चौथे में अलङ्कार तथा पाँचवें में शब्दशुद्धि का वर्णन है । वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं । रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है–रीतिरात्मा काव्यस्य । इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं—

१. गुण तथा अलङ्कार का परस्पर विभेद तथा गुणों का अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रतिपादन ।
२. रीति को काव्य की आत्मा मानना ।
३. वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी—इन तीन रीतियों की कल्पना ।
४. वक्रोक्ति को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना ।
५. समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना ।
६. दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मानकर बीस प्रकार की कल्पना ।

७. रुद्रट एवं काव्यालङ्कार

ये भी कश्मीर के रहने वाले थे । राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा में रुद्रट के द्वारा उद्भावित 'वक्रोक्ति' नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है ।

शिशुपालवध के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशम शती पूर्वार्द्ध) ने इनके अलङ्कार-ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है । फलतः इनका समय १०वीं शती पूर्वार्द्ध से प्राचीन है । ये वामन तथा उद्भट के पार्श्ववर्ती आचार्य हैं । रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है, जो प्राचीन आलङ्कारिकों से मेल नहीं खाती । शृंङ्गारतिलक के कर्ता रुद्रभट्ट से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है; परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं ।

इनका काव्यालङ्कार नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ १६ अध्यायों में विभक्त है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं, इसमें काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार, चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध, अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका-भेद का विवेचन किया गया है । इसमें रस का विस्तार से वर्णन है । रुद्रट ने सर्वप्रथम अलङ्कारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलङ्कार का मूलतत्त्व निर्दिष्ट किया है । इन्होंने नये-नये अलङ्कारों की भी उद्भावना इस ग्रन्थ में की है ।

८. आनन्दवर्धन एवं ध्वन्यालोक

काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं । इनका सर्वमान्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक है, जिसमें ग्रन्थ-कार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ़ विषयग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है । ये कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के सभापण्डित थे, इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्द्ध निश्चित रूप से है ।

'ध्वन्यालोक' आचार्य आनन्दवर्द्धन का अप्रतिम ग्रन्थ है । इसमें मूलतः कारिकाएँ हैं; जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है । कारिका एवं वृत्ति के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न ? इस प्रश्न की मीमांसा दो प्रकार से हुई है । कुछ लोगों का मानना है कि आनन्दवर्द्धन ने वृत्ति और सहृदय नामक किसी प्राचीन आचार्य ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकाएँ लिखी थीं; परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है । आनन्दवर्द्धन कारिकाकार तथा वृत्तिकार स्वयं अपने ही हैं । इस बात के लिए अभिनवगुप्त के 'लोचन' में अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं । इसके ऊपर 'चन्द्रिका' नामक कोई प्राचीन टीका थी, ज़ो आज उपलब्ध नहीं है । उपलब्ध टीकाओं में सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ध्वन्यालोक-लोचन ही अभिनव-गुप्त की है, जिसे टीकाग्रन्थ होने पर भी मौलिक ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है ।

आनन्दवर्द्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं । ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं । प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है । द्वितीय तथा तृतीय में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है । चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है । आनन्दवर्द्धन काश्मीरी थे; परन्तु इनके जीवनवृत्त का पता नहीं चलता । हेमचन्द्र के कथनानुसार ये 'नोण' के पुत्र थे । इन्होंने अर्जुनचरित, विषमबाणलीला (प्राकृत काव्य), देवीशतक तथा तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी; परन्तु इनमें देवीशतक ही मिलता है ।

९. अभिनवगुप्त एवं अभिनवभारती

ये कश्मीर में प्रचलित शैवदर्शन के मान्य आचार्य तथा तन्त्रशास्त्र के अलौकिक लेखक भी हैं, जिनका 'तन्त्रालोक' नामक तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है । साहित्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के नाट्यशास्त्र की टीका **अभिनव-भारती** तथा ध्वन्यालोक की टीका **लोचन** के कारण है । अभिनवगुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को पाकर साहित्यशास्त्र चमत्कृत हो गया और ध्वनि-सम्प्रदाय अपने आलोक से साहित्य-संसार को उद्भासित करने लगा । रस-सिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरङ्ग तथा आवर्जक है । इसलिए अवान्तरकालीन आलोचकों के लिए ये सर्वथा उपजीव्य, मान्य तथा श्रद्धास्पद आचार्य हैं ।

अभिनवगुप्त का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक साधारण-रीत्या माना जाता है । क्रमस्तोत्र की रचना इन्हीं के अनुसार ९९१ ई० में हुई तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी टीका १०१४-१५ ई० में (कलिसंवत् ४०९० में) । इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था, जो लोगों में 'चुखुलक' के नाम से कश्मीर में प्रसिद्ध थे । माता का नाम विमलका था । अभिनवगुप्त ने अपने गुरुओं का उल्लेख किया है, जिनसे इन्होंने नाना शास्त्रों का अध्ययन किया था । इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं–इनके पिता नरसिंहगुप्त, भट्ट इन्दुराज तथा भट्टतौत, जिनसे उन्होंने क्रमशः व्याकरण, ध्वनि तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था । इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा शैवदर्शन पर ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो कुल मिलाकर संख्या में ४० के लगभग हैं । तन्त्रालोक तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी इनकी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ हैं । साहित्यक्षेत्र में **'अभिनवभारती'** तथा **'लोचन'** के अतिरिक्त **'काव्यकौतुकविवरण'** नामक

इनका एक दूसरा भी अनुपलब्ध ग्रन्थ है, जिसमें इन्होंने अपने नाट्यशास्त्रीय गुरु भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ की व्याख्या की है । यदि ध्वनिसम्प्रदाय में अभिनवगुप्त की कृतियाँ नहीं मिलतीं, तो उनके सर्वमान्य होने में सन्देह ही रहता ।

१०. राजशेखर एवं काव्यमीमांसा

दशम शताब्दी के आरम्भ में प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्यशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक राजशेखर का नाम उल्लेखनीय है । ये विदर्भवासी थे; किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भ में न होकर कन्नौज में रहा । कन्नौज के प्रतीहारवंशी राजा महेन्द्रपाल और महीपाल इनके शिष्य थे । बालरामायण नाटक में अपने इन शिष्यों का उल्लेख राजशेखर ने किया है—

आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारान्निधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः ।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः[१] ।।

राजशेखर अपने को 'यायावरीय' कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि वे 'यायावर' वंश में उत्पन्न हुए थे । वे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि 'अकालजलद' के पौत्र थे । उनके पिता का नाम 'दुर्दुक' और माता का नाम 'शीलवती' था । यायावर वंश में इनके पितामह अकालजलद और इनके अतिरिक्त सुरानन्द, तरल आदि अनेक कविराज हो चुके हैं । इसलिए इनमें कवित्व तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंशपरम्परागत थी । सौभाग्य से इनको पत्नी भी बड़ी विदुषी और काव्यप्रतिभाशालिनी प्राप्त हुई थी । उसका नाम अवन्तिसुन्दरी था । राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में कई स्थानों पर 'इति अवन्तिसुन्दरी' लिखकर उसके साहित्यविषयक मतों का उल्लेख किया है । राजशेखर आचार्य के साथ-साथ कवि और नाटककार भी हैं । इनके चार नाटक हैं—**१.** बालरामायण, २. बालभारत, **३.** विद्धशालभञ्जिका और **४.** कर्पूरमञ्जरी । इनका पाँचवाँ काव्यशास्त्र का ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है । इसी ग्रन्थ के कारण अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में इनको गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ । इसमें अट्ठारह अध्याय हैं । प्रथम अध्याय का नाम शास्त्रसंग्रह है, इसमें शिष्य-परम्परा का उल्लेख है । दूसरे

---

१. बालरामायण–१.१८ ।

अध्याय का नाम शास्त्रनिर्देश है । इसमें वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया गया है—१. शास्त्र और २. काव्य । शास्त्र को भी पौरुषेय और अपौरुषेय दो भागों में विभक्त किया गया है । तीसरे अध्याय का नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है । इसमें सरस्वती से 'काव्यपुरुष' की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । इसी प्रकार आगे अध्यायों के नाम तथा विषय हैं—**५.** काव्यपादकल्प, **६.** पद-वाक्यविवेक, **७:** पाठप्रतिष्ठा, **८.** काव्यार्थयोनि, **९.** अर्थव्याप्ति, **१०.** कवि-चर्या या राजचर्या । इसके बाद ११-१३ अध्यायों में यह दिखलाया गया है कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अभिप्राय को कैसे और कहाँ तक समझ सकता है । १४-१६ अध्यायों में देश, काल, प्रकृति आदि के वर्णन में प्रसिद्ध कवि-समय का वर्णन किया गया है । १७वें अध्याय में कालविभाग का वर्णन है ।

इस विषयसूची के देखने से विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारग्रन्थों से एकदम विलक्षण ग्रन्थ है । वह कवि के लिए उपयोगी जानकारी देनेवाला एक विश्वकोश-सा प्रतीत होता है । इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र कविशिक्षासम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जा सकते हैं ।

११. कुन्तक एवं वक्रोक्तिजीवित

कुन्तक वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं । ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हैं और इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से प्रसिद्ध है । इसमें इन्होंने राजशेखर (९१० ई०) के बालरामायण नाटक के अनेक पद्यों को उद्धृत किया है तथा इनके मत का उल्लेख सर्वप्रथम महिमभट्ट (११वीं शती का उत्तरार्द्ध) ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में किया है । इसलिए इनका समय इन दोनों लेखकों के बीच में कहीं होना चाहिए । इस प्रकार ये दशम शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान माने जा सकते हैं । ये अभिनवगुप्त के समकालीन काश्मीरी आचार्य हैं । अभिनवगुप्त ने इनके नाम का तो नहीं; परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है ।

'वक्रोक्तिजीवित' कारिका तथा वृत्ति से संवलित ग्रन्थ है । इसमें चार उन्मेष हैं, जिनमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का वर्णन किया गया है । प्रथम दो उन्मेष तो पूरे रूप में मिलते हैं; परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं । यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र का नितान्त प्रौढ़ तथा युगान्तरकारी ग्रन्थ है । इनका वक्रोक्तिसिद्धान्त भी काव्यजगत् में एक निराला सिद्धान्त है ।

१२. महिमभट्ट एवं व्यक्तिविवेक

महिमभट्ट कश्मीर के निवासी थे । ये ध्वनि को मानते थे; लेकिन उसे अनुमान के द्वारा सिद्ध मानते थे । व्यञ्जना-वृत्ति की न तो ध्वनि के लिए आवश्यकता है और न अवकाश । ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने **'व्यक्तिविवेक'** नामक प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की । ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है, बल्कि अनुमान का ही एक प्रकार मात्र है, इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है । ग्रन्थ तीन विमर्शों/ अध्यायों में विभक्त है । प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता से दिखलाया गया है । द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है । अन्तरङ्ग एवं अनौचित्य के भीतर 'रसदोष' का अन्तर्भाव होता है । बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गयी है । तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार ध्वन्यालोक के ध्वनिस्थापन पर टूट पड़ता है और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है ।

महिमभट्ट के पिता का नाम था श्रीधैर्य और इनके गुरु थे श्यामल । इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्ति के सिद्धान्तों का खण्डन किया है । मम्मटभट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में ग्रहण किया है । अत: इनका समय दोनों के बीच ११वीं शती का मध्यकाल होना चाहिए ।

१३. धनञ्जय एवं दशरूपक

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी विषय में भावकत्ववादी हैं और व्यञ्जनावाद के खण्डनकर्ता हैं । धनञ्जय तथा इनके भ्राता धनिक दोनों धारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४-९९० ई०) के सभापण्डित थे । इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' है, जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में; परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित तथा विवेचित हैं । धनिक ने इस पर **'अवलोक'** नामक टीका लिखी है । इन्होंने 'काव्यनिर्णय' नामक साहित्यविषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था । बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका 'दशरूपक' की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है ।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं तथा लगभग तीन सौ कारिकाएँ हैं, जिनमें वस्तु (नाटक का कथानक), नेता (नायक), रूपक के दश प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमश: किया गया है । 'नाट्यशास्त्र' एक भारी-भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है । 'दशरूपक' से यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है और इसीलिए यह नाट्यशास्त्र का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है ।

१४. भोजराज एवं शृङ्गारप्रकाश

धारानरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र के इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं । इनके दोनों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुत: विश्वकोष ही हैं । **'सरस्वती-कण्ठाभरण'** तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण ही रहा है; परन्तु **शृङ्गारप्रकाश** अब पूर्णरूप से प्रकाश में आया है । इसमें ३६ प्रकाश हैं । पहले ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेद में काव्य के गुणों और १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार किया गया है । द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कारों, तृतीय में २४ अर्थालङ्कारों तथा चतुर्थ में २४ उपमालङ्कारों का उदाहरणों से संवलित वर्णन है । पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है । 'शृङ्गारप्रकाश' में अन्य विषयों के अतिरिक्त रसों का विशेषकर शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशिष्ट विवेचन है । ये शृङ्गार को ही एक रस मानते हैं, अन्य रस उससे उद्भूत हैं ।

भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और इसीलिए अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों एवं उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है । दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ के ऊपर बहुत अधिक है ।

१५. मम्मट एवं काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ध्वनिविरोध का प्रामाणिक खण्डन कर 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि की पूर्ण प्रस्थापना की है । उनके प्रस्थापित ध्वनिमार्ग को आदर्श मानकर उसी का अनुगमन पिछले आलङ्कारिकों ने किया । कश्मीर ही मम्मट का जन्मस्थान है । भीमसेन ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कैय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता कहा है । महाभाष्य पर प्रदीप के रचयिता कैय्यट इनके अनुज हो सकते हैं; परन्तु उव्वट नहीं हो सकते; क्योंकि वे वज्रट के पुत्र थे जैयट के नहीं । मम्मट का समय निर्धारण सम्भव है; क्योंकि इन्होंने

अभिनवगुप्त (१०१५ ई० में जीवित) के मत को तथा पद्मगुप्त (१०१० ई० के आस-पास वर्तमान) के पद्यों को उद्धृत किया है । एक श्लोक में भोजराज की दानशीलता का वर्णन किया है । उधर इनके प्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि ने 'संकेत' की रचना १२१६ संवत् (११६० ई०) में की । फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्द्ध मानना युक्तियुक्त है ।

'काव्यप्रकाश' प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ़ तथा मौलिक है । इसके १० उल्लास हैं, जिनमें काव्यलक्षण, वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार, दोष, गुण और अलङ्कार का विस्तृत तथा विशद विवरण है । ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन संक्षेप में अन्यत्र मिलना कठिन है । इस पर टीका का निर्माण पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था, टीका-सम्पत्ति में यह बेजोड़ है । इसकी ७० टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीतिग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचनाएँ हैं । 'अलङ्कारसर्वस्व' के लेखक रुय्यक तथा 'साहित्यदर्पण' के निर्माता विश्वनाथ ने इसे व्याख्या-ग्रन्थों से मण्डित किया है ।

१६. सागरनन्दी एवं उनका नाटकलक्षणरत्नकोश

ग्रन्थकार का नाम है सागर, परन्तु नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागरनन्दी के नाम से विख्यात थे । इनके ग्रन्थ का नाम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' है, जिसमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है । फलतः यह 'दशरूपक' की कोटि का ग्रन्थ है । सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन प्रतीत होते हैं । इन्होंने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा उनके मत एवं पद्यों को सुभूति (१०६०-११५० ई०) ने अमरटीका में उद्धृत किया है । फलतः इनका समय ११वीं शती का पूर्वभाग मानना उचित होगा । 'दश-रूपक' से यह ग्रन्थ अनेक बातों में वैशिष्ट्य रखता है ।

१७. अग्निपुराण

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विद्याओं का लोकप्रिय कोश है । इसके दश अध्यायों (३३६-३४६ अध्याय) में अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं । इसमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों को आधार मानकर इसकी रचना की गयी है । अधिकांश मत अलङ्कारसम्प्रदाय से मिलते हैं । ये ध्वनिमार्ग को अङ्गीकार नहीं करते । इनके ऊपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है । फलतः इस अंश की रचना का समय ११वीं शती का अन्तिम भाग होना चाहिए ।

१८. क्षेमेन्द्र और औचित्यविचारचर्चा

क्षेमेन्द्र औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी कश्मीर के निवासी थे। ये सिन्धु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। आरम्भ में ये शैव-मतानुयायी थे; परन्तु सोमाचार्य के द्वारा वृद्धावस्था में वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये। साहित्यशास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। इनके **'औचित्यविचारचर्चा'** तथा **'कविकण्ठाभरण'** की रचना कश्मीरनरेश अनन्त (१०२८-१०६५ ई०) के राज्यकाल में हुई। 'दशावतारचरित' इनका अन्तिम ग्रन्थ है, जिसका निर्माण अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश के राज्यकाल में १०६६ ई० में किया गया। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्द्ध है और इस प्रकार ये मम्मट के सम-कालीन हैं।

कविकण्ठाभरण कविशिक्षाविषयक एक साधारण ग्रन्थ है; परन्तु **'औचित्यविचारचर्चा'** एक नवीन सिद्धान्त का पोषक मान्य ग्रन्थ है। इसमें औचित्य को काव्य का सर्वस्व माना गया है तथा उसके अनेक भेद दिखलाये गये हैं। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस आदि के साथ भलीभाँति दिखला कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व काव्य में दिखलाया है। **'सुवृत्त-तिलक'** छन्दशास्त्र से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का एक मार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें छन्द के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें बतलायी गयी हैं।

१९. रुय्यक एवं अलङ्कारसर्वस्व

ये भी कश्मीर के निवासी थे तथा कश्मीरनरेश जयसिंह (११२८-४७ ई०) के सन्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के काव्यगुरु थे। अतः इनका समय १२वीं शती का मध्यभाग है। इनके पिता राजानक तिलक स्वयं आलङ्कारिक थे, जिन्होंने उद्भट के ग्रन्थ के ऊपर **उद्भटविवेक** या **उद्भटविचार** नामक टीका लिखी थी। रुय्यक ने 'काव्यप्रकाश' पर संकेत टीका लिखी है तथा मंखक के महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' (११४५ ई०) से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। मंखक को कई दाक्षिणात्य पण्डित 'अलङ्कारसर्वस्व' का वृत्तिकार मानते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। रुय्यक ने ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों का प्रणयन किया है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है, जिसमें 'अलङ्कारसर्वस्व' महत्त्वपूर्ण है। यह एक मौलिक रचना है, जिसमें अलङ्कारों के विभाजन का मूल खोज निकाला गया है। रुय्यक ने ७५ अर्थालङ्कारों तथा छः शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है, जिनमें 'विकल्प' तथा 'विचित्र' जैसे नवीन अलङ्कारों की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का फल है। विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं। अप्पय दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकाएँ प्रकाशित हैं–जयरथकृत विमर्शिनी तथा समुद्रबन्धरचित टीका, जिनमें विमर्शिनी बड़े महत्त्व की व्याख्या है। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

२०. शोभाकर मित्र का अलङ्काररत्नाकर

शोभाकर मित्र के 'अलङ्कार-रत्नाकर' का उल्लेख 'रत्नाकर' के नाम से अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया है। इसके मत का बहुशः खण्डन जयरथ ने विमर्शिनी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१३शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १२वीं शती का उत्तरार्ध मानना उचित है। ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था तथा काश्मीरी कवि यशस्कर ने इन्हीं के अलङ्कारों के उदाहरण के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका 'अलङ्काररत्नाकर' सूत्रवृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इसमें इन्होंने लगभग एक सौ अलङ्कारों का निरूपण किया है, जिनमें कुछ अलङ्कार इनकी मौलिक कल्पना हैं, तथा कतिपय प्राचीन अलङ्कारों के नाम बदल कर आये हैं। अलङ्कारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रत्नाकर के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलङ्कारों की कल्पना की है, जिन्हें अप्पय दीक्षित नहीं मानते। पण्डितराज ने 'असम' के उदाहरण में दोष भले दिखाया; परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता दी। पूना से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

२१. हेमचन्द्र का काव्यानुशासन

गुजराज के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्द्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने साहित्यशास्त्र पर **'काव्यानुशासन'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनवगुप्त एवं मम्मट के

विशेष ऋणी हैं । ये सङ्कलनकर्ता ही अधिक थे । काव्यानुशासन के रसप्रकरण में इन्होंने अभिनवभारती से रसप्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उद्धरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ-निर्धारण में आज भी सहायता देता है ।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है–नाट्यदर्पण । इन दोनों शिष्यों के नाम हैं–रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र । रामचन्द्र 'प्रबन्धशतकर्त्ता' की उपाधि से मण्डित किये जाते हैं तथा गुजरात के अनेक नरेशों—सिद्धराज, कुमालपाल तथा अजयपाल—के समय में वर्तमान थे । फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्द्ध है ।

'नाट्यदर्पण' नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है । छोटा होने पर भी उपादेय है । ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाटक-ग्रन्थों के नाम ही नहीं मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं ।

२२. शारदातनय का भावप्रकाशन

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं । ये कश्मीर के निवासी थे और अपने आपको शारदा का पुत्र मानते थे । भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं । सिंहभूपाल (१४शती का प्रथम चरण) ने 'रसार्णवसुधाकर' में शारदातनय के मत का उल्लेख किया है । अतः इन्हें मम्मट तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में (१२५० ई० के लगभग) होना चाहिए ।

शारदातनय के ग्रन्थ का नाम **'भावप्रकाशन'** है । यह प्रधानतया नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है । इसमें दश अधिकार (या अध्याय) हैं, जिनमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक, नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थसम्बन्ध, नाट्यशरीर, दशरूपक, नृत्यभेद तथा नाट्यप्रयोग इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है । रसविषयक सामग्री अपूर्व है । रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यों, जैसे नारद, वाल्मीकि, व्यास आदि के मतों का निर्देश ही नहीं मिलता, प्रत्युत अभिनवगुप्त के मत का भी सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा है । कतिपय आचार्यों के मत तो प्रथम बार यहीं उपन्यस्त किये गये हैं । इस प्रकार यह ग्रन्थ नाटक की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है ।

२३. पीयूषवर्ष जयदेव एवं उनका चन्द्रालोक

जयदेव मिथिला के निवासी थे। ये **'गीतगोविन्द'** के रचयिता से तो भिन्न हैं; परन्तु **'प्रसन्नराघव'** नाटक के कर्ता से अभिन्न हैं। ये न्यायशास्त्र में भी विशेष प्रवीण थे, जिसका उल्लेख इन्होंने स्वयं इस नाटक में किया है। कविराज विश्वनाथ से प्राचीन हैं; क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत किया है। अत: इनका समय १३वीं शती का उत्तरार्द्ध मानना चाहिए। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में इनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' थी; परन्तु न्याय के क्षेत्र में ये पक्षधर के नाम से प्रख्यात थे।

इनका **'चन्द्रालोक'** अलङ्कारशास्त्र का एक अतीव सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों में विभक्त है। इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षेप में वर्णन है। अर्थालङ्कारों का तो अतिविस्तार के साथ वर्णन है। इनकी शैली अति मनोहर है। पद्यों के पूर्वार्द्ध में लक्षण हैं और उत्तरार्द्ध में उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसी ग्रन्थ को अप्पय दीक्षित ने अपने मान्य ग्रन्थ **'कुवलयानन्द'** के लिए उपजीव्य बनाया है। अर्थालङ्कार की समस्त कारिकाएँ यहीं से ली हैं। इसकी छ: टीकाओं का पता है, जिसमें 'शारदागम' प्राचीन तथा विशेष पाण्डित्त्यपूर्ण है, जिसका उपयोग अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ में किया है। राजा जसवन्त सिंह का **'भाषाभूषण'** इसी चन्द्रालोक का अनुवाद है। यह भी मूल के समान रुचिकर तथा आवर्जक है।

२४. विश्वनाथ कविराज एवं साहित्यदर्पण

ये उत्कल के राजा के सन्धिविग्रहिक थे। इनका वंश पाण्डित्त्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखररचित **'पुष्पमाला'** तथा **'भाषार्णव'** के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज 'चण्डीदास' ने 'काव्यप्रकाश' के ऊपर **'दीपिका'** नामक टीका लिखी है। इन्होंने रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' के कई नये अलङ्कारों का निवेश अपने ग्रन्थ में किया है। गीतगोविन्द (११वीं शती) और नैषधकाव्य (१२वीं शती) के उत्तरार्द्ध के पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने 'अलावदीन नृपति' का उल्लेख किया है, जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन-सा मालूम पड़ता है। फलत: इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्द्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है; लेकिन इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भदीप **'साहित्यदर्पण'** है, जो अत्यन्त लोकप्रिय एवं काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है । इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है । षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त, परन्तु प्रामाणिक विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है । स्पष्टतः यह 'काव्यप्रकाश' की शैली पर लिखा गया है; परन्तु इसमें उतनी प्रौढ़ता कहाँ ? विश्वनाथ आलङ्कारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे और इसीलिए सुन्दर उदाहरणों के उपन्यास से इस ग्रन्थ की रोचकता अधिक बढ़ गयी है । विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की टीका प्राचीन है, पर रामतर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है ।

२५. विद्याधर की एकावली

विद्याधर का 'एकावली' ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की शैली पर लिखा गया है । इस ग्रन्थ में आठ उन्मेष (अध्याय) हैं, जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का क्रमशः वर्णन किया गया है । यह 'काव्यप्रकाश' तथा 'अलङ्कारसर्वस्व' पर आधारित है । इसके रचयिता विद्याधर ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रय-दाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय (शासनकाल १२८०-१३१४ ई०) की स्तुति में स्वयं लिखा है । विद्याधर ने रुय्यक तथा नैषधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है तथा इसके ऊपर एक ही टीका **'सरला'** है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवर्नाकार मल्लिनाथ सूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं । फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का आरम्भ है ।

२६. विद्यानाथ एवं प्रतापरुद्रयशोभूषण

इनके ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है । ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय-नरेश 'प्रतापरुद्र' की स्तुति में दृष्टान्त के पद्यों की रचना की है । साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा को समझाने के लिए इनकी स्तुति में 'प्रतापकल्याण' नाटक भी इसमें सन्निविष्ट कर दिया है । प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र में पड़ती थी तथा ये वहाँ के इस नाम के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते हैं । इनके

शिलालेख १२९८-१३१७ ई० तक के मिलते हैं । फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्द्ध होना चाहिए । इस ग्रन्थ में ९ प्रकरण हैं, जिनमें काव्य के अङ्गों के साथ-साथ नाट्य के अङ्गों का भी पूरा विवरण मिलता है । मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' का विशेष ऋणी है । मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर 'रत्नार्पण' नामक टीका लिखी है ।

२७. अप्पय दीक्षित एवं चित्रमीमांसा

अप्पय दीक्षित (अप्पयदीक्षित या अप्पय्य दीक्षित) दक्षिण भारत के शैव दार्शनिक थे । ये द्रविण थे । कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम वेङ्कटपति लिखा है, जो विजयनगर का राजा वेङ्कट न होकर पन्नकोण्डा का राजा वेङ्कट प्रथम था, जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं । फलतः इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है ।

काव्यशास्त्रविषयक इनके तीन ग्रन्थ हैं, जिनमें 'वृत्तिवार्तिक' ('वृत्ति' का विवेचक ग्रन्थ) तथा चित्रमीमांसा (अलङ्कारों का विवेचक) अधूरे ही हैं । इनकी प्रसिद्धि का प्रकाशदीप कुवलयानन्द है, जिसमें अलङ्कारों का मार्मिक तथा विस्तृत विवेचन किया गया है । इसमें चन्द्रालोक की कारिकाएँ गृहीत हैं, जिनके ऊपर दीक्षित जी ने विस्तृत, विशद तथा प्रौढ़ व्याख्या लिखी है । इस व्याख्या में नवीन उदाहरण दिये हैं, प्राचीनों के मत का समीक्षण है और अलङ्कारों के मर्म तथा परस्पर विभेद का प्रामाणिक उपन्यास है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन 'रसगङ्गाधर' में कस कर किया है । इनकी खिल्ली उड़ाने में ओछे शब्दों के भी प्रयोग से वे पराङ्मुख नहीं हुए । तथ्य यह है कि अप्पय दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं । साहित्य इनका अपना विषय ही नहीं ठहरा, तथापि अलङ्कारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका 'कुवलयानन्द' नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है ।

२८. पण्डितराज जगन्नाथ एवं रसगङ्गाधर

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि इन्होंने अपना यौवन काल 'दिल्लीवल्लभ' की संरक्षकता में बिताया । यहाँ 'दिल्लीवल्लभ' से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है । यह प्रसिद्धि ऐतिहासिक तथ्य रखती है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत

पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली गये और दारा का ही वर्णन इन्होंने अपने एक काव्य में किया भी है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्द्ध है। ये जात्या आन्ध्र ब्राह्मण थे एवं पेरुभट्ट के पुत्र थे। अप्पय दीक्षित से इनकी बड़ी अनबन थी और उनके मतों की बड़ी आलोचना इन्होंने अपने अलङ्कारग्रन्थ में की है।

इनका एतद्विषयक प्रौढ़ ग्रन्थ **'रसगङ्गाधर'** है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयंनिर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता; परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलङ्कार के विवेचन में इन्होंने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द-गुण तथा दश अर्थ-गुण, ध्वनि के भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा ७० अलङ्कारों का विशेष विवेचन है। इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन आलङ्कारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन के निमित्त किया है। रस तथा अलङ्कारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं। इन्होंने अप्पय दीक्षित के 'चित्रमीमांसा' के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की रचना की है, जिसका नाम 'चित्रमीमांसाखण्डन' है। इनकी प्रतिभा काव्यक्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती है। उदाहरण इनके स्वयंनिर्मित काव्य हैं। इनका उद्घोष है—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

(र० गं० १.५)

२९. विश्वेश्वर पण्डित एवं अलङ्कारकौस्तुभ

ये पर्वतीय ब्राह्मण थे तथा अलमोड़ा जिले के अन्तर्गत पातिटया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैयाकरण तथा तार्किक भी थे और इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न वाली शैली में अलङ्कारों का परिष्कृत लक्षण

प्रस्तुत किया है । इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—'अलङ्कारकौस्तुभ', जिसके रूपक अलङ्कार के प्रकरण तक इन्होंने स्वयं व्याख्या लिखी है । इनके पिता लक्ष्मीधर थे, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे । इनके बड़े भाई उमापति थे, जिनके मत का भी संकेत 'कौस्तुभ' में किया गया है ।

'अलङ्कारकौस्तुभ' का एक उद्देश्य यह भी था कि अलङ्कारों की बढ़ती हुई संख्या रोकी जाय, इसलिए इन्होंने मम्मट द्वारा उपन्यस्त ६१ अलङ्कारों का वर्णन ही यहाँ किया है तथा अन्य अलङ्कारों का उन्हीं में अन्तर्भाव दिखलाया है । नव्यन्याय की शैली इस ग्रन्थरत्न की भूयसी विशेषता है तथा अलङ्कारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है । उपमालङ्कार का विवेचन यहाँ डेढ़ सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है । इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में निम्न हैं—

१. अलङ्कारमुक्तावली, २. रसचन्द्रिका, ३. अलङ्कार-प्रदीप तथा ४. कवीन्द्र-कण्ठाभरण ।

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति के पूर्व हमने भरतमुनि (२०० वि० पू०) से लेकर विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शताब्दी) तक लगभग २००० वर्षों में होने वाले भारतीय काव्यशास्त्र के विकास की यह संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है । काव्यशास्त्रीय निरुक्ति के लिए काव्यशास्त्र के इतिहास का यह सर्वेक्षण मनोरञ्जक एवं लाभदायक होगा । यद्यपि उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत आचार्य हुए हैं, तथापि काव्यशास्त्र के मान्य एवं अधिकांशतः उपलब्ध सिद्धान्त वाले आचार्यों को ही यहाँ विवरण के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है, जिससे उनके सिद्धान्तों का कोई न कोई अंश प्रस्तुत निरुक्ति में उद्धृत करने का गौरव प्राप्त हो सके ।

यद्यपि सूची में दिये गये 'अलङ्काररत्नाकर' आदि कुछ ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, तो भी उनको प्राप्त करने का प्रयास किया जायेगा, यदि उपलब्ध न हो सका, तो **'यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः'** का सिद्धान्त ही अवलम्बन का मार्ग होगा । साथ ही भोजराज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण', हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' भी पूर्ण रूप से संगृहीत करने का प्रयास किया जायेगा । यहाँ निरुक्ति के क्रम में आचार्य मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' को मूल में रखकर शब्दचयन करते हुए उन शब्दों पर अन्य आचार्यों की क्या सम्मति या विमति है, इस प्रकार विचार प्रस्तुत किया जायेगा । पुनः अन्य ग्रन्थों में जो

नवीन पारिभाषिक शब्द आयेंगे, उनका भी संग्रह कर उनकी निरुक्ति करने का प्रयास किया जायेगा ।

हम देखते हैं कि भामह से लेकर रुद्रट तक के ग्रन्थों का नाम काव्यालङ्कार है, जैसा कि पहले कहा गया है कि काव्यशास्त्र को पहले अलङ्कारशास्त्र कहा जाता था, आज भी कहा जाता है । इसका भी एक इतिहास है । अतः सर्वप्रथम अलङ्कार शब्द का दिग्दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है ।

अलङ्कार नामकरण में हेतु

प्राचीन आचार्य भामह आदि के काव्य में चारुताधायक तत्त्व को अलङ्कार शब्द से व्यवहृत किया गया है । भामह ने तो रीति, गुण, रस आदि का निरूपण करते हुए भी उनका पृथक् निर्देश या लक्षण नहीं किया, इनके शब्दों पर दृष्टि देने से बात स्पष्ट हो जायेगी । इन्होंने काव्य का लक्षण करते हुए कहा है—

''शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' । इसके बाद काव्यभेद करते हुए कहा कि **'गद्यं पद्यं च तद्विधा'**[१] ।

शब्द, अर्थ के सहभाव का निर्देश करते हुए स्वयं भामह ने सूत्र रूप में कहा है । वे काव्य के सभी भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं—'युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते' । अर्थात् काव्य के जितने भेद कहे गये हैं, उन्हें काव्य कहना तभी इष्ट होगा, जब वे वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से युक्त हों । स्पष्ट है कि वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति दोनों अलङ्कृति या अलङ्कार हैं । उन्हीं के शब्दों में—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः[२] ।।

अर्थात् केवल नितान्त आदि शब्दों के प्रयोग से वाणी में सौन्दर्य नहीं आता । वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलङ्कार (सौन्दर्य) है । यदि किसी काव्य को देखकर कोई बार-बार नितान्त सुन्दर, नितान्त सुन्दर कहे, तो इससे काव्य में सौन्दर्य नहीं आयेगा । काव्य की उत्कृष्टता के लिए उसके सौन्दर्य-सम्पादन के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है शब्द और अर्थ की

---

१. भामह, का० अ० १.१६.२ ।
२. का० अ० १.३० ।

वक्रता । वक्रता से समन्वित शब्दार्थ ही काव्य कहा जा सकता है, शेष सभी धर्म गौण हैं । काव्य में चारुता वक्र शब्द और अर्थ के प्रयोग से आती है । यहाँ चारुता को इन्होंने अलङ्कृति शब्द से कहा है । यह उनकी वक्रता ही काव्य में चारुताधायक तत्त्व है । उसको अलङ्कृति शब्द से कहते हैं ।

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः[१] **।।**

यहाँ अनुप्रास आदि के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग करते हैं । अलङ्कार शब्द की दो व्युत्पत्ति (निरुक्ति) की जा सकती है—

१. 'अलङ्कृतिरलङ्कारः' अथवा 'अलङ्करणमलङ्कारः' । भाव में घञ् प्रत्यय करने से अलङ्कार शब्द सिद्ध होता है ।

२. 'अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः' । करण में घञ् करने से भी अलङ्कार शब्द निष्पन्न हो सकता है । यहाँ अलम् उपपद कृ–घञ् (अ) । घञ् प्रत्यय करण और भाव दोनों में हो सकता है । "अचो ञ्णिति" सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि कर कृ-कार् - अ-अलङ्कार । यहाँ भाव में घञ् प्रत्यय करने से अलङ्कार शब्द का अर्थ चमत्कार, सौन्दर्य, चारुता आदि होता है । पुनः भाव में क्तिन् प्रत्यय करके अलङ्कृति शब्द निष्पन्न होता है । करण में क्तिन् प्रत्यय करने पर अनुप्रास, यमक आदि सौन्दर्याधायक तत्त्व अलङ्कार कहलायेंगे । चाहे वे रीति हों, गुण हों, रस हों, अलङ्कार (अनुप्रास, उपमा आदि) हों, सबका एक अलङ्कार शब्द से ग्रहण कर लिया गया । इस व्यापक अर्थ को लेकर इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार रखा, यह शास्त्र अलङ्कारशास्त्र कहलाया ।

इसका स्पष्टीकरण वामन, कुन्तक आदि ने अपने ग्रन्थों में बहुत किया है । दिग्दर्शन के लिए वामन का सूत्र देखें—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कारः । स च दोषहानगुणालंङ्काराभ्यां सम्पाद्यः कवेः'[२] ।

कुन्तक ने भी 'काव्यस्यायमलङ्कारः' इत्यादि शब्दों से इसे स्पष्ट किया है । इसीलिए भामह ने वक्रोक्ति को ही सभी अलङ्कारों का मूल माना है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना[३] **।।**

---

१. का० अ० १.३६; २. का० ल० सू० वृ० १.१.४ ।
३. का० अ० २.८५ ।

इनके शब्दों में अलङ्कारों का मूल भी वक्रोक्ति ही है । इसी अभिप्राय से 'युक्तो वक्रस्वभावोक्त्या' कहकर रीति का निरूपण करने लग जाते हैं । अलङ्कारों के निरूपण के प्रसङ्ग में गुणों का निरूपण करते हैं । रस का भी अलङ्कारों में समावेश कर लेते हैं । जब कि 'रसैश्च सकलैः पृथक्', 'स्वादुकाव्य-रसोन्मिश्रम्'[१] इत्यादि शब्दों से काव्य में रस का निरतिशय महत्त्व मानते हैं । इसी को रुय्यक ने "इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थवाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते"[२] इन शब्दों से कहा है । इस तरह रस, गुण, रीति, वृत्ति सभी काव्य के धर्म अलङ्कृति हैं और अलङ्कृति ही अलङ्कार है, अतः अलङ्कार शब्द से अलङ्कार के साथ गुण, रीति, वृत्ति, रस आदि सभी काव्यधर्मों को ग्रहण किया गया है । यह ज्ञान अलङ्कार शब्द की निरुक्ति से होता है ।

भामह का अलङ्कारनिरूपण

भामह का अलङ्कार-निरूपण पर्याप्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण है । सच पूछिये तो काव्यालंङ्कार में उन्होंने दो ही विषयों का विस्तृत विवेचन किया है । वे हैं—अलङ्कार तथा दोष । उनके द्वारा चर्चित अलङ्कारों का काव्यगत महत्त्व तो है ही, ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत बड़ा है; क्योंकि अलङ्कारशास्त्र के वे मान्य उपलब्ध आद्य आचार्य हैं ।

भामह अलङ्कार को काव्य-शोभा का आधायक तत्त्व मानते हैं । वे कहते हैं—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्[३] **।।**

भामह ने अपने ग्रन्थ का बहुलांश अलङ्कार-निरूपण में व्यय किया है । पर इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि भामह के समय में या उनके बाद भी 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग केवल उपमा, रूपक आदि के संकुचित अर्थ में न होकर काव्य-सौन्दर्य के निष्पादक सभी तत्त्वों के लिए होता था । दण्डी, वामन आदि की उक्तियों से यह स्पष्ट है । वामन ने तो 'सौन्दर्यमलङ्कारः' कहकर निर्भ्रान्त रूप से प्रतिपादित कर दिया कि अलङ्कार सौन्दर्यमात्र को कहते हैं ।

---

१. भामह, का. अ. ५.३; २. अलं० स० १.२ ।
३. भामह, का. अ. १.१४ ।

अत: काव्य-शोभा के जो भी निष्पादक हुए, वे अलङ्कार शब्द के वाच्य बन गये । दण्डी का कथन इस दृष्टि से ध्यातव्य है—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते[१] ।

उन्होंने गुण और अलङ्कार में भी भेद नहीं माना । यहीं क्यों, मुख आदि ५ सन्धियों, उपक्षेप आदि ६४ सन्ध्यङ्गों, कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्म आदि १६ वृत्त्यङ्गों और भूषण आदि ३६ लक्षणों को भी उन्होंने अलङ्कार में गिन लिया ।

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्तितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः[२] ।।

आगमान्तर अर्थात् दूसरे शास्त्र (भरतकृत नाट्यशास्त्र) में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि सविस्तर वर्णित हैं, उन्हें भी हम अलङ्कार ही मानते हैं ।

इसका एक और प्रमाण यह है कि रस को भी जब श्रव्यकाव्य में स्थान मिला, तब उसे रस न कहकर रसवदलङ्कार कहा गया ।

भामह के अनुसार अलङ्कार का मूल तत्त्व है अतिशयोक्ति और अतिशयोक्ति का अर्थ है–लोकातिक्रान्तगोचर वचन । जैसा कि कहा है—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यंतेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा[३] ।।

भामह की इस मान्यता का उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने मुक्तकण्ठ से समर्थन किया है । दण्डी ने दृढ़तर शब्दों में कहा है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्[४] ।।

बृहस्पति द्वारा प्रशंसित यह अतिशयोक्ति अन्य अलङ्कारों का भी प्रधान और सर्वश्रेष्ठ आधार है ।

---

१. दण्डी, का० द० २.१; २. तदेव–२।३६७ ।
३. भामह, का० ल० २.८१; ४. का० द०, २.२२० ।

आनन्दवर्द्धन ने भी उसकी उपादेयता स्वीकार की है—'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्'[१] ।

अर्थात् पहले तो सभी अलङ्कारों की अतिशयोक्तिगर्भता सम्भव है । महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त होकर ही वह अवर्णनीय काव्यशोभा को पुष्ट करती है । विषय के औचित्य के अनुरूप अतिशयोक्ति का उपनिबन्धन काव्य में उत्कर्ष क्यों नहीं लायेगा ।

'काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास में 'विशेष' अलङ्कार का निरूपण करते हुए मम्मट ने भी अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का प्राण स्वीकार किया है ।

'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्[२] ।

यह 'अतिशयोक्ति' अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार नहीं, बल्कि अलङ्कारत्व का बीजभूत तत्त्व है । अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार में अतिशयोक्ति शब्द योगरूढ़ है और यहाँ यौगिक, अतः उसका सामान्य अर्थ ही अभिप्रेत है ।

भामह के 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इस कथन का अर्थ करते हुए प्रायः सभी ने अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय बताया है, पर हमारी धारणा है कि ग्रन्थकार दोनों को पर्याय रूप में उपस्थित करने के पक्षपाती नहीं हैं । पहले दोनों शब्दों के वाच्यार्थ को ही लें । अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति में जो अतिशय और वक्र शब्द हैं, वे क्या एक ही अर्थ के वाचक हैं ? अतिशयोक्ति का अर्थ है बढ़ा-चढ़ाकर कहना और वक्रोक्ति का अर्थ है घुमा-फिराकर कहना । अतिशयोक्ति का लक्ष्य है गुणातिशययोग और वक्रोक्ति का अभिव्यञ्जनावैचित्र्य । चमत्कार के लिए दोनों आवश्यक हैं । अतिशयोक्ति काव्य में लोकोत्तरता, असाधारणता लाती है और वक्रोक्ति रमणीयता । जैसे किसी ने कहा कि नायिका का मुख चन्द्रमा से बढ़कर सुन्दर है, तो इसमें अतिशयोक्तिजन्य असाधारणता तो हुई, पर रमणीयता नहीं आयी । यह कथन असाधारण होते हुए भी चमत्कारशून्य है । तुलसीदास ने सीता के मुख का सौन्दर्यवर्णन करते हुए यही बात कही कि उनका मुख चन्द्रमा से बढ़कर सुन्दर है, पर वक्रोक्ति का योग हो जाने से उसमें चमत्कार आ गया—

---

१. ध्वन्या०, पृ० २५९; २. का० प्र०, पृ० ५४१ ।

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक[१] ।।

इसलिए अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय कहना आवश्यक है ।

भामह वक्रोक्तिविशिष्ट रचना को ही काव्य मानते हैं । जहाँ वक्रोक्ति नहीं, वहाँ काव्यत्व नहीं । उनके अनुसार वक्रोक्तिशून्य अभिधान वार्ता है ।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तमेनां प्रचक्षते[२] ।।

गुण तथा अलङ्कार का भेदाभेद

अलङ्कारवादी आचार्यों ने अलङ्कार को सौन्दर्य मात्र मानकर काव्यसौन्दर्य के निष्पादक सभी तत्त्वों को अलङ्कार मान लिया है; लेकिन काव्यशास्त्र का विकास होने पर सभी में भेद स्थापित हुआ । रस और अलङ्कार का भेद स्थापित करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा कि रसभाव, रसाभास, भावाभास और भावशान्ति आदि अलक्ष्यक्रम ध्वनि प्रधान होने के कारण अलङ्कार्य होने से रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कारों से भिन्न हैं । जैसा कि उन्होंने कहा है—

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः[३] ।।

जहाँ रस आदि प्रधानरूप से स्थित होते हैं, वहाँ वे अलङ्कार्य ('अलङ्कर्तुं योग्यः' अलङ्कृत करने योग्य) कहलाते हैं और जहाँ अन्य वस्तु या अलङ्कार आदि रूप वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग होते हैं, उनमें रस आदि गुणीभूतव्यंग्य होने से 'अलङ्क्रियतेऽनेनेति' इस करण व्युत्पत्ति से अलङ्कार कहलाते हैं । इस प्रकार रस और अलङ्कार में अलङ्कार्य और अलङ्कार रूप से भेद स्थापित किया गया है । इसी प्रकार गुण और अलङ्कार में भी भेद स्थापित किया गया है ।

गुण तथा अलङ्कारों के भेद के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों के दो प्रकार के मत पाये जाते हैं । भामह के काव्यालङ्कार पर लिखे हुए अपने 'भामहविवरण' में उसके लेखक भट्टोद्भट ने भेद को मिथ्याकल्पना माना है । उनके मत में गुण

---

१. रामचरितमानस,; २. भामह, का० अ० २.८७ ।
३. का० प्र०, ४.२६ ।

तथा अलङ्कारों में कोई भेद नहीं है । लौकिक गुण तथा अलङ्कारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हार आदि अलङ्कारों का शरीर आदि के साथ संयोग सम्बन्ध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं, अपितु समवाय सम्बन्ध होता है । इसलिए लौकिक गुण तथा अलङ्कार में भेद माना जा सकता है; परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है । इसलिए काव्य में उनके भेद का उपपादन नहीं किया जा सकता । भट्टोद्भट के मतानुसार गुण तथा अलङ्कारों में कोई भेद नहीं है, उनमें जो लोग भेद मानते हैं, वह केवल भेड़चाल (गड्डलिका-प्रवाह) मात्र है । इस प्रकार भट्टोद्भट का मत अभेदवादी है ।

गुणालङ्कार के सम्बन्ध में वामन का मत

वामन गुण तथा अलङ्कार दोनों में भेद मानते हैं । उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र' के तृतीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में इन दोनों का भेद प्रस्थापित किया है । जिसका अभिप्राय है—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः[1] ।

काव्यशोभा के करने वाले उत्पादक-धर्म गुण कहलाते हैं । शब्द अथवा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते हैं और वे गुण ओज, प्रसादादि ही होते हैं । यमक आदि अर्थालङ्कार उस काव्यशोभा के उत्पादक न होने से गुण नहीं कहे जा सकते हैं; क्योंकि ओज, प्रसाद आदि गुणों के अभाव में केवल यमक अथवा उपमा आदि अलङ्कार काव्य के शोभाधायक नहीं कहे जा सकते हैं और ओज, प्रसाद आदि गुण तो यमक, उपमा आदि के विना भी काव्य के शोभाधायक हो सकते हैं, इसलिए वे ही गुण कहे जा सकते हैं ।

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः[2] ।

उस काव्यशोभा के बढ़ाने वाले धर्म अलङ्कार होते हैं । जैसे युवती के भीतर सौन्दर्य आदि गुणों के होने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं, वास्तविक शरीर-सौन्दर्य के न होने पर धारण किये हुए सुन्दर अलङ्कार भी व्यर्थ हो जाते हैं, वे उसके सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर सकते हैं

---

१. वामन, काव्या० ३.१.१; २. तदेव–३.१.२ ।

उसी प्रकार काव्य में ओज, प्रसाद आदि गुणों के न होने पर यमक और उपमा आदि अलङ्कार उसके शोभावर्धक नहीं हो सकते हैं ।

गुण तथा अलङ्कार का दूसरा भेद यह भी है कि गुण नित्य या अपरिहार्य हैं, पर अलङ्कार अपरिहार्य नहीं हैं ।

'पूर्वे नित्याः । पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः'[१] ।

काव्य में अलङ्कार के विना तो काम चल सकता है; परन्तु गुणों के अभाव में उसमें काव्यव्यवहार ही नहीं हो सकता है । वामन के इसी मत को आधार मानकर काव्यप्रकाशकार ने भी अपने काव्यलक्षण में 'सगुणौ' कहकर काव्य में गुणों की अपरिहार्यता का तथा 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कारों की अपरिहार्यता के अभाव का बोधन किया है । इस प्रकार वामन के मत में गुण तथा अलङ्कार के बीच दो प्रकार का अन्तर है—

१. काव्यशोभा के उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं और गुणों द्वारा उत्पादित उस काव्यशोभा की वृद्धि करने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं । अर्थात् गुण काव्य के स्वरूपाधायक धर्म हैं और अलङ्कार उसके उत्कर्षाधायक अथवा उसकी उपादेयता के तारतम्य के प्रयोजक धर्म हैं ।

२. काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है; परन्तु अलङ्कारों की स्थिति अपरिहार्य नहीं है ।

आनन्दवर्धन का मत

गुण तथा अलङ्कार के भेद के विषय में उद्भट तथा वामन के पूर्वोक्त दो मतों के अतिरिक्त ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का भी एक मत है । उन्होंने इन दोनों के भेद का प्रदर्शन करते हुए लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्[२] ।।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूप ध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण होते हैं और अलङ्कार काव्य के अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म होते हैं । इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों को रसाश्रित तथा अलङ्कारों को शब्द तथा अर्थ के आश्रित धर्म मानकर उनके भेद का उपपादन किया है ।

---

१. वामन, काव्या० ३.१.३;   २. ध्वन्यालोक ।

मम्मटाचार्य का मत

उपर्युक्त तीन मतों में अन्तिम दो मतों को मिलाकर आचार्य मम्मट ने अपने मत की स्थापना की है । भट्टोद्भट के अभेदवादी पक्ष का तो मम्मट ने बिलकुल खण्डन कर दिया है । वामन के मत से गुणों के शोभाजनकत्व और अलङ्कारों के शोभातिशयजनकत्व मत को बिल्कुल छोड़ दिया है । उन्होंने गुणों को शोभाजनक नहीं, अपितु उत्कर्ष हेतु ही माना है । हाँ, वामन के मत से गुणों की अपरिहार्यता का ग्रहण और आनन्दवर्धन के मत से गुणों की रस-धर्मता तथा अलङ्कारों की शब्दार्थधर्मता का ग्रहण कर इन दोनों के समन्वय के द्वारा गुण तथा अलङ्कार के भेद का प्रतिपादन किया है । इनके अनुसार गुण के लक्षण में रसोत्कर्षत्व तथा रसनिष्ठत्व ये दो धर्म समाविष्ट हो जाते हैं । इस-लिए १. 'रसोत्कर्षत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम्' और २. 'अव्यभिचारेण रसोप-कारकत्वं गुणत्वम्' ये दोनों गुण के लक्षण बनते हैं । अलङ्कारों में ये दोनों बातें नहीं पायी जाती हैं । रस के अभाव में भी शब्दालङ्कारों की स्थिति होने से इनमें रसाव्यभिचारित्व नहीं है और न वे अव्यभिचारेण रसोपकारक ही होते हैं । इसलिए अलङ्कार में गुण के उक्त लक्षणों की अतिव्याप्ति नहीं होती है । इसी बात को दिखाने के लिए आचार्य मम्मट अलङ्कारों में उक्त धर्मों का अभाव प्रतिपादन करते हुए अलङ्कारों का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः[१] ।।

मम्मट के अनुसार काव्य में अलङ्कार की तीन प्रकार की स्थिति होती है—

१. शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों के उत्कर्ष द्वारा जो विद्यमान मुख्य रस को उपकृत करते हैं, अर्थात् उसके उत्कर्षाधायक होते हैं, वे कण्ठ आदि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी आत्मा के भी परम्परया हार आदि के समान उत्कर्षाधायक होने के कारण अलङ्कार कहलाते हैं ।

२. जहाँ रस नहीं होता है, वहाँ कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये गये अल-ङ्कारों के समान उत्कर्षाधायक या सौन्दर्यवर्धक न होकर केवल दृष्टिवैचित्र्यमात्र के प्रयोजक होने के समान उक्तिवैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं ।

---

१. का० प्र० ८।६७ ।

३. कहीं तो काव्य में रस के होने पर भी लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी नायिका के शरीर में धारण कराये गये ग्रामीण अलङ्कार जैसे उसके सौन्दर्य के वर्धक नहीं होते हैं, उसी प्रकार आत्मभूत रस के उत्कर्षाधायक नहीं होते हैं ।

अलङ्कार का रूप

अलङ्कार में जो वस्तु जीवनी शक्ति डालकर उसे सजीव तथा आकर्षक बनाती है, वह 'चमत्कार' के नाम से प्रख्यात है । अलङ्कार का अलङ्कारत्व तभी है, जब वह चमत्कार से मण्डित हो । अलङ्कार का सामान्य रूप है वैचित्र्य, विचित्रता—'वैचित्र्यमलङ्कारः' । विचित्रता से हीन स्वभाव कभी अलङ्कार नहीं हो सकता । अलङ्कार की कसौटी है–विचित्रता, चमत्कार । इसके लिए कवि को प्रतिभा की बड़ी आवश्यकता होती है । बिना विचित्रता के कोई भी साधन 'अलङ्कार' के महनीय नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता । एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है । 'अपह्नुति' अलङ्कार में प्रस्तुत वस्तु का तिरस्कार कर एक अप्रकृत वस्तु की स्थापना की जाती है । पूर्णिमा की रात में आकाश पर दृष्टिपात करता हुआ कवि कह रहा है—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः ।।

कवि का कहना है कि यह आकाशमण्डल नहीं, बल्कि जल का एक विशाल समूह है । ये तारायें नहीं हैं, बल्कि फेन के नये टुकड़े हैं । यह चन्द्रमा नहीं है, बल्कि कुण्डल मार कर गोले में बैठने वाला सर्प है । यह चन्द्रमा का कलङ्क नहीं है, बल्कि काले रंग वाले भगवान् विष्णु उस पर शयन कर रहे हैं । विचित्रता होने के कारण ही यह अपह्नुति अलङ्काररूपा है । यदि वैचित्र्य नहीं, तो अलङ्कार भी नहीं । कोई कवि बैल का वर्णन कर रहा है—

गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन सः ।

यह बैल गाय का बेटा है, जो मुख से घासों को खाता है, जातिगत होने से यह वर्णन सच्चा तथा वैज्ञानिक भले माना जाय; परन्तु यह चमत्कार-हीन होने से अलङ्कार कोटि में कभी नहीं आ सकता । इस प्रकार अलङ्कार का सामान्य लक्षण है—वैचित्र्य, जिसे प्रत्येक अलङ्कार में होना नितान्त आवश्यक होता है । अलङ्कारशास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध के पूर्व में चर्चा की गयी है । वही अलङ्कार का इतिहास भी माना जा सकता है ।

वेद में 'का ते अलङ्कृतिः' यह वाक्य स्वयं अलङ्कार का निर्देश करता है। मन्त्रों में उपमा, रूपक, व्यतिरेक आदि अनेक अलङ्कारों का वर्णन मिलता है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते' इस मन्त्र में तो काव्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। अतिशयोक्ति का कितना सुन्दर समावेश किया गया है। अग्निपुराण में तो काव्य के सभी अङ्गों तथा अलङ्कारों का निरूपण मिलता ही है। अतः इस अलङ्कारशास्त्र की वेदमूलकता सिद्ध होती है। भरत आदि महर्षियों द्वारा समय-समय पर उसका विकास, प्रचार-प्रसार किया गया है और उसको सिद्धान्त में स्थिर किया गया है। कालान्तर में काव्यशास्त्र ही साहित्यशास्त्र के नामान्तर से अभिहित हुआ। काव्य की साहित्य संज्ञा भर्तृहरि के समय में ही हो गयी थी। उन्होंने कहा है—

'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' ।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व महात्मा भर्तृहरि के मुख से ये शब्द निकले और दिग्दिगन्तों को प्रतिध्वनित करते हुए आकाश-सागर में विलीन हो गये। तब से अनेक बार इनका आविर्भाव, तिरोभाव हुआ, हजारों लाखों बार बिजली की तरङ्गों के समान उदय होकर इन्होंने अपनी भावच्छटा दिखाई और अब भी समय-समय पर भावुक जनों के निर्मल हृत्पटलों में अपने चमकीले भावचित्र को अङ्कित करके समाहित हो जाया करते हैं। 'साहित्ये सुकुमार-वस्तुनि' इत्यादि तथा काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में साहित्य शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। भोजदेव ने तो 'शब्दार्थयोः साहित्यं काव्यम्' कहा है। ऐसी स्थिति में साहित्य शब्द की निरुक्ति भी आवश्यक प्रतीत होती है।

साहित्य शब्द की निरुक्ति

साहित्य शब्द की निरुक्ति के आधार पर आचार्यों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। इस विषय पर गुरुवर डॉ. वायुनन्दन पाण्डेय जी का **'सारस्वती सुषमा'** में प्रकाशित **'सर्ववेदपारिषदं हीदं साहित्यशास्त्रम्'** नामक निबन्ध पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उक्त निबन्ध में वे साहित्य शब्द के अनेक व्युत्पत्ति-परक अर्थ प्रकाश में लाये हैं, वहाँ पर उन्होंने सभी अर्थों की सङ्गति साहित्य शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) द्वारा सिद्ध की है। उनमें कुछ निदर्शन तथा जिस

अर्थ में वे प्रामाणिक तथा प्रासङ्गिक माने हैं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ—

१. 'हितेन सह सहितम्', इस व्युत्पत्ति से हित से युक्त, हित उपदेश होता है, उपदेश 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का कान्तासम्मित उपदेश होता है। उससे युक्त होना सहित है। अथवा हित रसास्वादसमुद्भव आनन्द उसके सह-युक्त होना सहित है। अथवा 'डुधाञ् धारणपोषणयो:' धातु से क्त प्रत्यय करके धा को 'हि' आदेश 'दधातेर्हि' सूत्र से होता है। इस सूत्र का उदाहरण उपसर्गविशिष्ट ही दिया गया है। जैसे—अभिहितम्, निहितम्, केवल 'हितम्' नहीं। इसका कुछ कारण है। ऐसी व्युत्पत्ति करके फिर लिखते हैं—

सहितं च सहितं च सहिते, सहितयोर्भाव: साहित्यम्। अर्थात् शब्द के साथ होने से अर्थ सहित हुआ तथा अर्थ के साथ होने से शब्द सहित हुआ, इन दोनों सहितों का भाव साहित्य है। यद्यपि शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने से यह साहित्य वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य आदि समस्त वाङ्मय के लिए प्रयुक्त होता है, केवल काव्य के लिए नहीं। इसीलिए वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि प्रयोग दृष्टिगत होता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि साहित्य शब्द का अर्थ केवल काव्य कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि यद्यपि वाङ्मय मात्र में शब्द और अर्थ का सहभाव है, तो भी काव्य में इसका सहभाव विलक्षण है, वह सहभाव काव्य से इतर में नहीं प्राप्त है।

वेद और शास्त्र में शब्द प्रधान है और अर्थ विशेषण है, इतिहास, पुराण में अर्थ की प्रधानता है, शब्द गौण है। लोक में भी 'घटमानय' इस वाक्य में अर्थ की प्रधानता है, शब्द विशेषण है; क्योंकि आनयन घटरूप अर्थ का होता है, शब्द का नहीं। इसी तरह 'घटमुच्चारय' इस वाक्य में शब्द की प्रधानता है, अर्थ गौण है; क्योंकि उच्चारण शब्द का ही सम्भव है, अर्थ का नहीं; परन्तु काव्य में न तो शब्द की प्रधानता है, न वाच्यार्थ की, व्यञ्जना या व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है, उसे अभिव्यक्त करने में शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाते हैं, इस गुणीभाव में जो शब्द और अर्थ का सहभाव है, वही साहित्य शब्द से विवक्षित है, वह साहित्य केवल काव्य में है, अत: काव्य को साहित्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ध्वन्यालोककार ध्वनि का लक्षण करते हुए इसी बात का निर्देश करते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः[१] ।।

इसी बात को कुन्तक भी कहते हैं—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः[२] ।।

अन्यत्र भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार कहते हैं—

वृत्त्यौचित्यमनोहारिरसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि[३] ।।

यही बात 'हृदयदर्पण' में आचार्य भट्टनायक ने भी कही है—

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थतत्त्वेन युक्तं हि वदन्त्याख्यानमेतयोः ।।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्[४] ।।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजन की कारिका में आये हुए 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की व्याख्या करते हुए वेदादि शास्त्र तथा पुराण, इतिहास से काव्य का भेद और उसकी उपादेयता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया है । काव्य के प्रयोजनों में यश, धन आदि अन्य प्रयोजनों के साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है । वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि की रचना भी मनुष्यों को शुभ-कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ-कर्मों से निवृत्त करने के लिए ही की गयी है; परन्तु काव्य की उपदेशशैली उन सबसे विलक्षण है । इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिए आचार्य मम्मट ने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रसप्रधान तीन तरह की उपदेशशैलियों की कल्पना की है, जिनको क्रमशः 'प्रभुसम्मित', 'सुहृत्सम्मित' तथा 'कान्तासम्मित' पदो से निर्दिष्ट किया है । वेद-शास्त्र आदि की शैली प्रभुसम्मित या शब्दप्रधान शैली है । राजाज्ञाएँ तथा राजकीय विधान सदा शब्दप्रधान होते हैं । उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है, उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है । इसी प्रकार वेदशास्त्र आदि में जो उपदेश दिये गये हैं, जैसे—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत,

---

१. ध्वन्या० १.१३;
२. वक्रोक्तिजीवित १.१७.३ ।
३. वक्रोक्तिजीवित ;
४. लोचन में उद्धृत ।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' इत्यादि, इनका अक्षरशः पालन करना ही अभीष्ट होता है। इसलिए वे शब्दप्रधान होने से राजाज्ञा के समान या प्रभुसम्मित उपदेशशैली में अन्तर्भुक्त होते हैं।

दूसरी उपदेश-शैली इतिहास-पुराण की है। इनमें वेद-शास्त्र आदि के समान शब्दों की प्रधानता नहीं होती है; अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है; अपितु उसके अभिप्राय का अनुसरण किया जाता है। इसको मम्मट ने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। मित्र अपने मित्र को उचित कार्य का अनुष्ठान करने तथा अनुचित कार्य का परित्याग करने का उपदेश करता है; परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्दप्रधान नहीं होता। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है। इसलिए अर्थ में तात्पर्यवाली इस दूसरे प्रकार की शैली को आचार्य मम्मट ने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। इतिहास-पुराण आदि का अन्तर्भाव इसी शैली में होता है।

काव्य की उपदेश-शैली इन दोनों से भिन्न प्रकार की होती है। उसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर केवल रस की प्रधानता होती है। इस शैली को आचार्य मम्मट ने 'कान्तासम्मित' उपदेश-शैली नाम दिया है। स्त्री जब किसी काम में पति को प्रवृत्त या किसी काम से उसको निवृत्त करती है, तब वह अपने सारे हाव-भाव, कटाक्ष आदि सामर्थ्य से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा करती है। इसलिए कान्तासम्मित-शैली में शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर रस की प्रधानता हो जाती है। इसलिए इसको रसप्रधान शैली कहा जा सकता है। मम्मटाचार्य ने काव्य की उपदेश-शैली को इस श्रेणी में रखा है। काव्य के पढ़ने से भी 'राम आदि के समान आचरण करना चाहिए, रावण आदि के समान आचरण नहीं करना चाहिए' इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है; परन्तु उसमें शब्द या अर्थ की नहीं, अपितु रस की प्रधानता होती है। काव्य के रसास्वादन के साथ-साथ कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को होता है। यह शैली वेद-शास्त्र की शब्दप्रधान तथा इतिहास-पुराण आदि की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न और सरसता के कारण अधिक उपादेय है।

इस प्रकार वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य आदि के अर्थ में प्रयुक्त साहित्य शब्द पङ्कज आदि शब्द की तरह काव्य अर्थ में योगरूढ़ हो गया है। साहित्य शब्द की अन्य व्युत्पत्ति भी की जा सकती है। जैसे—'सहितस्य कर्म साहित्यम्'। सहित शब्द से कर्म में 'ष्यञ्' प्रत्यय करने से साहित्य शब्द की निष्पत्ति होती है। इस कर्म में सारी विद्याओं का सहभाव है। इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।।

अथवा 'साहित्यं सम्बन्धः'। इसीलिए भोजराज ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को साहित्य की स्वीकृति देते हुए अपने काव्य के लक्षण में कहा है—

'शब्दार्थयोः साहित्यं काव्यम्'।

साहित्य को उन्होंने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानकर उसके बारह भेद दिखलाये हैं। यथा–'स च सम्बन्धः द्वादशधा—अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यः, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलङ्कारयोगः, रसावियोगश्चेति।

इन बारह विभागों में विभक्त चारुता के उपपादक सम्बन्धों से सम्बद्ध शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। भोजदेव का साहित्य का संग्रह 'सहितस्य भावः साहित्यं सम्बन्धः' इस व्युत्पत्ति से होगा।

राजशेखर ने भी कहा है—'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या सा चतसृणां विद्यानां निष्यन्द इति'।

आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्य काव्य में जहाँ शब्द, अर्थ को गौण मानते हैं, व्यापार या रसादि व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य मानते हैं, वहीं महिमभट्ट रसाभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों को समानरूप से प्रधान मानते हैं। वे कहते हैं कि वेदादि में शब्द की प्रधानता है; क्योंकि उन शब्दों के पाठ से ही कल्याण होता है, उच्चारण अशुद्ध हो जाता है, तो प्रत्यवाय होता है, वहाँ तो उच्चारण में स्वर और वर्ण की अशुद्धि भी क्षम्य नहीं है। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वाली तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय काण्ड के पञ्चम प्रपाठक की घटना प्रमाणभूत है। इसीलिए महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि ने कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।

इतिहास, पुराण में अर्थ की प्रधानता है, शब्द की नहीं; क्योंकि वे अर्थ-वाद मात्र हैं; परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता है; क्योंकि दोनों के औचित्य से ही रस की निष्पत्ति होती है, यही शब्दार्थ का साहित्य है[1] । उन्होंने वहीं काव्यशास्त्र भी कहा है । इन सभी अर्थों की अभिव्यक्ति साहित्य शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) से ही प्रदर्शित की गयी है ।

काव्यकला के अर्थ में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में साहित्य शब्द का प्रयोग हुआ है (विक्रमाङ्कदेवचरित–१.११) । किसी वस्तु के उत्पादन या सम्पन्नता के लिए सामग्री के संग्रह को भी साहित्य कहा गया है; परन्तु यह अर्थ सन्दिग्ध है । महाकवि कालिदास शब्द, अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं और वह सम्बन्ध साहित्य ही है । उनके निम्न श्लोक की व्याख्या से स्पष्ट हो सकता है । श्लोक है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ[2] ।।

साहित्यशास्त्र के अधिकारी

साहित्य वह शास्त्र है, जिसमें भावना और भावुकता की पद-पद पर आवश्यकता है । जिसमें प्रकृति देवी के प्रसन्न-गम्भीर कौशलों को परखने की प्रतिभा नहीं है, जिसकी भावना की अप्रतिहत धारा न केवल मनुष्यों के बल्कि पशु-पक्षियों तक के हृदयतल में निलीन गहरे से गहरे भावों को स्पष्ट सामने नहीं रख देती, उसे साहित्यशास्त्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है । जिसे दूसरे का भाव समझने के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं है, जो प्राणियों की प्रत्येक चेष्टा का तात्पर्य समझ सकता है, हाथ, पैर और आँख, नाक का ही नहीं, अपितु किसी की अस्वाभाविक रीति से ली गयी साँस का भी भाव जिसकी समझ में साफ आता है, वही साहित्यशास्त्र का उपयुक्त पात्र है ।

---

१. व्यक्तिविवेक, तृ. चि. ;   २. रघुवंश–१.१ ।

साहित्यशास्त्र के लिए भावुकता की परम आवश्यकता है । किसी की दु:खभरी 'हाय' को सुनकर जिसके दिल में दर्द नहीं पैदा होता, नासमझ बच्चों की तोतली वाणी और भोली-भाली चेष्टाओं को देखकर तन्मय होकर जो बच्चा नहीं बन जाया करता, जिसका हृदय जङ्गल, पर्वत और पवित्र मन्दाकिनी की धारा को देखकर एकदम शान्तिनिमग्न नहीं होता, उसे इस शास्त्र का दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता नहीं है ।

जिसका हृदय निर्मल दर्पण के समान स्वच्छ और मक्खन के समान कोमल है, जिस पर प्रत्येक भाव का प्रभाव अविकल रूप से प्रतिबिम्बित होता है और जो साहित्य श्रवण के समनन्तर ही तन्मय हो जाता है, वही साहित्य-शास्त्र का उत्तम अधिकारी है ।

साहित्य का तात्पर्य समझने के लिए वक्ता के शब्दों और उनके अर्थों को जान लेना ही काफी नहीं है । वहाँ तो उसके हृदय में घुसना पड़ता है । वक्ता के शब्द का नहीं, बल्कि उसके हृदय का तात्पर्य निकालना पड़ता है । दूसरे शास्त्रों में अभिधा का बड़ा आदर है; लेकिन साहित्य में अभिधा से कथन अत्यन्त गँवारापन माना गया है । यहाँ तो शब्द कहते हैं **'भ्रम धार्मिक'** (भगत जी, आप मजे से घूमिये), पर इसका असली तात्पर्य है कि 'बच्चू खबरदार, इधर आये कि मारे गये' । शब्द कहता है कि **'न गता'** (तू नहीं गयी) पर तात्पर्य है कि **'अवश्यं गता'**–अवश्य गयी । शब्द कहता है कि **'उपकृतं बहु'** (आपने बड़ा उपकार किया) लेकिन तात्पर्य है कि तुमसे बढ़-कर नीच कोई नहीं है । अब भला बताइये कि केवल शब्दों का सीधा-सीधा मतलब समझने वाला ऋजुबुद्धि पुरुष यहाँ क्या करेगा । इसके अर्थ को समझने के लिए वक्ता के समान हृदय वाला सहृदय बनना पड़ता है ।

इसलिए साहित्यशास्त्र के प्रधानतम आचार्य ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्[१] ।।

जिसमें भावना नहीं, जिसमें भावुकता नहीं, जिसमें प्रकृति की परख नहीं और प्राणियों के हृदयगत भावों को जानने की अप्रतिहत प्रतिभा नहीं, वह इस शास्त्र में घुसकर भी क्या पायेगा ?

---

१. ध्वन्या० १.७ ।

इसके अतिरिक्त जिसे सभी शास्त्रों का ज्ञान नहीं और अच्छे प्रकार से प्रमेयों का विशुद्ध परिचय नहीं, उसका भी यहाँ गुजर नहीं है । कवि की प्रतिभा सर्वपथीन होती है । जिधर नजर उठी, उसी को बाँध दिया । उसको समझने और समझाने के लिए उन सब बातों की आवश्यकता है । किसी की दृष्टि न्याय पर पड़ी, तो उसने—

'साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं विभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये ।। (मुद्राराक्षस)

इत्यादि लिख दिया । किसी ने योग की तरफ देखा तो—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
सत्त्वोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
'यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्' । (वेणीसंहार)

कह दिया । कहीं सांख्य और वेदान्त की याद आयी तो बन गया—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम् ।
त्वद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ।। (कु० सं०)

वेदान्त की बहार के श्लोक देखना हो तो नैषध के अनेक स्थल देख लीजिए । देखिये कितनी बड़ी बात है—

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्यातवतोऽपि पातः ।
प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नह्यन्ति न ह्यन्तिमदेहमाप्तान्[1] **।।**

कहने के लिए तो श्रीहर्ष ने न्याय और वैशेषिक की हँसी उड़ाई है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।।
ध्वान्तस्य वामोरुविचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।।

परन्तु जिसे नैयायिक के मुक्ति का स्वरूप और उस पर किये गये वेदान्तियों के मार्मिक आक्षेपों का पता नहीं, वह इस उपहास को समझाते समय क्या स्वयं ही उपहसनीय नहीं बन जायेगा । जिसने वैशेषिक के जगत् की

---

१. नैषध, २२ सर्ग ।

कहानी नहीं जानी है और जिसने यह नहीं समझा है कि वैशेषिक के प्रायः सभी ग्रन्थों में अन्धकार पर विचार किया गया है, वह उस उपहास को क्या समझेगा। फिर 'उलूक', 'गोतम' और 'दर्शन' को तो देखिए। क्या इसके लिए कुछ कम मर्मज्ञता की आवश्यकता है ? इसलिए साहित्य का अधिकारी सर्वशास्त्र के मर्म को जानने वाला ही हो सकता है।

'साहित्यसंगीतकला' से जिन संस्कारों की ओर भर्तृहरि का सङ्केत है, वे मनुष्यता के सम्पादक हैं—उनके बिना मनुष्य शरीर पाने पर भी कोई मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका कहना प्रत्यक्षर सत्य है—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ।।

संस्कृत में अन्य शास्त्रों के समान साहित्यशास्त्र पर भी गम्भीर, विचारपूर्ण ग्रन्थ बने हैं। ऋषियों, मुनियों और प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने बड़ी गहरी छान-बीन के साथ इसके हर एक अङ्ग की विवेचना की है।

किसी भी शास्त्र का पूर्ण परिज्ञान तथा उसके रहस्य की जानकारी तब तक नहीं हो सकती, जब तक तत्सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के रहस्य को न समझा जाय। इसी सूत्र को दृष्टिगत करके काव्यशास्त्रीय शब्दों के ऊपर निरुक्ति का उद्देश्य प्रस्तुत हुआ है। काव्यशास्त्र की सीमा एवं क्षेत्र के निर्धारण के लिए उसके इतिहास पर भी एक दृष्टि जानी चाहिए, इसलिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कहा गया है कि साहित्यशास्त्र के पूर्ण अवबोध के लिए प्रत्येक शास्त्र की अभिज्ञता भी समाविष्ट है। यहाँ नास्तिक दर्शन में मूर्धन्य बौद्ध-दर्शन को दृष्टिगत करके साहित्यशास्त्र में आये हुए बौद्धदार्शनिक शब्दों की निरुक्ति अग्रिम अध्याय का सङ्कल्प है।

तृतीय अध्याय

बौद्धदार्शनिक शब्दों की निरुक्ति

'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्'[१]। आचार्य राजशेखर ने कहा है कि काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है और वह सम्पूर्ण विद्यास्थानों का एकत्र आधार है। इसका अन्य शास्त्र इसलिए अनुधावन करते हैं कि यह गद्यपद्यमय होता है, कविकर्म होता है तथा सुकुमारमति को भी सुखपूर्वक हितोपदेशक होता है। उन्होंने अन्यत्र कहा है कि चार विद्याओं के अतिरिक्त पाँचवीं साहित्यविद्या है। वह चारों विद्याओं का सारतत्त्व है। यथा—

'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः'[२]।

साहित्यशास्त्र सर्वविद्या का निष्यन्दभूत है एवं सबका उपकारक है। यद्यपि विद्याओं की गणना करते हुए चौदह विद्या ही कही गयी हैं। वे चौदह विद्यास्थान हैं—चार वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व), षड् अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) और चार शास्त्र (मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण)। जैसा कि कहा गया है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार ये चौदह विद्यायें इस प्रकार हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश[३]॥

इसके अतिरिक्त इन चौदह विद्याओं में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र को मिला देने पर ये विद्या अट्ठारह की संख्या में हो जाती हैं। जैसा कि कहा गया है—

---

१. काव्यमीमांसा, अ० २, पृ० ९; २. वहीं, अ० २, पृ० १०।
३. या० स्मृ० १.३।

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ।।

ये चौदह विद्यायें भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों में प्राप्य सम्पूर्ण वस्तुओं को व्याप्त करती हैं । इस विषय में कहा गया है—

विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम् ।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोह उक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम् ।।

अर्थात् जो हजार वर्षों तक जीता रहे, वह भी इन विद्यास्थानों का अन्त नहीं पा सकता, अर्थात् हजार वर्षों में भी इनका पूर्णज्ञान सम्भव नहीं है । अतः संक्षेप में ही इसका सार कह दिया गया है । इसका विस्तार ग्रन्थ-विस्तार से डरने वाले लोगों की प्रसन्नता के लिए नहीं किया गया है ।

आचार्य राजशेखर ने साहित्य-विद्या को सम्पूर्ण विद्याओं का आयतन (घर) कहा है । इससे तो सिद्ध ही है कि साहित्यविद्या सम्पूर्ण विद्याओं का निष्यन्दभूत है; परन्तु इन चौदह विद्याओं के अतिरिक्त नास्तिक दर्शनादि का दर्शन इस साहित्यविद्या में होता है या नहीं । इस दिशा में देखने का प्रयास इस अध्याय में करने के लिए ही बौद्धदर्शन के शब्दों को आधार बनाया गया है ।

भारतीय दर्शन के विभाग

भारतीय दर्शन के दो विभाग हैं—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन । साधारणतः हम ईश्वरवादी को आस्तिक और अनीश्वरवादी को नास्तिक कहते हैं, अर्थात् ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाला ही आस्तिक है और जो इसके विपरीत हो, वह नास्तिक है; परन्तु दार्शनिक दृष्टि से आस्तिक, नास्तिक का अर्थ दूसरा है । पाणिनि व्याकरण (४.४.६०) में बताया गया है—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'–अर्थात् परलोक है, ऐसी मति (विचार) जिसकी है, वह आस्तिक है और परलोक नहीं है, ऐसी मति जिसकी है, वह नास्तिक है । इस प्रकार पुनर्जन्म आदि में विश्वास रखने वाला ही आस्तिक कहा गया है और इसके विपरीत नास्तिक । इसमें एक कठिनाई यह है कि जैन और बौद्ध पुनर्जन्म में बिल्कुल विश्वास रखते हैं फिर भी वे नास्तिक कहे गये हैं । अतः पुनर्जन्म में

विश्वास ही आस्तिक-नास्तिक का निर्णायक नहीं कहा जा सकता । आस्तिक-नास्तिक की एक दूसरी परिभाषा महात्मा मनु ने दी है, जो प्राय: मान्य है । मनु के अनुसार वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक हैं तथा वेद को प्रमाण न मानने वाले नास्तिक हैं—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्रनयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः[1] ।।

इस प्रकार वेदनिन्दक ही नास्तिक हैं । इसी दृष्टि से जैन और बौद्ध नास्तिक हैं, क्योंकि इन दोनों दर्शनों में वेद की निन्दा की गयी है । अत: ईश्वर को नहीं मानने वाला नास्तिक नहीं, वेद को नहीं मानने वाला नास्तिक है । यदि ईश्वर को नहीं मानना नास्तिकता है, तो परम आस्तिक मीमांसा-दर्शन नास्तिक माना जायेगा; क्योंकि मीमांसा में ईश्वर की मान्यता नहीं है । यदि पुनर्जन्म में विश्वास करना ही आस्तिकता है, तो नास्तिक जैन और बौद्ध भी आस्तिक कहे जायेंगे; क्योंकि इन दर्शनों में पुनर्जन्म की मान्यता है । अत: वेदनिन्दा ही नास्तिकता का पूर्ण लक्षण है ।

दर्शनों की संख्या

आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की संख्या कितनी है, इस विषय पर बहुत विचार किया गया है; परन्तु मुख्य रूप से आस्तिक दर्शन छ: माने गये हैं । इन्हें षड्दर्शन कहते हैं । आस्तिक षड्दर्शन हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) । नास्तिक षड्दर्शन हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध, बौद्धदर्शन में चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक । अत: सब मिलाकर नास्तिक दर्शन भी छ: प्रकार का हो जाता है ।

भारतीय दर्शनों में मौलिक समानता

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय है । वैदिक, श्रमण आदि संस्कृतियों का बाह्य स्वरूप अवश्य ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है; परन्तु इनमें आन्तरिक साम्य है । दार्शनिक विचारों में विषमता अवश्य दृष्टिगोचर होती है; परन्तु इनमें मौलिक साम्यता भी है । भारतीय दर्शन सिद्धान्तों का सागर है,

१. मनु० २.११ ।

इसमें अनेक सम्प्रदाय हैं; परन्तु सभी सम्प्रदायों में परस्पर सामञ्जस्य है । अतः शाखावच्छेदेन भारतीय विचारधारा में विषमता है; परन्तु मूलावच्छेदेन एकता है । इस मौलिक एकता को ही भारतीय दर्शन की पारस्परिक समानता कहते हैं । इसे ही भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य भी कहा जाता है । इस मौलिक साम्य का स्वरूप निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने से स्पष्टतः प्रतीत होता है ।

पाश्चात्य जगत् में दर्शन का जन्म आश्चर्य से होता है (Philosophy begins in wonder) । दर्शन केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति है, शुद्ध बौद्धिक है; परन्तु भारतीय दर्शन का उद्देश्य व्यावहारिक है । भारत में दर्शन सत्य का अन्वेषण है । दर्शन जीवन-यापन का मार्ग बतलाता है । भारत में प्रत्येक दर्शन एक सम्प्रदायविशेष की देन है । उस सम्प्रदाय के लोग अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन-यापन करते हैं । अतः दर्शन केवल बौद्धिक सिद्धान्तों का आगार नहीं, वरन् जीवन के लिए उपयोगी सत्यों का भण्डार है ।

बौद्धदर्शन के प्रवर्तक

बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध हैं । इनका जन्म वैशाखी पूर्णिमा को ५६३ ई० पूर्व नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु नामक नगर (लुम्बिनी बाग) में हुआ था । इनके पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम माया देवी था । इनके पिता शुद्धोदन शाक्यवंशी क्षत्रियों के राजा थे । उनका राज्य-क्षेत्र नेपाल का दक्षिणी भाग था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी । बुद्धदेव के जन्म समय का नाम सिद्धार्थ था । बाद में इनका पारिवारिक नाम गौतम रखा गया । जन्म के एक सप्ताह के बाद ही इनकी माता माया देवी का देहान्त हो गया, इसके बाद इनका पालन-पोषण इनकी सौतेली माता महाप्रजापति ने किया । ये सोलह वर्ष की अवस्था तक क्षत्रियोचित शिक्षा ग्रहण किये । सोलहवें वर्ष में शस्त्र और शास्त्र में निपुणता ग्रहण कर यशोधरा नामक पत्नी का वरण किया । तीन वर्षों तक राज-पाट के विपुल वैभव का आनन्द लेते रहे तथा 'राहुल' नामक पुत्ररत्न को प्राप्त किया ।

जन्म से ही गौतम अत्यन्त शान्त प्रकृति के थे, इनकी प्रवृत्ति संन्यास-मूलक थी । इनकी रुचि योग में थी, इसीलिए राजकीय भोग इन्हें रोग के समान लगता था ।

एक दिन मनबहलाव के लिए स्वर्ण-सुसज्जित रथ पर नगर में घूमते हुए इनकी दृष्टि एक वृद्ध, एक रोगी तथा एक शव पर पड़ी । राजकुमार गौतम ने इन तीनों रूपों में असार संसार का नग्न रूप देखा । फलतः जरा-मरण और व्याधि के निदान के लिए ये संसार छोड़कर ज्ञानप्राप्ति के लिए निकल पड़े । बारह वर्षों तक ध्यान में लीन रहे, तब इन्हें बोधि प्राप्त हुआ, इसके बाद गौतम बुद्ध हो गये । बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद एकाएक इनके मुखारविन्द से उपदेशात्मक धारा फूटी । उस समय भगवान् बुद्ध की अवस्था लगभग चालीस साल की थी । उनको बोधि की प्राप्ति वैशाखी पूर्णिमा को ही हुई थी । बोधि की प्राप्ति वृक्ष (बोधगया) में हुई थी । वहाँ से उन्होंने ऋषिपत्तन (सारनाथ) में पाँच भिक्षुकों (पञ्चवग्गीय भिक्खु) को सर्वप्रथम उपदेश दिया, जो धर्म-चक्र-प्रवर्तन-सूत्र (धम्मचक्कपवत्तनसुत्त) के नाम से विख्यात है । उन पाँच भिक्षुओं को 'बहु-जनहिताय बहुजनसुखाय' उपदेशामृत का प्रचार करने के लिए अन्य स्थानों में भेजा । इस प्रकार भगवान् बुद्ध की मण्डली बढ़ने लगी, संघ बने, बड़े-बड़े विहारों का निर्माण हुआ ।

भगवान् बुद्ध की वाणी मीठी थी, भाषा सरल थी, उपदेश सीधे थे, भाव में कोई दुराव न था । अतः जनता मुग्ध होकर इनके उपदेशामृत का पान करने लगी । सारे भारत में थोड़े ही दिनों में **'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि'** का नारा गूँजने लगा । उनके उपदेश का अन्तिम लक्ष्य है—'सभी संस्कार नाशवान् हैं, प्रमादविहीन अपने जीवन के लक्ष्य को पूरा करो' ।

बौद्ध-साहित्य का आधार

भगवान् बुद्ध ने अपने जीवनकाल में न तो किसी ग्रन्थ की रचना की और न करायी ही । वे एक सच्चे धर्मोपदेशक थे । लोगों को सही मार्ग दिखाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था । वे तत्कालीन जनसाधारण को पालि-भाषा में अपने सीधे-सादे उपदेशों को सुनाते थे । तथागत के उपदेशों को भिक्षु कण्ठस्थ करते थे और उन उपदेशों का पाठ किया करते थे । तथागत के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके उपदेशों को सङ्कलित करने की दृष्टि से राजगृह में ४८३ ई० पू० प्रथम 'धर्म-संगति' हुई । इस सभा में भिक्षु उपाली ने 'विनय' का पाठ किया तथा भगवान् बुद्ध के परमप्रिय शिष्य आनन्द ने सुत्त और अभिधम्म का पाठ किया । इस सभा में तथागत के सम्पूर्ण उपदेशों को तीन पिटकों अर्थात् भागों

में विभक्त कियां गया—**सुत्तपिटक, विनयपिटक** और **अभिधम्मपिटक** । सम्राट् अशोक की संरक्षता में पाटलिपुत्र में ई० पू० २४६ में बौद्ध-धर्म की तीसरी संगति हुई । इस सभा में व्यक्तिगत और समष्टिगत निर्वाण आदि विषय पर विचार हुंआ, जो आगे चलकर हीनयान, महायान के भेद का आधार बना । इस सभा में अनेक सूत्र तथा गाथा त्रिपिटक में जोड़े गये । आज तक त्रिपिटक का वही स्वरूप समाज में विद्यमान है । अशोक ने त्रिपिटक को बाहर के देशों में भेजकर बौद्ध-धर्म का प्रचार कराया । पहली शताब्दी में लङ्का के राजा वट्टगामनी ने त्रिपिटक को लङ्का में लिपिबद्ध कराया ।

बौद्ध-धर्म की चौथी संगति कनिष्क (ई. पू० ७३-१०३) के समय हुई । इस समय बौद्ध-धर्म अठारह सम्प्रदायों में बँटा था । कनिष्क ने इन सम्प्रदायों के आपसी भेद को मिटाने के लिए ही यह धर्म-सभा बुलायी थी । इस सभा में त्रिपिटक पर टीका लिखने का निश्चय किया गया । कनिष्क के समय सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक का संस्कृत में अनुवाद किया गया तथा उन्हें ताम्रपत्रों पर अङ्कित किया गया । इस समय त्रिपिटक का प्रचार लङ्का, वर्मा, चीन, श्याम, मलाया आदि देशों में किया गया ।

बौद्ध-साहित्य का विवरण

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध-साहित्य का आधार त्रिपिटक है । त्रिपिटक तीन हैं—सुत्त, विनय और अभिधम्म ।

सुत्तपिटक—यह सर्वसाधारण जनता के लिए उपदेशों का संकलन है । इसमें भगवान् बुद्ध तथा उनके शिष्यों के भी वचनों का संग्रह है । प्रधान भिक्षुक-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं का भी जीवन-चरित्र है । इसमें बुद्ध-कालीन धर्म, समाज, सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, इतिहास आदि सभी का उल्लेख मिलता है । सुत्तपिटक पाँच निकायों में विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, खुद्दकनिकाय । खुद्दकनिकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं—खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमान-वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देश, पटिसम्भिददामग्ग, अप-दान, बुद्धवंश और चरियापिटक । सुत्तपिटक के प्रत्येक सूत्र में 'एवं मे सुतं' अर्थात् 'ऐसा मैंने सुना' आया है ।

विनयपिटक—यह मुख्यत: आचार सम्बन्धी नियमों का संकलन ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में भिक्षुक बनाने से लेकर भिक्षुक के चरित्र सम्बन्धी सभी नियमों का वर्णन है । इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सुत्तविभङ्ग, खंधक और परिवार । सुत्तविभङ्ग के भी दो भाग हैं—भिक्खु-विभङ्ग और भिक्खुनी-विभङ्ग । खन्धक के भी दो भाग हैं—महावग्ग, चुल्लवग्ग । विनयपिटक में प्रत्येक सूत्र 'तेन समयेन' अर्थात् 'उस समय से' प्रारम्भ होता है ।

अभिधम्मपिटक—यह ग्रन्थ महात्मा बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संकलन है । इस ग्रन्थ में सबसे अधिक विवेचन द्वादश निदान या भवचक्र का है । संस्कार-वेदना, संज्ञा आदि का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है । बौद्ध भिक्खुओं के लिए यह परमावश्यक उपयोगी ग्रन्थ है । अभिधम्मपिटक में सात ग्रन्थ हैं—धम्मसंगणी, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गल, पञ्ञति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान । अभिधम्मपिटक के सभी सूत्र में 'तस्मिं खो पन समये' अर्थात् 'उस समय में' कहा गया है ।

त्रिपिटक तो मूलत: पालि-भाषा में ही लिखे गये; किन्तु आज विश्व की प्राय: प्रत्येक भाषा में इनका अनुवाद उपलब्ध है । तिब्बती, चीनी, जापानी, सिंघली, वर्मी, श्यामी आदि भाषाओं में तो त्रिपिटक टीका, उपटीका आदि सहित उपलब्ध हैं । कुछ का अनुवाद संस्कृत में भी हुआ है ।

महायान बौद्ध-ग्रन्थ अधिकतर संस्कृत में हैं, जैसे नागार्जुन की माध्यमिक-कारिका, विग्रहव्यावर्तनी, आर्यदेव का चतु:शतक, चक्रवर्ती की प्रसन्नपदा, माध्यमिकवृत्ति, माध्यमिक अवतार, शान्तिदेव का बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, प्रज्ञाकरमति का बोधिचर्यावतारपञ्जिका, असङ्ग का महायानसूत्रालङ्कार, बोधिसत्त्वभूमि, वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिस्वभावनिर्देश, मैत्रेयनाथ का मध्यन्तविभाग, दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, आलम्बनपरीक्षा, धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, मनोरथनन्दी की प्रमाणवार्तिकवृत्ति, धर्मोत्तर की न्यायविन्दुटीका, शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह, कमलशील की तत्त्वसंग्रहपञ्जिका आदि बौद्ध-साहित्य अनन्त हैं ।

बौद्धदर्शन के सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध के मूलभूत उपदेश चार आर्य-सत्य हैं । इन आर्य-सत्यों में दूसरा आर्य-सत्य दु:खसमुदय है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त कहलाता है । यह सिद्धान्त अन्य सभी दार्शनिक विचारों का आधार है । अनित्यवाद

और अनात्मक दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतीत्यसमुत्पाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रतीत्यसमुत्पाद को ही कार्यकारणसिद्धान्त भी कहते हैं । भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में बतलाया है कि सभी संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कार दु:ख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं—इस प्रकार जब व्यक्ति प्रज्ञा से देखता है, तो सभी दु:खों से निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ।

चार आर्य-सत्य

भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सारांश उनके चार आर्य-सत्यों में निहित है । ये चार आर्य-सत्य ही तथागत धर्म तथा दर्शनों के मूलाधार हैं । बोधि प्राप्त होने के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम इन्हीं चार आर्य-सत्यों का उपदेश सारनाथ में किया था, अत: ये चारों आर्य-सत्य सर्वप्रथम 'धम्मचक्कपवत्तनसुत्त' (सारनाथ में प्रथम उपदेश) में पाये जाते हैं । प्रथम उपदेश में इन आर्य-सत्यों का दिग्दर्शन कराया गया है । इन आर्य-सत्यों की विस्तृत व्याख्या 'महावग्ग' में की गयी है । 'महावग्ग' में इन आर्य-सत्यों को ही बौद्धदर्शन की आधार-शिला बतलाया गया है । तात्पर्य यह है कि धर्म और दर्शन दोनों के आधार आर्य-सत्य ही हैं । इन आर्य-सत्यों का महत्त्व बतलाते हुए भगवान् 'महापरि-निर्वाणसूत्र' में कहते हैं—भिक्षुओं, इन चार आर्य-सत्यों को भली-भाँति न जानने के कारण ही मेरा और तुम्हारा संसार में जन्म-मरण और दौड़ना दीर्घ-काल से जारी रहा । इस आवागमन के चक्र में हम सभी दु:ख भोगते रहे । विभिन्न योनियों में भटकते रहे । अब आवागमन नहीं होना है[१] ।

चार अर्थ-सत्य हैं—दु:ख, दु:खसमुदय (निर्वाण) और दु:खनिरोध-गामिनी प्रतिपत् अर्थात् निर्वाणमार्ग । सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि सांसारिक जीवन दु:खों से परिपूर्ण है, दु:खों का कारण है, दु:खों का अन्त है और दु:ख के अन्त का उपाय है ।

बौद्धदर्शन के सम्प्रदाय

बौद्धधर्म का प्रारम्भिक स्वरूप व्यावहारिक है । तत्त्वसम्बन्धी विवेचन या तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी विचारों का महात्मा बुद्ध के उपदेश में कोई स्थान नहीं । बौद्धधर्म में तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी प्रश्नों को अव्याकृत कहा गया है । भगवान् बुद्ध के अनुसार अव्याकृत प्रश्न निम्न हैं—संसार शाश्वत है या अशाश्वत,

---

१. महापरिनिव्वानसुत्त ।

संसार शान्त है या अशान्त, आत्मा और शरीर में भेद है या अभेद, मृत्यु के बाद तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं ? इत्यादि । इन प्रश्नों को भगवान् बुद्ध ने निरर्थक समझा; क्योंकि इन प्रश्नों का दु:ख तथा दु:खनिरोध से कोई सम्बन्ध नहीं, ये प्रश्न सम्बोधि के लिए उपयुक्त नहीं । तथागत ने अव्याकृत को एक अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टान्त से स्पष्ट किया है—

किसी आदमी को अत्यन्त विषाक्त तीर लगा है, तो उसे शीघ्र तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जाना चाहिए या यह प्रश्न करने की आवश्यकता है कि तीर मारने वाला व्यक्ति क्षत्रिय था या ब्राह्मण अथवा शूद्र ? तीर मारने वाले का नाम-गोत्र क्या था, अथवा तीर मारने वाला लम्बा था या नाटा ? इत्यादि । ये सभी प्रश्न निरर्थक हैं । अव्याकृत हैं । केवल चार आर्य-सत्य ही सार्थक हैं, व्याकृत हैं; क्योंकि ये निर्वेद, विराङ्ग, निरोध, उपशम, सम्बोधि और निर्वाण के लिए हैं । अत: बौद्धधर्म का प्रारम्भिक स्वरूप अत्यन्त व्यावहारिक है ।

तथागत के महानिर्वाण के बाद बौद्धधर्म में भी तत्त्वसम्बन्धी ऊहापोह प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे दार्शनिक विवादों का जन्म होने लगा । फलत: बौद्धधर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया । मुख्यरूप से बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय माने गये हैं—

१. वैभाषिक—बाह्यार्थ-प्रत्यक्षवाद
२. सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद
३. योगाचार—विज्ञानवाद
४. माध्यमिक—शून्यवाद ।

इन चारों में बाह्यप्रत्यक्षवाद और बाह्यार्थानुमेयवाद हीनयान के अन्तर्गत हैं तथा विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान के अन्तर्गत हैं । उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों का वर्गीकरण सत्ताविषयक प्रश्न को लेकर है । सत्ताविषयक प्रश्न भी दो भागों में विभक्त है—वस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व है या नहीं ? पुन: बाह्य वस्तुओं का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—माध्यमिक किसी भी बाह्यसत्ता या आन्तरिक वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते, अत: वे शून्यवादी हैं । योगाचार के अनुसार केवल आन्तरिक जगत् या विज्ञान ही सत् है, अत: ये विज्ञानवादी हैं । कुछ लोग आन्तरिक

और बाह्य सभी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, अतः वे सर्वास्तिवादी हैं। इनके दो भेद हैं। कुछ लोग मानते हैं कि बाह्य वस्तु प्रत्यक्षजन्य है—ये वैभाषिक कहे जाते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि बाह्य वस्तु अनुमेय है—ये सौत्रान्तिक हैं। जैसा कि कहा गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्त्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भासते ।।

उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों के सामान्य सिद्धान्त की जानकारी के लिए उनका संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैभाषिक-मत

इस मत के अनुसार सभी आन्तरिक और बाह्य भूत और भौतिक, चित्त और चैत्तिक वस्तुओं का अस्तित्व है। इस मत को सर्वास्तिवाद कहा जाता है; क्योंकि यह सभी वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करता है। सर्वास्तिवादी निकायों के अनुसार सभी धर्मों का अस्तित्व है—अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध इन सबका अस्तित्व है। यहाँ धर्म का अर्थ है सभी भूत तथा चित्त के सूक्ष्मतत्त्व, जो स्वलक्षणसम्पन्न कहे जाते हैं। यही धर्म-परिचय प्रज्ञा कहा गया है। सारा जगत् धर्म का संघात कहा गया है। ये सभी धर्म क्षणिक हैं, हेतु से उत्पन्न हैं। इन धर्मों का निरोध है, महाश्रमण ने इन धर्मों का निरोध बतलाया है—

'ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यभवत् ।
अवदच्च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः' ।।

धर्म के दो विभाग हैं—संस्कृत और असंस्कृत। रूपादि स्कन्धपञ्चक संस्कृत धर्म हैं। आकाश, प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध असंस्कृत धर्म कहे गये हैं। धर्म का हेतु प्रभव होना ही संस्कृत लक्षण है। यह कार्य-कारण नियम है, प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसके अनुसार सभी धर्म कार्य–कारण नियम सूत्र में बँधे हैं। धर्म असंस्कृत भी हैं-प्रतीत्यसमुत्पाद का नाश सम्भव है, निर्वाण ही इसका अन्त है। यह संघातों का नाश है, असंस्कृत धर्म है। आत्मा रथ के समान एक संज्ञा मात्र है, पञ्चस्कन्ध समुदाय है, इत्यादि वैभाषिक के मुख्य सिद्धान्त हैं।

सौत्रान्तिक-मत

सूत्रान्त अर्थात् बुद्ध-वचन को प्रमाण मानने के कारण ये सौत्रान्तिक कहलाते हैं। ये वैभाषिक के समान अभिधम्म की 'विभाषा टीका' को प्रमाण नहीं मानते। सौत्रान्तिक लोग भी वैभाषिक के समान सर्वास्तिवादी हैं; क्योंकि ये सभी बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं; किन्तु इनके अनुसार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं, अनुमानगम्य है। सौत्रान्तिक विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं, जो वस्तु की सत्ता नहीं मानते तथा केवल विज्ञान को ही सत् मानते हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञानवादी केवल चित्त की सत्ता मानते हैं, बाह्य वस्तु की नहीं।

१. विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान तथा वस्तु के द्वैत को नहीं मानते। उनका कहना है कि आन्तरिक विज्ञान अज्ञानवश बाह्य वस्तु के समान प्रतीत होता है। सौत्रान्तिक का कहना है कि यदि बाह्य वस्तु की सत्ता ही नहीं है, तो 'बाह्य वस्तु के समान प्रतीति का अर्थ क्या' ? कोई भी यह नहीं कहता कि अमुक वस्तु वन्ध्यापुत्र के समान है; क्योंकि वन्ध्यापुत्र बिल्कुल असत् पदार्थ है। अत: बाह्यवस्तु के समान कहने से ही बाह्य वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है।

२. विज्ञानवादी वस्तु और विज्ञान की समकालीन उत्पत्ति अर्थात् सहोत्पत्ति मानते हैं। अत: इनमें अभेद है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि वस्तु और ज्ञान दोनों एक क्षण में नहीं उत्पन्न हो सकते। हमें ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न है। घट-ज्ञान का विषय घट है, जो ज्ञानकाल में विद्यमान है; परन्तु इस ज्ञान का फल अनुव्यवसाय है, अर्थात् बाद में 'मैं घट ज्ञान वाला हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। यदि ज्ञान का विषय और फल एक ही होते, तो दोनों में भेद नहीं होता। इससे सिद्ध है कि घट-पट आदि बाह्य विषय हैं; क्योंकि इस ज्ञान के विषय और अनुव्यवसाय में हमें स्पष्टत: भेद प्रतीत होता है।

३. विज्ञानवादी वस्तु और ज्ञान में भेद नहीं मानते। सौत्रान्तिकों के अनुसार यह उचित नहीं। ज्ञान आन्तरिक है और घट बाह्य है। यदि घट की सत्ता ज्ञानरूप ही है, तो 'घट है' के लिए कहा जा सकता है 'मैं हूँ'; परन्तु ऐसा होता नहीं। यह व्यवहार का विप्रलोप है।

४. ज्ञान में भेद वस्तुभेद से ही सम्भव है । नील-ज्ञान पीत-ज्ञान से भिन्न है । इन नील-पीतादि वस्तुओं की सत्ता न मानने पर ज्ञानवैचित्र्य की व्याख्या नहीं हो पायेगी ।

पुनः सौत्रान्तिक कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता अनुमेय है । ज्ञान के चार कारण हैं—आलम्बन, समनन्तर, अधिपति और अधिकारी । वस्तु-स्वरूप से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वही **आलम्बन** है । वस्तु-ज्ञान की पूर्ववर्ती चेतना **समनन्तर** है । विषय का रूपज्ञान, स्पर्शज्ञान इन्द्रियों के कारण होता है, अतः इन्द्रियाँ **अधिपति** कारण हैं । विषय-ज्ञान के लिए आलोक-संयोग आदि सहकारी हैं । इन चार कारणों के बल पर ही हमें बाह्य विषयों का अनुमान-जन्य ज्ञान होता है ।

योगाचार विज्ञानवाद

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है, वस्तु की नहीं । विज्ञान चित्त, मन और विज्ञप्ति सभी समानार्थक हैं, अथवा पर्यायवाची हैं । चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने से विज्ञान **चित्त** कहलाता है । मनन क्रिया से सम्बन्ध होने से **मन** और विषयों का ग्राहक होने से **विज्ञान** है । जैसा कि कहा गया है—

चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मन्त्रमात्मकम् ।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते ।।

अतः मन, चित्त, विज्ञप्ति इत्यादि रूप में केवल विज्ञान की सत्ता है । विज्ञान के अतिरिक्त शरीरादि बाह्य विषयों की प्रतीति केवल भ्रान्ति है । वास्तव में शरीरादि हमारे मन के भीतर ही हैं, बाह्य नहीं । विज्ञानवादियों का कहना है कि जिस प्रकार हम स्वप्न में विषयों को मन के बाहर मान लेते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी हम भ्रान्तिवश विषयों को बाह्य मान लेते हैं । यथार्थ दृष्टि से मन या मानसिक अवस्थाओं के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं । सभी वस्तु चित्तरूप हैं । आत्मा आदि कोई भी पदार्थ द्रव्य नहीं । आत्मा पञ्चसंघात का समुदाय है । पञ्चसंघात केवल संज्ञा है, कोई वस्तु नहीं । अतः योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य जगत् विद्यमान नहीं । चित्त (विज्ञान) की ही एकमात्र सत्ता है । नानारूप इस चित्त के परिणाम हैं । कभी चित्त शरीर का रूप धारण करता है और कभी भोगरूप धारण करता है । यथार्थ में सभी रूप चित्तमात्र ही हैं—

दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ।।

योगाचारमतानुयायी वस्तु और विज्ञान में भेद नहीं मानते । उनका कथन है कि वस्तु और विज्ञान दोनों का अलग-अलग ग्रहण नहीं होता । योगाचार तो 'सहोपलम्भ-नियम' को मानते हैं । इस नियम के अनुसार वस्तु और विज्ञान में भेद नहीं । नील-वस्तु और नील-विज्ञान दोनों एक ही हैं— **सहोलम्भनियमाद् अभेदो नीलतद्धियोः** । हमें दोनों का अलग-अलग ग्रहण नहीं होता; अतः दोनों में भेद मानने का कोई आधार नहीं । इसी अभेद-युक्ति के आधार पर विज्ञानवादी वस्तुवादी का खण्डन करते हैं ।

माध्यमिक शून्यवाद

शून्यवाद के मूल प्रवर्तक आचार्य अश्वघोष हैं; परन्तु इस वाद को सम्प्रदाय का रूप देने वाले आचार्य नागार्जुन हैं । नागार्जुन के पहले भी महायानसूत्रों में शून्यवाद का उल्लेख प्राप्त होता है; परन्तु आचार्य नागार्जुन ने असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त विचारों को सुसम्बद्ध और संगृहीत किया । नागार्जुन की माध्यमिककारिका और आर्यदेव की चतुःशतिका शून्यवाद के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं ।

साधारणतः शून्यशब्द का अर्थ असत् या अभाव समझा जाता है । इस प्रकार लोकव्यवहार में शून्यवाद का प्रसिद्ध अर्थ है 'सकल सत्ता का निषेध' या अभाव । इसी साधारण अर्थ का ग्रहण करने के कारण शून्यवाद को 'सर्व-वैनाशिकवाद' कहा गया है; परन्तु माध्यमिक आचार्यों ने शून्य का अर्थ 'नास्ति' या अभाव नहीं माना है । माध्यमिकों के अनुसार शून्य का अर्थ है 'अनिर्वचनीय' । संसार को मानसिक या बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता । किसी पदार्थ का स्वरूप निर्णय करने में चार कोटि का प्रयोग सम्भव है— अस्ति (भाव), नास्ति (अभाव), उभय (भावाभाव) और नोभय (न भाव और न अभाव) वस्तु का स्वरूप न तो सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न सदसद्भिन्न है, अर्थात् वस्तु का स्वरूप अनिर्वचनीय है । जैसा कि माध्यमिक-कारिका में कहा गया है—

न सन् न नासन् न सदासन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः[१] **।।**

---

१. माध्यमिक-कारिका १.७ ।

वाणी और बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकती । इस प्रकार शून्य अभाव नहीं है—अभाव तो सापेक्ष है; क्योंकि अभाव भाव की अपेक्षा रखता है । शून्य निरपेक्ष है । यह समस्त प्रपञ्चात्मक जगत् शून्य का ही विवर्त है । परम-तत्त्व शून्य नहीं सत्य है, उसके विषय में शाब्दिक वर्णन नहीं हो सकता । तत्त्व की अवर्णनीयता, अनिर्वाच्यता ही शून्यता है । माध्यमिक दर्शन में शून्य एक दुधारी तलवार है । इसके दो रूप हैं, दो दृष्टिकोण हैं । एक दृष्टि से शून्यता अर्थ है—'स्वभावशून्य' और दूसरी दृष्टि से इसका अर्थ है प्रपञ्चशून्य, यह सत्य भी है मिथ्या भी, यह तत्त्व भी है और माया भी, यह निर्वाण भी है और संसार भी, यह परमार्थ भी है और व्यवहार भी । तत्त्व अनिर्वचनीय है; क्योंकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती । संसार अनिर्वचनीय है, अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है; किन्तु तत्त्व अनिर्वचनीय होने के कारण सत्य है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है । तत्त्व ही अविद्या के कारण संसार प्रतीत होता है और संसार ही विद्या से तत्त्वज्ञान लिया जाता है । निर्वाण और संसार में कोई अन्तर नहीं, केवल दृष्टिभेद है । संसार स्वभावशून्य है और तत्त्व प्रपञ्चशून्य है । संसार और निर्वाण दोनों अनिर्वचनीय हैं; किन्तु प्रथम अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है और द्वितीय सत्य । संसार के लिए प्रयुक्त शून्य का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न या स्व-भावशून्य और निर्वाण के लिए प्रयुक्त शून्य शब्द का अर्थ है अद्वय तत्त्व या प्रपञ्चशून्य ।

इस प्रकार शून्य का अर्थ है समग्र प्रपञ्च की निवृत्ति । वस्तुत: यह भाव-पदार्थ है, अभाव नहीं । जगत् के मूल में विद्यमान होनेवाला यह शून्य तत्त्व भावपदार्थ है । शून्यता ही प्रतीत्यसमुत्पाद है । प्रतीत्यसमुत्पाद अन्योन्यापेक्ष है, सापेक्षवाद का सिद्धान्त पर-निर्भरता है । संसार में कोई ऐसा धर्म नहीं, जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो, अर्थात् सभी धर्म शून्य हैं । इससे स्पष्ट होता है कि धर्मों के परावलम्बन को, उनकी परिवर्तनशीलता को, उनकी अनिवार्यता को शून्य कहते हैं । जो प्रत्ययाधीन है, वही शून्य है । इस मत को मध्यम मार्ग कहते हैं; क्योंकि इसके अनुसार वस्तु का स्वरूप न तो पूर्णत: भावरूप है और न अभावरूप ही । जैसा कि माध्यमिक-कारिका का वचन है—

यः प्रतीत्यसमुत्पादं शून्यतां वां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।।

यह मध्यम मार्ग अरस्तू के स्वर्णिम मध्यम (Golden mean), हीगेल के सम्पक्ष (Synthesis) और वेदान्त के समन्वय की भाँति सत्, असत् दोनों से विलक्षण है।

काव्यशास्त्र में बौद्धदर्शन के शब्द

यह सर्वविदित है कि साहित्य शब्द और अर्थ का सहभाव है। शब्द से शब्दप्रधान वेदशास्त्र का ग्रहण होता है तथा अर्थ से अर्थप्रधान पुराण, इतिहास को ग्रहण कर लिया जाय, तो साहित्य में वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास सबकी सह-स्थिति होती है। इसलिए साहित्य से सबका ज्ञान होता है। इसीलिए कहा गया है कि जिसे सभी शास्त्रों का ज्ञान नहीं और अच्छे प्रकार से प्रमेयों का विशुद्ध परिचय नहीं, वह साहित्य के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकता है। जैसे जिसे सांख्यशास्त्र के प्रमेयों का ज्ञान नहीं है, वह शिशुपालवध के निम्न श्लोक के सम्पूर्ण भाव को समझने से अनभिज्ञ ही रह जायेगा। श्लोक इस प्रकार है—

'उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः'[१] ।।

कवि ने इस श्लोक में सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र का रहस्य भर दिया है। यहाँ पर मुख्यरूप से सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल के लिए 'पुराविदः' शब्द आया है, जिसका अर्थ है—पूर्व सृष्टियों के विषय में जानने वाला। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'[२] ।

सांख्यशास्त्र में चार प्रकार के पदार्थ माने गये हैं—**१.** प्रकृति, **२.** प्रकृति-विकृति, **३.** विकृति और **४.** पुरुष। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा गया है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'[३] ।।

शिशुपालवध के उक्त श्लोक में भगवान् कृष्ण को क्रियाशून्य, प्रकृति के महदादि तेइस विकारों से विलक्षण तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न अनादि पुरुष

---

१. शिशुपालवध-१.३३; २. श्वेता० ५.२।
३. सा० का० ३।

कहा गया है । जब तक हम सांख्यकारिका के चार प्रकार के पदार्थों से पूर्ण परिचित नहीं होंगे, तब तक इस श्लोक का भाव पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो सकता है ।

१. **प्रकृति**—सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों की साम्य अवस्था का नाम है प्रकृति । यह सबका आदि कारण है और यह नित्य है । यह स्वयं किसी से पैदा नहीं होता है, उससे महान् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है । अर्थात् प्रकृति कारण तो है, पर कार्य किसी का नहीं है, इसलिए इसका नाम प्रकृति है ।

२. **प्रकृति-विकृति**—बुद्धि (महान्), अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) ये सात पदार्थ प्रकृति तथा विकृति उभयात्मक हैं, अर्थात् ये कारण भी हैं और कार्य भी । बुद्धि तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होता है, अत: वह प्रकृति का कार्य है, बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है, इसलिए बुद्धि अहङ्कार का कारण है । अहङ्कार बुद्धि से उत्पन्न होता है, अत: वह बुद्धि का कार्य है । यह अहङ्कार एकादश इन्द्रियों (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन) और पञ्च तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, अत: वह कारण है । पञ्च तन्मात्राएँ—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं, अत: ये अहङ्कार के कार्य हैं तथा क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश को उत्पन्न करती हैं, अत: ये कारण हैं । इसलिए सात पदार्थों को प्रकृति (कारण), विकृति (कार्य) दोनों कहा गया है ।

३. **विकृति**—पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा एकादश इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाणि, पाद, वाक् (वाणी), मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन) ये १६ तत्त्व केवल विकृति अर्थात् कार्य हैं; क्योंकि ये अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं, कारण किसी के नहीं हैं; क्योंकि इनसे कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता है ।

४. **पुरुष**—यह न प्रकृति है और न विकृति है तथा उभयात्मक भी नहीं है । वह तो इन सबसे विलक्षण नित्य शुद्ध, बुद्ध, चेतन, उदासीन पुरुष है । इसी पुरुष का व्याख्यान शिशुपालवध के उपरोक्त श्लोक में किया गया है ।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र सभी शास्त्र का समन्वयात्मक सार तत्त्व है । इसलिए हम यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि साहित्यशास्त्र में बौद्धदर्शन की

सहभागिता है या नहीं । साहित्यशास्त्र में बौद्धदर्शन के मतों को जगह-जगह अवश्य उपस्थापित किया है । बौद्धदर्शन के उपस्थापित शब्दों पर यहाँ विचार किया जा रहा है ।

१. अपोह—अप + वह् + क्त अर्थात् अप उपसर्गपूर्वक वह् धातु को उह् आदेश हो जायेगा तथा उससे क्त प्रत्यय करने पर अपोह शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—दूर हटाया गया, कल्पनापोढ़=कल्पनाया: अपोढः ।

आचार्य मम्मट ने सङ्केतग्रह के विषय में वैयाकरण, आलङ्कारिक तथा मीमांसकों के मतों को उपस्थापित किया है । इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि दार्शनिकों ने भी इस विषय पर विचार किया है । लेकिन मम्मट ने **'तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्'**[१] यह कहकर उपेक्षित कर दिया है । यहाँ **'तद्वान्'** शब्द से नैयायिकों के मत को एवं **'अपोह'** शब्द से बौद्धदार्शनिक शब्द को प्रस्तुत किया है ।

तद्वान् का अर्थ जातिमान् है । अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानना चाहिए, यह नैयायिक मत है । नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में । केवल व्यक्ति में सङ्केत-ग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं, तो केवल जाति में शक्ति-ग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है । जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाय, तो उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकेगा; क्योंकि 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दशक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है । आक्षेपलभ्य अर्थ शाब्दबोध में अन्वित नहीं हो सकता है । इसलिए नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता । इसलिए **'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः'** जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है, यह नैयायिक सिद्धान्त है ।

बौद्धदार्शनिकों का भी इस विषय में अपना अलग मत है । उनके मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' होता है । **'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' या तद्-भिन्नभिन्नत्व' है ।** दस घटव्यक्तियों में 'घटः घटः' इस प्रकार ही एकाकार प्रतीति का कारण नैयायिक आदि 'घटत्व सामान्य' को मानते हैं । उनका सामान्य एक

---

१. न्यायसूत्र–२.२.६८ ।

नित्य पदार्थ है; क्योंकि **'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्'** यह सामान्य का लक्षण है। इसके अनुसार सामान्य नित्य है; परन्तु बौद्धों का पहला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। उनके मत से सारे पदार्थ 'क्षणिक' हैं, इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य पदार्थ को नहीं मानते। उसके स्थान पर अनुगत प्रतीति का कारण वे 'अपोह' को मानते हैं। 'अपोह' शब्द बौद्धदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' होता है। अर्थात् दस घटव्यक्तियों में जो 'घट: घट:' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण 'अघटव्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है, प्रत्येक अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न है। इसलिए उसमें 'घट: घट:' यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है। उसी में सङ्केतग्रह मानना चाहिए। इस बौद्धमत का सङ्केत आचार्य मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थ:' लिखकर किया है। इस पक्ष का विस्तारपूर्वक विवेचन ग्रन्थगौरव के भय से तथा प्रकृत में विशेष उपयोग न होने से उन्होंने नहीं किया है।

आचार्य मम्मट ने सङ्केतित अर्थ के विषय में 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इस कारिकांश में १. जात्यादि और 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये हैं। इनमें 'जात्यादि:' यह पक्ष वैयाकरणों तथा आलङ्कारिकों का है और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसकों का है। 'जात्यादि' रूप प्रथम पक्ष के अनुसार जात्यादि अर्थात् १. जाति, २. गुण, ३. क्रिया और ४. यदृक्षा-रूप वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में सङ्केत होता है। इस पक्ष का आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:' यह महाभाष्य का वचन है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने 'गौ: शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकार:' इस प्रमाण को उद्धृत कर इन चारों को शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानने का उपपादन किया है।

'जातिरेव वा' यह मीमांसकों का पक्ष है। उनका सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति या सङ्केतग्रह होता है। अर्थात् केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित है। जाति-शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृक्षा शब्दों में भी जाति में ही सङ्केतग्रह मानना चाहिए। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति के कारण को 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृक्षा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है—जैसे शंख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में 'शुक्ल:, शुक्ल:' यह अनुगतप्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है, इसका कारण शुक्लत्व सामान्य ही है। जाति का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है।

उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत-एकाकार प्रतीति का हेतु सामान्य कहलाता है, यह किया गया है। जैसे दस घट व्यक्तियों में घटः घटः इस अनुवृत्तिप्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्व सामान्य' माना जाता है, उसी प्रकार दस जगह रहने वाले शुक्ल गुण में जिसके कारण 'शुक्लः शुक्लः' यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है, वह 'शुक्लत्व सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों के पाक में रहने वाली पाकक्रिया में पाकः, पाकः इस अनुगतप्रतीति का कारण 'पाकत्वसामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित यदृक्षा शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण विद्यमान उनके अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दों के समान शेष तीनों में भी जाति में ही सङ्केत मानना चाहिए और जाति को ही उन शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिए।

जाति या सामान्य के लक्षण में दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह सामान्य ही अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीति का कारण होता है। दूसरी बात यह है कि वह नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है। 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह भी सामान्य का दूसरी तरह लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादि को 'सामान्य' मानने में तो कोई कठिनाई नहीं होती है; क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्लरूप भिन्न-भिन्न हैं। अभी जात्यादि पक्ष की व्याख्या के अन्तिम भाग में अनेक पदार्थों में रहने वाले शुक्लादि गुणों के एकरूप होने का जो प्रतिपादन किया था, मीमांसक उस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल आदि को अभिन्न मानना अनुभव के विपरीत है; क्योंकि उनकी शुक्लता की प्रतीति में अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमें अनुगत-प्रतीति का कारण शुक्लत्व सामान्य को मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में भी पारमार्थिक भेद होने के कारण उनमें पाकत्व आदि जाति को प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित है। इसलिए जाति-शब्दों के समान गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्दों में भी जाति को ही प्रवृत्ति-निमित्त मानकर उसी में सङ्केतग्रह मानना उचित है, यह बात सिद्ध होती है।

आचार्य मम्मट ने सङ्केतग्रह के विषय में जो तीन-चार मत दिखलाये हैं, उनमें पहले के साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरे के साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथे के साथ 'तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थ इति कैश्चित्' शब्द का प्रयोग किया है। इनमें मम्मट को कौन मत अभीष्ट है। इस सम्बन्ध में नरसिंह ठक्कुर आदि

'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि इनमें से कोई भी मत ग्रन्थकार मम्मट को अभिमत नहीं है। इसलिए इन शब्दों के द्वारा सब मतों में अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। नरसिंह ठक्कुर ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि **'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः'**, अर्थात् व्यक्ति-पक्ष ही अधिक उचित होता है; परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्र में प्रायः व्याकरणशास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनाया गया है। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिख-कर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। इसलिए इस विषय में साहित्यशास्त्र में व्याकरण-सिद्धान्त के अनुसार जात्यादि चारों में मानना ही अभीष्ट है। मम्मटाचार्य भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं। उन्होंने यहाँ महाभाष्यकार के नाम का उल्लेख अपने मत के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए ही किया है।

श्रीमम्मटाचार्य ने इसी विषय पर 'शब्दव्यापारविचार' नामक एक और छोटा-सा प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी मीमांसक आदि अन्य मतों का खण्डन करके उन्होंने वैयाकरणसम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारों में सङ्केतग्रह मानने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने उस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा है—

'तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः'।

अर्थात् अभिधा शक्ति से प्रतिपादित होने वाला मुख्य अर्थ जाति आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए।

२. अर्थक्रियाकारिता—यह एक समस्त पद है, अर्थ + क्रिया + कारिता, इन तीन पदों का समास हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है। अर्थस्य क्रिया अर्थक्रिया तां करोत्येवं शीलमस्याः सा, अर्थक्रियाकारिणी तस्या भावोऽर्थक्रियाकारिता। अर्थक्रिया इस उपपद से कृ धातु से णिनि प्रत्यय करने पर इसकी सिद्धि होती है। जैसे घट जल की आहरणरूप क्रिया को करता है, इसलिए घट की अर्थक्रियाकारिता सिद्ध होती है।

आचार्य मम्मट ने कहा है—**'यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्यादव्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यते, इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः'**।

अर्थक्रियाकारिता का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'अर्थो दुग्धादिरूपप्रयोजनं तस्मै या क्रिया गौरानयनादिरूपा तत्कारिता तन्निर्वाहकत्ता', अर्थात् दुग्धादि-प्रयोजनरूप अर्थ के लिए जो गाय आदि की आनयनरूप क्रिया की जाती है, उसकी निर्वाहकता व्यक्ति में है, अत: व्यक्ति में ही सङ्केतग्रह होना चाहिए; परन्तु व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने से आनन्त्य तथा व्यभिचार दो प्रकार के दोषों की सम्भावना रहती है । अत: यह पक्ष समीचीन नहीं है ।

बौद्धदर्शन का अर्थक्रियाकारित्ववाद का सिद्धान्त है । बौद्धदार्शनिकों का कहना है कि किसी वस्तु की सत्ता का लक्षण है 'अर्थक्रियाकारित्व', अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति, अर्थात् कार्योत्पादन-सामर्थ्य । वर्तमान भूत से जन्य या उत्पन्न है, अर्थात् भूत वर्तमान को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है । प्रत्येक क्षण में जन्य-जनकत्वभाव है, अर्थात् प्रत्येक क्षण अपने पूर्व क्षण से जन्य है तथा उत्तर क्षण का जनक है । इस प्रकार प्रत्येक क्षण में जन्यजन-कत्व का सामर्थ्य या शक्ति है । उदाहरणार्थ बीज अङ्कुर में बदल जाता है, अर्थात् बीज में अङ्कुर उत्पन्न करने का सामर्थ्य है । किसी-किसी का कहना है कि बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति धरणी-सलिल-संयोग से होती है । यह ठीक है कि धरणी-सलिल अङ्कुर उत्पन्न करने में सहकारी कारण हैं; परन्तु बीज में उत्पादक शक्ति रहने पर ही धरणी-सलिल-संयोग आदि का फल है । जिस बीज में शक्ति नहीं, उसके लिए इन कारणों का कोई प्रयोजन नहीं ।

इस प्रकार बौद्धदार्शनिक सिद्ध करते हैं कि वस्तु के सत्त्व का अर्थ है 'अर्थक्रियाकारित्व'; क्योंकि वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है । प्रत्येक अर्थ (वस्तु) में क्रिया है; क्योंकि वह क्षणिक है, परिवर्त्तनशील है । क्षणिकत्व को स्वीकार किये विना सामर्थ्य-प्रतीति नहीं बनेगी । इसलिए सत्त्व के साथ क्षणिकत्व की व्याप्ति माननी पड़ती है । कार्यसत्त्व से कारणसत्त्व की अन्वयव्याप्ति बनती है तथा कार्याभाव से कारणाभाव की व्यतिरेक-व्याप्ति बनती है । क्षणिकत्व-सिद्धि से सामर्थ्य-सिद्धि अवश्य होगी । यदि क्षण-क्षण में परिवर्त्तन ही वस्तु का स्व-भाव है, तो परिवर्तन की शक्ति अवश्य ही वस्तु में माननी होगी । बीज क्षणिक है, वह अङ्कुर में परिवर्तित हो जाता है । अत: बीज में अङ्कुरोत्पत्ति की शक्ति या सामर्थ्य है । इस प्रकार बौद्धदार्शनिक सिद्ध करते हैं कि अर्थक्रियाकारित्व-रूप सामर्थ्य ही सत्त्व है; क्योंकि अङ्कुरादिगत कार्यत्व बीजादि के सामर्थ्य को उपस्थापित करता है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि जो सत् है, वह अर्थक्रिया-समर्थ है । जो अर्थक्रिया-समर्थ है, वह क्षणिक है; जो क्षणिक है, वह परि-वर्तनशील है । सत्ता और अर्थक्रिया-सामर्थ्य एक ही वस्तु के दो नाम हैं ।

जो अग्नि दाह और पाक में समर्थ है, वही यथार्थ अग्नि है। जो न जला सकती है, न पका सकती है, न उजाला कर सकती है, वह अग्नि नहीं। अर्थक्रिया में असमर्थ वस्तु का विचार तो किसी कामिनी का षण्ड (नपुंसक) के रूप-विरूप की परीक्षा करने के समान व्यर्थ है। जो क्षणिक है, वही अर्थक्रिया में समर्थ है। नित्य पदार्थ तो शशशृङ्ग के समान अविद्यमान है।

यह अर्थक्रियाकारित्व क्षणभङ्गवाद पर आधारित है तथा क्षणभङ्गवाद प्रतीत्यसमुत्पाद पर। इसलिए यहाँ क्षणभङ्गवाद और प्रतीत्यसमुत्पादवाद को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः संक्षेप में उन पर भी विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। क्षणभङ्गवाद प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है, अतः पहले प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद—प्रति + इण् + ल्यप् + प्रतीत्य = समुत्पाद-सम् + उत + पद + घञ् = प्रतीत्यसमुत्पादः, प्रतीत्य शब्द में प्रति उपसर्ग प्राप्त्यर्थक है। प्रति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् धातु से पूर्वकाल अर्थ में ल्यप् होता है। प्रतीत्य शब्द ल्यबन्त है। इसका अर्थ है, प्राप्त करके या अपेक्षा करके समुत्पाद शब्द सम् उत् इन दो उपसर्गों से युक्त पद् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यह शब्द प्रादुर्भाव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—अपेक्ष्य उत्पत्ति या प्राप्य उत्पत्ति। अपेक्षा करके उत्पत्ति अथवा प्राप्त करके उत्पत्ति।

अथवा 'समुत्पद्यते यत् तत् समुत्पादः'। सम् उत् उपसर्गक पद् धातु से कर्म में घञ् होकर समुत्पाद शब्द की निष्पत्ति होती है। अपेक्षा कर या प्राप्त कर जो उत्पन्न हो, उसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त ही प्रतीत्यसमुत्पादवाद है।

सौगतशास्त्र में प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता कहा गया है। आचार्य नागार्जुन ने माध्यमिक-कारिका के मङ्गल श्लोक में ही प्रतीत्यसमुत्पाद को विश्लेषित किया है। जैसे—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्[१] ॥

---

१. मा० का० १-२।

अर्थात् निरोध, उत्पत्ति, उच्छेद से रहित अशाश्वत, अनेकार्थ, नानार्थ से भिन्न, आगम और निर्गम से रहित, सर्वप्रपञ्च के उपशमरूप तथा शिवरूप प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसके उपदेष्टा भगवान् सर्वज्ञ श्रेष्ठ तथागत को प्रणाम है।

प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त बौद्धदर्शन का आधारस्तम्भ है। इस सिद्धान्त की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके भिन्न अर्थ किये हैं। सभी अर्थ तथा व्याख्या का उल्लेख सम्भव नहीं। मैं केवल हीनयान तथा महायान के दृष्टिकोण को यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। हीनयानी बौद्ध आचार्यों की दृष्टि में यह सिद्धान्त कारणतावाद है अथवा कार्य-कारण का सिद्धान्त है। इसे 'हेतुप्रत्ययतावाद' कहा गया है। इसका आशय है—अस्मिन् सति इदं भवति–अर्थात् इसके होने पर वह वस्तु उत्पन्न होती है अथवा इसके होने पर इस हेतु इस प्रत्यय से वह होता है, उसका उत्पाद होता है। पुनः अस्मिन् असति इदं न भवति–अर्थात् इसके न होने से वह नहीं होता है, इसके निरोध से वह निरुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अविद्या के होने से ही संस्कार उत्पन्न होगा। संस्कार के उत्पन्न होने से विज्ञान उत्पन्न होगा। पुनः अविद्या के न होने से संस्कार नहीं उत्पन्न होगा। संस्कार के न होने से विज्ञान न होगा इत्यादि। आशय यह है कि द्वादश निदानों में प्रत्येक निदान अपने-अपने पूर्व निदान से जन्य हैं तथा अपने उत्तर निदान के जनक हैं। यह जन्य-जनकत्व भाव प्रत्येक निदान में है। उत्तरक्षण पूर्वक्षण का कार्य है तथा पूर्व-क्षण उत्तरक्षण का कारण है। यही कार्य-कारण-सिद्धान्त है। इसके अनुसार कोई घटना अकारण नहीं होती। हीनयानी आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण यों करते हैं—प्रति=प्राप्ति इण् धातु गत्यर्थक है, परन्तु उपसर्ग के कारण प्रति+इ का अर्थ है–प्राप्ति। अतः प्रतीत्य का अर्थ हुआ प्राप्त कर। पद् धातु सत्तार्थक है। सम् उत् उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद=प्राप्त होकर प्रादुर्भाव–इसके होने पर वह होता है, इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है–कारणतावाद।

महायान-मत

महायानी आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद को सापेक्षतावाद का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त का आशय है 'अन्योन्यापेक्ष'। प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ आपेक्षिक है। प्रतीत्यसमुत्पाद या भवचक्र द्वादशाङ्ग है, जिसका पूर्व अङ्ग अपर अङ्ग को जन्म देता है। पूर्व-क्षण तथा उत्तर-क्षण सापेक्ष है। पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण

की अपेक्षा करता है तथा उत्तरक्षण पूर्वक्षण की अपेक्षा करता है। दो सापेक्ष तत्त्व में ही जन्य-जनकत्व भाव सम्भव है। जन्य के विना जनक का कोई अर्थ नहीं, जनक के विना जन्य का कोई अर्थ नहीं।

प्रसिद्ध आचार्य श्री नागार्जुन का कहना है कि व्यवहार और परमार्थ में भेद है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद दु:खमय भवचक्र है, पारमार्थिक दृष्टि से परममङ्गलमय परमानन्दस्वरूप है। यथा—

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्[1] ।।

व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है वस्तुओं की स्वभाव-शून्यता या नि:स्वभावता। सभी वस्तु किसी हेतु से उत्पन्न होते हैं, हेतुनाश से वस्तु का भी नाश हो जाता है। किसी भी वस्तु की तीन अवस्थाएँ हैं—उत्पत्ति, स्थिति और भङ्ग। ये तीनों अवस्थाएँ परस्पराश्रित हैं। अत: किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। जिसकी सत्ता दूसरों पर आधारित है, वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना।
विगमः प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगतः कथम्[2] ।।

पदार्थ का कोई अपना स्वभावसिद्ध नहीं होता। यही पदार्थों की नि:स्वभावता है, स्वभावशून्यता है। पुन: परमार्थदृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद से प्रपञ्चशून्यता है। यही तत्त्वज्ञान है, जहाँ बुद्धि के समस्त विकल्प और जगत् के सभी प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं। यही निर्वाण है, शून्य है। इसी का नाम प्रतिपत् या मध्यमार्ग है। यही बात माध्यमिक-कारिका में कही गयी है—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।।

नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद ही निर्वाण है। जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमनरूपी संसार है, वही अप्रतीति और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। संसार और निर्वाण में, संवृत्ति और परमार्थ में जगत् और तत्त्व में भेद नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

यः आजवजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते[3] ।।

---

१. मा० का० २; २. मा० का० ३; ३. मा० का० ७।

संक्षेप में प्रतीत्यसमुत्पाद व्यावहारिक दृष्टि से प्रपञ्च है और पारमार्थिक दृष्टि से प्रपञ्च का उपशम निर्वाण है। अब क्षणभङ्गवाद पर भी चर्चा अपेक्षित है।

क्षणभङ्गवाद

जैसा कि कहा गया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-प्रत्ययवाद है। इसका सीधा अर्थ है-इसके होने पर ऐसा होता है, इसके नहीं होने पर ऐसा नहीं- अस्मिन् सति इदं भवति, अस्मिन् असति इदं न भवति। यह कार्य-कारण-सिद्धान्त ही सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता, सभी धर्मों की क्षणभङ्गुरता प्रमाणित करता है। कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है तथा कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। अत: सभी वस्तुएँ कारणोत्पन्न हैं तथा उत्पन्न होने से विनाशी हैं। उत्पत्ति और विनाश से सभी वस्तुओं की अनित्यता सिद्ध होती है। जन्म और मरण संसार का स्वभाव है। यहाँ कोई वस्तु नित्य नहीं, सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं।

क्षणभङ्गवाद का अर्थ है—किसी भी वस्तु का अस्तित्व सनातन नहीं। किसी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक ही रहता है। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को—उसी प्रकार एक क्षण दूसरे को तथा दूसरा तीसरे को जन्म देता है। यही प्रवाह-नित्यता है, क्षणिक सन्तान है। इस प्रवाह-नित्यता या सन्तान को ही हम भ्रमवश सनातन या शाश्वत मान लेते हैं। वास्तव में कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं, सभी अनित्य क्षणिक हैं, परिणामी हैं। परिणाम या परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है। वस्तु में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है, जो आज है वह कल नहीं, कल का स्वरूप दूसरा होगा। नदी के प्रवाह के समान सभी वस्तु सतत परिवर्तन की अवस्था में हैं।

बौद्धदार्शनिक सत् और क्षणिकत्व में व्याप्तिसम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना है—'सर्वे पदार्था: क्षणिका:, सत्त्वात्', अर्थात् सत्त्वहेतु से सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध होते हैं। व्याप्ति का स्वरूप यों है—'यत् सत् तत् क्षणिकं, यत् क्षणिकं तत् सत्, अर्थात् जहाँ भी सत्ता है अर्थात् अस्तित्व है, वहाँ क्षणिकता भी है और जहाँ क्षणिकत्व है, वहीं सत्ता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप ही क्षणिक है। इस प्रकार क्षणभङ्गवाद या क्षणसन्ततिवाद का निश्चय होता है। वर्तमान भूत से जन्य है तथा भविष्य का जनक है। भूत का वर्त-मान में और वर्तमान का भविष्य में परिवर्तन स्वभाव है। इस प्रकार यह सिद्ध

होता है कि क्षणभङ्गवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विकास है। अर्थक्रियाकारिता से भी क्षणभङ्गवाद की सिद्धि होती है।

अनुव्यवसाय—अनु + वि + अव + सै + घञ्। न्यायमत में प्रत्यक्ष का बोध या चेतना, वेदान्त में मनोभाव या निर्णय का प्रत्यक्षीकरण, आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में विशिष्ट लक्षणा के खण्डन के समय इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि ज्ञान का विषय और उसका फल अलग-अलग होते हैं, तब लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और उसका फल पुण्यत्व, मनोहरत्व या शैत्य-पावनत्वादि भी अलग-अलग मानने होंगे और उनकी उत्पत्ति समकाल में मानना सम्भव नहीं होगा। अत एव विशिष्टलक्षणा का सिद्धान्त भी नहीं माना जा सकता है।

विशिष्ट-लक्षणा का अर्थ यह है कि तट आदि लक्ष्यार्थ के बोध के साथ ही साथ शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों का भी बोध हो जाता है। अर्थात् लक्षणा केवल तट का नहीं, अपितु शैत्यपावनत्वादि-प्रयोजनविशिष्ट तट का बोध कराती है, इसलिए उनके बोधन के लिए लक्षणामूला व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है। इस विशिष्टलक्षणावाद का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।

कुत इत्याह—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्[१] ।।

विशिष्ट लक्षणावाद के खण्डन के लिए आचार्य मम्मट ने जो युक्ति दी है, उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल ये दोनों अलग-अलग होते हैं। उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता है। लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट आदि है और उसका फल शैत्यपावनत्व आदि का बोध है। इसलिए इन दोनों को एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति माननी होगी; क्योंकि विषय तथा फल में कार्य-कारण-भाव होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान का कारण होता है और ज्ञान का फल ज्ञान का कार्य होता है। इसलिए उनकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों अलग-अलग होते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए मम्मट ने न्याय तथा मीमांसा की दार्शनिक प्रक्रिया की चर्चा की है। उस दार्शनिक सिद्धान्त को समझे विना उक्त कारिका

१. का० प्र० २.१७-१८।

का मौलिक रहस्य समझ में नहीं आ सकता है । इसलिए नैयायिक तथा मीमांसकों के उस सिद्धान्त को, जिसकी यहाँ चर्चा की गयी है, भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है । घट, पट आदि विषयों का जो ज्ञान होता है, उसके विषय घट, पट आदि होते हैं और वे ज्ञान के प्रति कारण होते हैं, इसलिए उनकी सत्ता ज्ञान से पहले रहती है । सभी दार्शनिक इस सिद्धान्त को मानते हैं; परन्तु ज्ञान का फल क्या होता है, इस विषय में न्याय तथा मीमांसादर्शन के सिद्धान्तों में मतभेद है । यहाँ उनके मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है ।

न्याय का अनुव्यवसाय का सिद्धान्त

न्याय-सिद्धान्त के अनुसार पहले विषय से उसका ज्ञान उत्पन्न होता है । घट या नील आदि विषयों का ग्रहण तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो जाता है; परन्तु ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है, इस प्रश्न के समाधान के लिए नैयायिक 'अनुव्यवसाय' की कल्पना करते हैं । अनुव्यवसाय का अर्थ 'ज्ञान का ज्ञान' है । पहले 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है, उसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान होता है । इनमें से 'यह घट है' इस प्रकार का पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' ज्ञान कहलाता है और उसके बाद का 'मैं घट को जानता हूँ' या 'मुझे घट का ज्ञान होता है' यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' कहलाता है । 'अयं घटः' इस प्रथम ज्ञान का विषय घट है और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवानहम्' इस दूसरे ज्ञान का विषय 'घटज्ञान' है । जैसे पहला 'व्यवसायात्मक ज्ञान' अपने विषय घट से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार दूसरा ज्ञान अपने विषय व्यवसायात्मक घटज्ञान से उत्पन्न होता है, इसलिए वह अनुव्यवसाय कहलाता है । यह अनुव्यवसाय घटज्ञान का फल हुआ । अर्थात् घटज्ञान के विषय 'घट' से उस घटज्ञान का फल 'अनुव्यवसाय' भिन्न है । इसलिए विषय तथा ज्ञान के फल को अलग-अलग मानना होगा और उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है । यह न्याय के सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध होता है ।

सौत्रान्तिकों का अभिमत

विज्ञानवादी वस्तु और विज्ञान की समकालीन उत्पत्ति अर्थात् सहोत्पत्ति मानते हैं । अतः इनमें अभेद है । सौत्रान्तिकों का कहना है कि वस्तु और ज्ञान दोनों एक क्षण में नहीं उत्पन्न हो सकते । हमें ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न है । घटज्ञान का विषय घट है, जो ज्ञानकाल में विद्यमान है; परन्तु इस ज्ञान का फल अनुव्यवसाय है, अर्थात् बाद में 'मैं

घट ज्ञानवाला हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है । यदि ज्ञान का विषय और फल एक ही होते, तो दोनों में भेद नहीं होता । इससे सिद्ध है कि घट-पट आदि बाह्य विषय हैं; क्योंकि इस ज्ञान के विषय और अनुव्यवसाय में हमें स्पष्टतः भेद प्रतीत होता है । इस प्रकार सौत्रान्तिक भी न्यायमत से सहमत प्रतीत होता है ।

मीमांसकों का ज्ञातता-सिद्धान्त

मीमांसकों का सिद्धान्त इससे थोड़ा भिन्न है । नैयायिकों ने 'अयं घटः' इस ज्ञान के होने के बाद उसमें 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादि रूप अनुव्यवसाय की उत्पत्ति मानी है; परन्तु मीमांसक अनुव्यवसाय के स्थान पर 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति मानते हैं । उनका कहना यह है कि 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है । इस प्रतीति में घट में रहने वाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है, यह धर्म ज्ञान से पहले घट में नहीं था । ज्ञान होने के बाद आया है । इसलिए वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ है । ज्ञान उसका कारण है । कारण के विना कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ज्ञान के विना 'ज्ञातता' धर्म भी घट में उत्पन्न नहीं हो सकता था; परन्तु 'ज्ञातता' धर्म घट में उत्पन्न हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति में भास रहा है, इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए । इस प्रकार 'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति होने के कारण 'ज्ञातता' से ज्ञान का ग्रहण होता है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है ।

अनुव्यवसाय और ज्ञातता का भेद

नैयायिकों के मत में ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और मीमांसकों के मत में ज्ञान का ग्रहण 'ज्ञातता' से होता है । नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होता है और मीमांसकों की 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही उत्पन्न होती है । फिर उन दोनों में मौलिक अन्तर क्या है, जिसके कारण इन दोनों का अलग सिद्धान्त माना जाय । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' आत्मा में रहने वाला धर्म है और मीमांसक की 'ज्ञातता' घट आदि विषय में रहने वाला धर्म है । इस भेद के कारण इन दोनों को अलग सिद्धान्त माना जाता है ।

प्रकृत में इस सारी चर्चा का प्रयोजन यह है कि जब यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि ज्ञान का विषय और उसका फल अलग-अलग होते हैं, तब लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और उसका फल पुण्यत्व, मनोहरत्व या शैत्य-पावनत्वादि भी अलग-अलग मानने होंगे और उनकी उत्पत्ति समकाल में मानना सम्भव नहीं होगा। अतएव विशिष्टलक्षणा का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। सौत्रान्तिक का मत इन सिद्धान्तों से मिलता है। अत: इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है।

विज्ञान—(वि + ज्ञा +ल्युट्) जानना, समझना, परिचित होना, प्रवीणता आदि इसके अर्थ हैं। अर्थविषयक प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। अर्थ-प्रकाश तो प्रदीपादि भी है, पर वह अर्थविषयक प्रकाश नहीं है। अर्थ के विषयी तो इच्छा-यत्नादि भी हैं, पर वे प्रकाशरूप नहीं हैं। अत: अर्थविषयक प्रकाश ही ज्ञान है, यह निर्विवाद है।

ज्ञान ही चैतन्य है। चैतन्य ही प्रकाशक है। सभी दार्शनिकों ने विज्ञान को अवश्य माना है। यदि ज्ञान न माना जाय, तो जगदान्ध्य की प्रसक्ति होगी। किसी को भी किसी वस्तु का प्रतिभास न हो सकेगा। अत: वही विज्ञान ही स्वयं सर्वार्थ का द्योतक है।

यह सर्वसम्मत विज्ञान भी जो स्व पर सभी का प्रकाश है। स्वयं नित्यत्व, अनित्यत्व, स्वप्रकाशत्व, परप्रकाशत्व, आत्मभिन्नत्व, आत्माभिन्नत्व, एकत्व, अनेकत्व, व्यापकत्व, अव्यापकत्व आदि विवादों से निर्मुक्त नहीं है। कुशल वक्ता विद्वान् को भी विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण दुष्कर है। सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ज्ञान का स्वरूप परपक्षखण्डनपूर्वक स्वपक्षमण्डन द्वारा निर्धारित किया है। यद्यपि सभी तथ्यों का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। पर कुछ का विचार अवश्य करेंगे।

चार्वाकदर्शन में विज्ञान का स्वरूप

चार्वाक चैतन्य-विज्ञान को भूतचतुष्टय से उत्पन्न शरीरमात्रव्यापी, अनेक आत्मा से भिन्न तथा मरणरूप मोक्ष होने पर विनष्ट भी मानता है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों भूतों का विलक्षण परिणाम स्थूल शरीर ही आत्मा है। चैतन्य भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होता है। वह स्वपरोभयप्रकाशक है।

जैनमत में ज्ञान का स्वरूप

जैनदर्शन विज्ञान को ही आत्मा कहता है । वह नित्य है, सङ्कोच-विकासशाली है । यथादेह परिणामी तथा देहव्यापी है । अनेक है, स्वपर उभय-प्रकाशक है । वह सततोर्ध्वगमनशील है । कर्मरूप बन्ध से बँधा हुआ जन्म-मरण से अनेक दु:ख भोगता है ।

बौद्धमत में विज्ञान का स्वरूप

चारों तथागतमतावलम्बियों के मत में विज्ञान ही आत्मा है । वह अनेक, स्वपर उभयप्रकाशक, क्षणिक, अत एव अनित्य है । सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक के मत में विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य अर्थ अनुमेय तथा प्रत्यक्ष है । मोक्षकाल में भी क्षणिक विज्ञानधारा रहती है । नाना विषय का उपप्लव ही विज्ञानात्मा का बन्ध है । उपप्लव विषय वासना को कहते हैं ।

योगाचार बौद्ध के मत में विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थ नहीं है । बाह्यार्थ शून्य है । विज्ञान ही अनादि विषयवासना से नानाकारित होकर बाह्य की तरह भासित होता है । माध्यमिक बौद्ध के मत में विज्ञान भी विज्ञेय की तरह शून्य नि:स्वभाव है । मोक्षकाल में विज्ञान-धारा का भी उपशम हो जाता है । मोक्ष के स्वरूप में सौत्रान्तिक, वैभाषिक तथा योगाचार का एक मत है, पर शून्यवादी का मत भिन्न है । परमार्थत: विज्ञानात्मा को ही न मानने से वह निरात्मवादी कहलाता है ।

सांख्य तथा योग मत में विज्ञान का स्वरूप

सांख्य तथा योग ये दोनों दर्शन विज्ञानरूप में समान विचार रखते हैं । इनके मत में विज्ञान चेतन है, आत्मा है । वह अनेक, व्यापक, अपरिणामी, नित्य, अक्षणिक, प्रमेयों से निर्लेप, स्वप्रकाश, सुख-दु:खादि-भोक्ता, अकर्ता है । द्रष्टा, मध्यस्थ, उदासीन है । वह सुखरूप नहीं है । प्रकृति ही कर्त्री है । वही पुरुष आत्मा के भाग तथा मोक्ष को प्रदान करती है । मोक्ष में वह आत्मा-स्वरूप में अवस्थित रहता है । वह आत्मा समाधि से लभ्य है ।

सांख्य निरीश्वर है । योग सेश्वर है । योगदर्शन क्लेश-कर्म-विपाकाशय से रहित पुरुषविशेष को ईश्वर मानता है । वह अन्य पुरुषों से विशिष्ट पुरुष है । उसे भोगादि की प्रसक्ति नहीं होती है । यद्यपि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है । फिर भी वह अपने प्रणिधाता या भक्त को अनु-ग्रह मात्र से योगसाधना के विना भी मोक्ष प्रदान करता है ।

न्याय-वैशेषिक मत में विज्ञान का स्वरूप

न्याय तथा वैशेषिकदर्शन भी विज्ञान के सम्बन्ध में समान विचार रखते हैं। इनके मत में विज्ञान चेतन है। वह आत्मा से भिन्न; परन्तु उसी में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न तथा स्थित रहता है।

वह अनित्य, अव्यापक, अनेक, परप्रकाश, आत्मा से भिन्न, आत्मा का धर्ममात्र है, वह गुण है। मोक्षकाल में उसका भी ध्वंस हो जाता है। अत: आत्मा अचेतन व्यापकमात्र रह जाता है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है। जीवात्मा का ज्ञान अनित्य है।

मीमांसक मत में विज्ञान का स्वरूप

भाट्ट मीमांसक विज्ञान को चैतन्यरूप, प्रतिशरीर भिन्न, अक्षणिक, नित्य आत्मारूप मानता है। वह बुद्धिरूप है। सुख-दु:ख आदि उस बुद्धिरूप चैतन्य के अवस्थाविशेष हैं। सुख-दु:खादि अवस्थाओं के परिवर्तन होने पर भी सत्य चैतन्य ज्ञान की अनुवृत्ति होती रहती है। उसके मत में आत्मा के अंशद्वय हैं—जड़ और चेतन। चैतन्य ज्ञान है। वह सदा अनुवृत्त रहता है। अचिद् जड़ अंश सुख-दु:खरूप से परिणत होता रहता है। प्राभाकर मीमांसक गण नैयायिक की तरह विज्ञान को स्वीकार करता है।

उत्तरमीमांसा के मत में विज्ञान का स्वरूप

सभी वैष्णव वेदान्ती रामानुज, रामानन्द आदि मतावलम्बी विज्ञान को आत्मा के धर्म नित्य स्वप्रकाश मानते हैं। आत्मा भी विज्ञानस्वभाव ही है। वह धर्मीरूप ज्ञान है। जो धर्मभूत है, वह विज्ञान है। जैसे प्रदीप प्रभा द्वारा प्रकोष्ठ को भासित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने धर्म, ज्ञान के द्वारा शरीर को प्रकाशित करता है। आत्मा अणुरूप है। प्रभाकरमत के समान ही इनका भी मत है। वह विज्ञान नित्य शरीरव्यापी अक्षणिक आत्मा से भिन्न पर अपृथक् स्वप्रकाश है, चेतन है।

शाङ्कर मत में विज्ञान का स्वरूप

शङ्कराद्वैतवादी विज्ञान को नित्य, व्यापक, कूटस्थ, असङ्ग, चैतन्यरूप, सर्वार्थावभासक, आत्मारूप, ब्रह्मस्वरूप, सकलप्रपञ्च का अधिष्ठान, एक, सकलभेद से रहित, स्वप्रकाश, स्वत:प्रमाण मानता है। शाङ्करमत में विज्ञान ब्रह्म है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तरूप है।

साहित्यशास्त्र में विज्ञान का स्वरूप

साहित्यशास्त्र में रस ही ज्ञानस्वरूप है। उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः.............[१] ।।

यह अखण्ड, अद्वितीय स्वयं प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय) है। अलौकिक चमत्कारपूर्ण रस का ज्ञाता, जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य से वासनाख्य संस्कार है, वही अपने आकार की भाँति अभिन्न रूप से आस्वादन करता है। जैसे आत्मा से भिन्न होने पर भी शरीरादिकों में 'गौरोऽहम्' 'काणोऽहम्' इत्यादि का अभेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा से भिन्न होने पर भी आनन्द-चमत्कारमय रस आत्मा से अभिन्न प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे घटादिकों के ज्ञान के अनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, उस प्रकार रसास्वाद के पीछे भेद नहीं भासित होता है। अथवा जिस प्रकार क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध के मत में घट आदि विज्ञान के रूप ही माने जाते हैं, उसी प्रकार विज्ञानरूप आत्मा से अभिन्न रस की प्रतीति होती है।

रसज्ञान की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट ने अनेक युक्तियों को उपस्थापित किया है। एक युक्ति यह है कि हम लौकिक प्रत्यक्षज्ञान को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–एक अस्मदादि का प्रत्यक्ष, दूसरा मितयोगी अर्थात् अपरिपक्व सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जान योगियों का ज्ञान और तीसरा परिमितेतर योगी, अर्थात् परिपक्व या युक्त योगियों का ज्ञान। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता से ही होता है। मित योगियों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता के विना (प्रमाणताटस्थ्य) योगजसामर्थ्य से ही हो जाता है। तीसरा परिमितेतर योगी, अर्थात् परिपक्व निर्विकल्पक समाधि में स्थित योगी का ज्ञान वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूतिमात्र होता है। रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणताटस्थ्य वाले मितयोगि-ज्ञान का विषय है और न निर्विकल्पक

---

१. साहित्यदर्पण–३.२-३ ।

समाधि में स्थित योगियों की वेद्यान्तरस्पर्शरहित आत्मानुभूतिरूप ही है । इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूतियों से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक है ।

रसज्ञान के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने एक अन्य युक्ति दिखलायी है कि उसका ग्रहण न 'सविकल्पक ज्ञान' से हो सकता है और न 'निर्विकल्पक ज्ञान' से, इसलिए भी वह अलौकिक है । सविकल्पक ज्ञान उसको कहते हैं, जिसमें पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके नाम, उसकी जाति आदि का भी भान होता है—'नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्' । जैसे घट-पट आदि पदार्थों के ज्ञान में उनके स्वरूप के साथ वस्तु के नाम, जाति आदि का भी भान होता रहता है । इसलिए 'घटः, पटः' आदि ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । वह शब्द-व्यवहार का विषय होता है; परन्तु रसानुभूति तो स्व-संवेदनमात्ररूप होती है, शब्द-व्यवहार का विषय नहीं होती है, इसलिए उसमें नाम-जात्यादि के मान का कोई अवसर नहीं है । अतएव रस को सविकल्पक ज्ञान से ग्राह्य नहीं कह सकते ।

सविकल्पक ज्ञान से भिन्न दूसरा 'निर्विकल्पक ज्ञान' होता है । नाम-जात्यादियोजनासहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं, तो नाम, जाति, विशेषण-विशेष्य-भाव आदि से रहित केवल वस्तुमात्र का अवगाहन करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है । इस निर्विकल्पक ज्ञान को समझाने के लिए बालक तथा मूक पुरुष के ज्ञान को उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जाता है—'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्' । उदाहरण के लिए एक घड़ी बालक के सामने रखी है । बालक को इस घड़ी का ज्ञान उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार का ज्ञान किसी बड़े-बूढ़े आदमी को । उसका गोल डायल, उस पर बने हुए अङ्क और लगी हुई सुइयाँ आदि हमारी ही तरह बालक को भी प्रतीत होती हैं । अन्तर केवल इतना है कि बालक उसके नाम, उपयोग आदि को नहीं जानता है और बड़ा व्यक्ति इन सबको जानता है, इसलिए बालक का ज्ञान नाम, जाति आदि की योजना से रहित होने से निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है और बड़े व्यक्तियों का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाता है । बड़े व्यक्तियों का जो 'सविकल्पक ज्ञान' होता है, वह भी प्रथम क्षण में 'निर्विकल्पक ज्ञान' ही होता है । शब्द-व्यवहार में आ जाने से वह अत्यन्त शीघ्रता से सविकल्पक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है । इसलिए उसका निर्विकल्पक स्वरूप अनुभव में नहीं आता है । रस की प्रतीति में विभावादि की प्रतीति भी होती रहती है, इसलिए समूहालम्बनात्मक ज्ञान होने से निर्विकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक

नहीं हो सकता और न वह सविकल्पक का विषय होता है; क्योंकि आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय (रस) के स्वसंवेदनसिद्ध होने से सविकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है। उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) लोकोत्तरत्व ज्ञान को ही सिद्ध करता है।

इस प्रकार आलङ्कारिकों के सिद्धान्तानुसार रस अलौकिक है। अतएव उसमें ज्ञानस्वरूपता, आनन्दमयता और चमत्कारप्राणता आदि सब धर्मों का समावेश हो सकता है। यद्यपि रस आत्मा के स्वरूप से अभिन्न है, चिन्मय है, तथापि अनादि वासना के द्वारा उपनीत अर्थात् ज्ञान में प्रतिभासित जो रत्यादिक उनके साथ अभिन्नरूप (तादात्म्य) से गृहीत होता है। इस प्रकार रस की ज्ञानस्वरूपता और उसके साथ रत्यादि का अभेद सिद्ध होता है। ज्ञान स्वप्रकाश है, अत: रस भी स्वयम्प्रकाश है; परन्तु नैयायिक लोग ज्ञान को स्वयम्प्रकाश नहीं मानते। वे अनुव्यवसाय से ज्ञान का ज्ञान मानते हैं। यदि ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय से माना जायेगा, तो अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिए एक तीसरा ज्ञान चाहिए एवं तीसरे ज्ञान को चौथा और चौथे ज्ञान को पाँचवाँ ज्ञान चाहिए। इस प्रकार अनन्त परम्परा के कारण अनुव्यवसाय मानने में अनवस्था दोष आयेगा, अत: प्रथम ज्ञान को ही स्वत:प्रकाश मानना चाहिए, यही युक्तिसङ्गत पक्ष है।

सर्वज्ञ—सर्व + ज्ञा = यह समस्त पद है। सृतमनेन विश्वमिति सर्वम् (नि० वि०) सब, प्रत्येक, 'रिक्त: सर्वो भवति हि लघु: पूर्णता गौरवाय' (मे० दू० २०)। सर्व जब पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है, तो विष्णु और शङ्कर का अभिधान करता है। ज्ञ: = जानाति इति ज्ञ:, सर्वस्य ज्ञ: = सर्वज्ञ: (वि०) सब कुछ जानने वाला।

'सर्वज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—**१.** सब कुछ जानने वाला (वि०), **२.** शङ्कर-कृशानुरेता सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहित:-(अमर० १.३५), **३.** बुद्ध (सर्वज्ञ: सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागत:-अमर० १.१३)।

आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार के मङ्गलाचरण में सर्वज्ञ को भी प्रणाम किया है—

प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभि: ।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते ।। (१.१)

अर्थात् मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्मों से सर्वहितकारी एवं सर्वज्ञ को प्रणाम कर बुद्धि के अनुसार इस काव्यालङ्कार (ग्रन्थ) की रचना करूँगा ।

किसी विग्रह या उपाधि को प्रणाम न कर ग्रन्थकार ने परमपुरुष को प्रणाम किया है और उसके दो गुणों–सर्वहितकारिता एवं सर्वज्ञता का निर्देश किया है । सार्व शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं ग्रन्थकार ने षष्ठ परिच्छेद में की है—

हितप्रकरणे पञ्च सर्वशब्दात्प्रयुञ्जते ।
ततश्छमिष्ट्या च यथा सार्वः सर्वीय ? ापि[1] ।।

अर्थात् हित-प्रकरण में 'सर्व' से ण-प्रत्यय प्र ्क होता है; जैसे 'सार्व', उसी से इष्ट वार्तिक के द्वारा छ-प्रत्यय होकर सर्वीय भी बनता है ।

अष्टाध्यायी में 'तस्मै हितम्' (५.१.५) सूत्र से हित-प्रकरण चलता है । 'उसके लिए अच्छा' इस अर्थ में अनेक तद्धित प्रत्यय होते हैं । उनमें सर्व शब्द से 'तस्मै हितम्' अर्थ में होने वाले दो प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं । सर्वशब्द से ण हाने पर 'सार्व' बनता है और छ होने पर 'सर्वीय' । ण प्रत्यय करने का सूत्र है—'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' (५.१.१०) अर्थात् सर्व और पुरुष से 'तस्मै हितम्' के अर्थ में क्रमशः ण और ढञ् प्रत्यय होते हैं । 'सर्वीय' प्रयोग सूत्र से नहीं, अपितु वार्तिक से निष्पन्न होता है । वह वार्तिक है–'सर्वाण्णो वेति वक्त-व्यम्' अर्थात् सर्व से 'ण' विकल्प से होता है । वैकल्पिक पक्ष में 'छ' लगता है और 'छ' का ईय होकर 'सर्वीय' बनता है ।

सार्व भामहाचार्य को बहुत प्रिय था, तभी मङ्गलाचरण में भी उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया है ।

आचार्य भामह के सर्वज्ञ को नमस्कार करते हुए देखकर कुछ विद्वानों की कल्पना है कि वे बौद्ध थे । 'सर्वज्ञ' नाम बुद्ध का है ।

दूसरे तर्क में उन लोगों का कहना है कि भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन्' था और रक्रिल नाम राहुल, सोमिल, पोतल आदि बौद्ध नामों से मिलता-जुलता है । गोमिन् शब्द से भी इसकी पुष्टि होती है, कारण कि गोमिन् नाम बुद्ध के एक शिष्य का था । इस तरह रक्रिल और गोमिन् दोनों मिलकर भामह के पिता का बौद्ध होना सिद्ध करते हैं । इन्हीं दो निर्बल तर्कों के आधार पर 'नरसिंहयंगार'[2] ने भामह का बौद्धत्व प्रमाणित किया है ।

---

१. भामह, काव्या० ६.५३ ।
२. प्रो० एम०टी० नरसिंहयंगार, ज० रॉ०ए०सो०, १९०५, पृ० ५३५-४५ ।

इन दो तर्कों की तुलना में वे तर्क कहीं अधिक और सबल हैं, जो भामह का बौद्ध न होना सिद्ध करते हैं।

१. 'सर्वज्ञ' शब्द एकमात्र बुद्ध का ही वाचक नहीं है। एक तो सामान्य-रूप से वह ईश्वर का वाचक है–जो सब कुछ जाने वह सर्वज्ञ और दूसरा वह शङ्कर का पर्याय है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ का अर्थ केवल 'बुद्ध' कहना सङ्गत प्रतीत नहीं होता।

२. केवल स्थूल ध्वनिसाम्य के आधार पर किसी नाम को सम्प्रदाय-विशेष का मान लेना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है। इसलिए 'रक्रिल' बौद्ध नाम है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'गोमिन्' के साहचर्य से भी बात कुछ बनती नहीं। 'गोमिन्' 'गोस्वामिन्' का संक्षेप रूप है। जो कश्मीर और उत्तर भारत में ब्राह्मणों के नाम के साथ उसी तरह जोड़ा जाता है, जिस तरह दक्षिण भारत में आचार्य। प्रो० पाठक ने चान्द्र व्याकरण के प्रामाण्य पर 'गोमिन्' का अर्थ 'पूज्य'[१] किया है। यदि प्रो० पाठक की व्युत्पत्ति मान लें, तो गोमिन् का अर्थ सामान्यत: पूज्य ही होता है और वह किसी भी मान्य व्यक्ति के नाम के साथ जुड़ सकता है।

३. काव्यालङ्कार में कहीं भी बुद्ध, बौद्धमत या बौद्ध-कथाओं का उल्लेख नहीं है। इसके प्रतिकूल बौद्धों के अपोहवाद का सबल खण्डन है। उन्होंने कहा है—

यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः।।
अर्थज्ञानफला शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवादविधिज्ञाने फले चैकस्य वः कथम्।।
पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद्भवेत्।
येनागोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः।।
वर्णभेदादिदं भिन्नं वर्णाः स्वांशविकल्पिताः।
के शब्दाः किञ्च तद्वाच्यमित्यहो वर्त्म दुस्तरम्[२]।।

अपोहवादी की दृष्टि में शब्द का अर्थ है—अतद्व्यावृत्ति, न कि स्वयं वह वस्तु। अतद्व्यावृत्ति में शब्द की प्रवृत्ति होने से वस्तु का निषेधात्मक बोध ही

---

१. गोमिने पूज्ये ४.२.११४, ई० ए० १९९२।
२. भामह, काव्या० ६.१७-२०।

होता है । विध्यात्मक नहीं । इस असङ्गति को दूर करने के लिए रत्नकीर्ति ने शब्द की विध्यात्मक और निषेधात्मक उभयथा प्रवृत्ति मानी है—

"नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेत: । नाप्यन्यथावृत्तिमात्रं किन्त्वन्यापोहविंशिष्टो विधि: शब्दानामर्थ:"[1] ।

अर्थात् अपोह शब्द से हमें न केवल विधि अभिमत है और न केवल अन्य-व्यावृत्ति (निषेध); अपितु अन्यथावृत्तिविशिष्ट विधि शब्द का अर्थ है, अर्थात् एक ही शब्द से निषेध और विधि दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं— 'गो' शब्द से गोभिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति (निषेध) भी हो जाती है और गो की प्रतीति (विधि) भी ।

भामह इस विधि-निषेधात्मक द्विविध शब्द-प्रवृत्ति का खण्डन करते हैं । शब्द से या तो विधि हो सकती है या निषेध, दोनों नहीं हो सकते । शब्द-प्रयोग के जो स्वीकृत नियम हैं, उनमें दोनों का अवकाश नहीं है । उन नियमों की यदि कोई अवहेलना करता है, तो यह उसकी स्वच्छन्दता मात्र है । इसलिए अपोहवाद अमान्य है ।

इस खण्डन को देखकर ही शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में भामह को या अपोहवाद का खण्डन करने वाले कुमारिल आदि अन्य विद्वानों को झुँझलाकर 'कुदृष्टि' और 'दुरात्मा' तक कह दिया है । यथा—

अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः ।
स्वयं तुष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि[2] ।।

४. भामह ने वैदिक विधियाँ और यज्ञों के अनुष्ठाताओं का बड़े आदर से उल्लेख किया है । उन्होंने आगमविरोध को दोष माना है—

आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता ।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा[3] ।।

अर्थात् धर्मशास्त्रों तथा उनके द्वारा विहित लोक-मर्यादा को आगम कहते हैं । उनके आचार का अतिक्रमण करने से आगमविरोधी दोष होता है ।

५. वैदिक देवताओं–जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, पार्वती आदि का बड़े आदर से अनेकत्र उल्लेख किया है[4] ।

---

१. अपोहसिद्धि, पृ० ३; २. त० सं०, पृ० ३१६ ।
३. भामह, काव्या० ४.४८ ।
४. द्रष्टव्य - भामह, काव्या० २.५५, ३.२४, ३.३६, ४.२१, ४.२७, ६.३२ ।

६. उन्होंने रामायण और महाभारत के पात्रों की चर्चा बहुशः की है[१]।

इस प्रकार इन कतिपय तथ्यों पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जाता है कि भामह वैदिक-मतानुयायी थे, बौद्ध नहीं। यदि बौद्ध होते, तो अपने मत के सम्बन्ध में सर्वथा मौन रह जाते। अधिक नहीं तो थोड़ा भी अवश्य कहते, पर कुछ भी न कहना आश्चर्यकर नहीं है ?

कल्पनापोढ—यह समस्त पद है। णिजन्त क्लृप् धातु से युच् करने पर कल्पन शब्द बनने के बाद टाप् करके कल्पना शब्द बनाया जाता है। उप उपसर्गपूर्वक वह् (उह्) धातु से क्त करके अपोढ शब्द की सिद्धि होती है। 'कल्पनया अपोढः कल्पनापोढः', अर्थात् कल्पना से अपोढ़ अपेत या रहित कल्पनापोढ कहलाता है, अर्थात् जो कल्पना से रहित हो। प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए न्यायबिन्दु में आचार्य धर्म की भ्रान्ति विपर्यास या अतद् में तद्बुद्धि को कहते हैं। भ्रान्ति से युक्त भ्रान्त है अथवा भ्रान्त ही भ्रान्ति है। भाव में ही क्त प्रत्यय विहित है।

जो भ्रान्त नहीं है, वह अभ्रान्त है, अर्थात् भ्रम-प्रतीति से भिन्न है। इन दोनों विशेषणों से युक्त विज्ञान प्रत्यक्ष है। ये दोनों विशेषण विप्रतिपत्ति या अतिप्रसङ्गादि के कारण के लिए हैं। यदि अभ्रान्त नहीं कहा जाय, तो 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इतना ही लक्षण रह जायेगा। तब शुक्ति में रजत ज्ञान, चलने वाले वृक्ष का ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमा कहलाने लगेगा। भाव यह है कि नेत्र-दोष से जो भी कल्पनारहित भ्रमविज्ञान है, वह प्रत्यक्ष होने लगेगा। कल्पना-पोढ विशेषण के हटा देने पर अभ्रान्त विज्ञान प्रत्यक्ष होगा, तो अनुमान में भी प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होगा। अतः उसकी व्युत्पत्ति के लिए अभ्रान्त विशेषण लक्षण में रखना युक्तिपूर्ण है।

धर्मकीर्ति ने कहा है—'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'[२], अर्थात् कल्पना-पोढ़ तथा अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है। चक्षुरादि इन्द्रियों का अन्वयव्यतिरेकानु-विधायि साक्षात्कारिविज्ञान प्रत्यक्षत्वेन लोक में प्रसिद्ध है। उस लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्ष का अनुवाद कर उसमें कल्पनापोढ़त्व तथा अभ्रान्तत्व का विधान कर

---

१. भामह, काव्या०, २.४१,३.५,३.७,३.११,३.३२,५.३७,५.३९,५.४१-४४।
२. न्यायबिन्दु, १.४।

अविसंवादि प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है। प्रत्यक्ष में अविसंवादित्व या प्रमात्व के प्रयोजक दो विशेषण हैं—कल्पनापोढ़त्व और अभ्रान्तत्व।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि कल्पनापोढ़त्व में कल्पना क्या है। कल्पना शब्द बौद्धदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। कल्पना शब्द को परिभाषित करते हुए न्यायबिन्दुकार आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं—अभिलापसंसर्गयोग्य-प्रतिभासप्रतीतिः कल्पना[१], अर्थात् अभिलाप-संसर्ग के योग्यप्रतिभास वाली प्रतीति को कल्पना कहते हैं। भाव यह है कि जिससे कथन किया जाय, वह अभिलाप कहलाता है। अभिलाप शब्द को कहते हैं। अभिलाप शब्द के साथ जो संसर्ग या सम्बन्ध है, उस संसर्ग के योग्य प्रतिभास जिस प्रतीति में हो, वह प्रतीति या ज्ञान कल्पना है। प्रतिभास ज्ञान में अर्थाकारता को कहते हैं। एक विज्ञान में अभिधेयाकार या अभिधानाकार के साथ ग्राह्यरूप से अर्थात् ज्ञानीय विषयतया अनुशीलन का नाम अभिलाप-संसर्ग है।

जब एक ज्ञान में अभिधेय और अभिधान के आकार प्रविष्ट होते हैं, तब अभिधानाभिधेय संसृष्ट कहलाते हैं। अभिलाप-संसर्ग के योग्य अभिधेयाभास या तदाकारवाली प्रतीति कल्पना है। भाव यह है कि जिस ज्ञान में अभिधानाभिधेय प्रविष्ट हों तथा शब्द के साथ अभिधेयाकार का ग्राह्याकारतया अनुशीलन हो अथवा अभिधान के सहित अभिधेय में ही ज्ञानीय ग्राह्यता का अनुशीलन हो, वह ज्ञान कल्पना है। यह कल्पना प्रतीति, अनुमिति तथा शब्दज्ञान है।

शब्द के द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान होता है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। यह कल्पना है। उस शाब्दप्रतीति में शब्द का अर्थ जो अभिधान तथा अभिधेय हैं, वे ही विषय होते हैं। अभिधान के साथ अभिधेय का ग्राह्यतया अनुशीलन ही अभिलाप-संसर्ग है। तादृश संसर्ग के योग्याभास वाली प्रतीति कल्पना है। जैसे घट शब्द से घट का ज्ञान होता है, वह ज्ञान कल्पना है। वह अभिलाप-संसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिरूप है। अभिलाप घट शब्द, अभिधेय घट अर्थ है। वही ज्ञान का ग्राह्य विषय भी है। तब घट इस ज्ञान में घट शब्द तथा घट अर्थ विषयतया प्रविष्ट हैं, अतः उसे घटाकर ज्ञान कहते हैं या घटाभासवती प्रतीति कहते हैं। वह घटाकार-विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु शब्द के द्वारा उपस्थित

---

१. न्यायबिन्दु, १.५।

है, अतः वह विज्ञान शब्द तथा उसके अभिधेय अर्थ घट को ही ग्राह्य या विषय करता है । अतः उस ज्ञान को विकल्प कहेंगे ।

संक्षेप में भाव यह है कि अभिधान के साथ अभिधेय को विषय करने वाली प्रतीति कल्पना है । इस कल्पना से रहित घट-प्रत्यक्ष अलग है । इस प्रत्यक्ष का विषय घटमात्र है । इस ज्ञान में घटाकार प्रविष्ट तो है; लेकिन अभिधाना-भिधेय भाव से नहीं है । घट में अभिधेयता का ग्राह्यतया अनुशीलन नहीं है । चूँकि विषय समक्ष है । शब्द या अनुमान स्थल में विषय अनुपस्थित रहता है । अतः वह ज्ञान अभिधेय को ही विषय बनाता है । अभिधेय विना अभि-धान ज्ञान के उपस्थित नहीं हो सकता है । अतः अभिधान के साथ अभिधेय में ही शब्दज्ञान की ग्राह्यता स्वीकरणीय होती है । इसलिए वह ज्ञान अभिलाप-संसृष्टियोग्याकार वाला है, कल्पना है । प्रत्यक्ष वैसा नहीं है । कोई प्रतीति अभिलाप से असंसृष्टाकार वाली होती है । जैसे अव्युत्पन्न शब्दार्थ-सङ्केत वाले बालक की प्रतीति । उस प्रतीति को भी कल्पनाजाल में लेने के लिए योग्य पद का निवेश किया गया है ।

ग्राह्य अर्थ विज्ञान को उत्पन्न करता हुआ ज्ञान को नियत आकार वाला बनाता है । जैसे रूप चक्षुर्विज्ञान को पैदा कर उसको रूप के आकार वाला बनाता है । भाव यह है कि ज्ञान विषयनियम से नियत तथा उसके भेद से भिन्न होता है । विषय के विना विज्ञान नियताकार नहीं हो सकता है, विषय विज्ञान में विषयितया प्रविष्ट है या विज्ञान (चित्त) झटिति विषय के आकार में ढल जाता है । उसी विषयाकार में परिणत चित्त को ही घटज्ञान, पटज्ञान आदि कहते हैं ।

विकल्प विज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है, अतः प्रतिभास (आकार) नियम हेतु के अभाव में वह ज्ञान अनियत-प्रतिभास होता है । विकल्पविज्ञान अर्थसन्निधि की अपेक्षा नहीं करता है । अतः असन्नियतविषयक विज्ञान है । पूर्वदृष्ट तथा अपरदृष्ट अर्थ को एकीकृत करता हुआ वह विज्ञान असन्निहित-विषयक होता है; क्योंकि पूर्वदृष्ट अर्थ सन्निहित नहीं रहता है । ऐसा विज्ञान प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, अनुभूति शब्द आदि हैं । असन्निहितविषयक विज्ञान अर्थ-सन्निधित्वानिरपेक्ष होता है । अतः वह अनियताकार होता है । वह विज्ञान अभिलापसंसर्गयोग्य होता है । अतः वह अनियताकार होता है । वह विज्ञान अभिलापसंसर्गयोग्य कहलाता है । इन्द्रिय-विज्ञान वैसा नहीं है । वह विज्ञान

चक्षुरादिसन्निहितार्थमात्र का ग्राही होता है । वह अर्थ से सापेक्ष है । अर्थ ही विज्ञान आकार के नियम का हेतु है । अर्थ के विना विज्ञान के आकार का नियमन नहीं हो सकता है । तत्त्वसङ्ग्रहकार ने भी कहा है—

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमाभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना' इति । अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ अभ्रान्त विज्ञान है । अभिलापिनी प्रतीति कल्पना है । इस प्रकार असन्निहितविषयक अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिरूप कल्पना से रहित सन्निहितार्थमात्रग्राही अभ्रान्त विज्ञान प्रत्यक्ष है ।

काव्यालङ्कार में आचार्य भामह ने कल्पनापोढ़रूप प्रत्यक्ष-लक्षण में अनुपपत्ति दिखलायी है । उसके पूर्व बौद्धमत को अनुवादित करते हुए वे कहते हैं—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं तथार्थादिति केचन ।
कल्पनां नामजात्यादियोजनां प्रतिजानते[१] ।।

कल्पना एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—इन पाँच उपाधियों का व्यक्ति में आरोप । इस कल्पना अर्थात् उपाधियों से रहित पदार्थ-ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का केवल व्यक्ति रूप में ग्रहण (जिस पर नाम, जाति आदि का आरोप न किया गया हो) प्रत्यक्ष कहलायेगा । जैसा कि धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पना का लक्षण है—

तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[२] ।

कल्पनारहित एवं भ्रान्तिहीन ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । अपोढ़रहित, कल्पनापोढ़कल्पनारहित, योजना आरोप ।

बौद्धदर्शन के अनुसार व्यक्ति वास्तविक है और जाति कल्पित । व्यक्ति को वास्तविक मानने का कारण यह है कि लौकिक व्यवहार उसी से सम्पन्न होता है । हमारा भोजन मनुष्य व्यक्ति बनाता है, मनुष्य जाति नहीं, अभी जो यह व्याख्या लिख रहा है, वह एक व्यक्तिमात्र है, जाति नहीं । जिससे हम दूध दुहते हैं, वह गो जाति नहीं, गो व्यक्ति है । इस प्रकार हम देखते हैं कि

---

१. भामह, काव्यालङ्कार-५.६; २. न्यायबिन्दु-१.४ ।

अर्थक्रियाकारिता—कार्य करने की योग्यता—व्यक्ति में ही रहती है, अत: वही वास्तविक है । नाम, जाति आदि उस पर आरोपित धर्म हैं, जो कल्पित हैं, अत: अवास्तविक हैं । नाम केवल सम्बोधन और निर्धारण की सुविधा के लिए ऐच्छिक (व्यक्ति) सङ्केत है । उसे कोई जब चाहे बदल सकता है; किन्तु उससे व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आयेगा ।

नाम के समान जाति भी आरोपित धर्म ही है, जैसे मनुष्य या पशुत्व । इनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं । हम मनुष्य या पशु व्यक्ति को तो देख सकते हैं, पर मनुष्यत्व या पशुत्व को नहीं । इसी प्रकार गुण और क्रिया की सत्ता का ज्ञान वस्तु के विना नहीं हो सकता । वस्तु के नष्ट हो जाने पर तदाश्रित गुण का नाश स्वयं सिद्ध है । अत: गुण की स्वतन्त्र सत्ता अकल्पनीय है । क्रिया के साथ भी यही बात है । चलन क्रिया अपने आप में सम्भव नहीं । वह तो सम्भव और अनुभवगम्य होती है चलने वाले व्यक्ति के कारण ।

चूँकि नाम, जाति, गुण, क्रिया ये सब के सब परतन्त्र और व्यक्ति में आरोपित हैं, इसलिए मिथ्या हैं और इनका प्रत्यक्ष असम्भव है; क्योंकि प्रत्यक्ष सत्य का होता है, मिथ्या का नहीं । इस तरह किसी वस्तु का जो कल्पना-रहित ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष कहलाता है ।

इस बौद्धमत में विप्रतिपत्ति प्रदर्शित करते हुए आचार्य भामह काव्यालङ्कार में कहते हैं—

समारोपः किलैतावान् सदर्थावलम्बनञ्च तत् ।
जात्याद्यपोहे वृत्तिः क्व क्व विशेषः कुतश्च सः[१] ।।

आप मानते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसी वस्तु का होता है, जो सत् अर्थात् यथार्थ हो और जाति, गुण, क्रिया इत्यादि उपाधियाँ असत् (कल्पना) हैं, अत: उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; किन्तु जात्यादि का निषेध कर देने पर किसी वस्तु का ज्ञान सम्भव है क्या ? यदि इन उपाधियों को स्वीकार न करें, तो राम से श्याम का, बैल से घोड़े का अन्तर क्या होगा ?

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक । विकल्प शब्द यहाँ भेद का वाचक है । निर्विकल्पक वह है, जिसमें विकल्प या भेद न हो और सविकल्पक वह है, जिसमें विकल्प या भेद हो । एक उदाहरण लें ।

१. भामह, काव्यालङ्कार–५.७ ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका में बैठे हैं, आकाश से नारद उतर रहे हैं, उन्हें देखकर क्रमशः किस प्रकार श्रीकृष्ण को प्रतीति हो रही है—

चयंस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः[१] ।।

अर्थात् वस्तु के निर्धारण करने में समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने उस आकाश से उतरते हुए पुरुषविशेष को पहले तेजपुञ्ज समझा। तदनन्तर थोड़ा नीचे आने पर कुछ-कुछ हस्तादि के अवयवों के झलकने पर 'यह कोई प्राणी है' ऐसा समझा। इसके बाद और नीचे आने पर मुखादि अवयवों के दिखाई पड़ने पर कोई पुरुष समझा। इस क्रम से अन्त में 'ये नारद हैं' ऐसा ज्ञान किया।

प्रश्न यह है कि यह कैसे ज्ञान हुआ कि 'ये नारद हैं'। दूरी कम होने से अन्तर स्पष्ट हो गया; किन्तु कैसे ? उत्तर है—उपाधिचतुष्टय के बल से जाति, गुण, क्रिया, नाम के द्वारा। मनुष्य, पशु का अन्तर इसलिए है कि दोनों भिन्न जातियाँ हैं, जिनके भिन्न गुण, नाम आदि हैं। इन उपाधियों के रहने पर उनकी भिन्नता का बोध होता है, उनका लोप हो जाने पर भिन्नता भी लुप्त हो जाती है। अतः सच्ची बात यह है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष उपाधियों के कारण ही होता है। बौद्ध इन्हीं का खण्डन कर देते हैं। स्वभावतः आपत्ति होती है कि यदि जात्यादि को न मानें, तो ज्ञान का विषय क्या होगा, अर्थात् ज्ञान किसका होगा। फिर एक वस्तु से दूसरी वस्तु का पार्थक्य कैसे होगा और उस पार्थक्य का आधार क्या होगा ?

बौद्धमत के खण्डन में आचार्य भामह दूसरी युक्ति प्रदर्शित करते हैं—

तदपोहेषु च तथा सिद्धा सा बुद्धिगोचरा ।
अवस्तुकं चेद्वितथं प्रत्यक्षं तत्त्ववृत्ति हि[२] ।।

अर्थात् जात्यादि का अपोह होने पर भी (जात्यादि) बुद्धिगोचर सिद्ध होती है। यदि प्रत्यक्ष को अवस्तुक (निर्विषयक) मानकर अयथार्थ कहें, तो ठीक नहीं; क्योंकि वह यथार्थ का बोधक है।

---

१. महाकवि माघ, शिशुपालवध–१.३;   २. भामह, काव्या० ५.८।

यों आप जात्यादि का अपोह भले ही कर दें, फिर भी उसे बुद्धिगोचर होने से नहीं रोक सकते। आपके कथनानुसार गो के अर्थ की प्रतीति गोभिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति (अपोह) के द्वारा सिद्ध होती है; किन्तु गो-भिन्न को समझने के लिए भी गो का अर्थ और 'गो' को जानने के लिए गोत्व का परिज्ञान अपरिहार्य है, जैसा पहले दिखा चुके हैं। जात्यादि के अभाव में भी किसी वस्तु का ज्ञान असम्भव है। वह गोत्व जाति नहीं तो और क्या है ? इस तरह एक प्रकार से जात्यादि का निषेध कर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि अपोह भी जात्यादि के विना नहीं टिक पाता और यदि जात्यादि का प्रत्यक्ष होता, तो उसकी सत्ता प्रमाणित हो ही जाती।

यदि कहिए कि गोत्व मान भी लीजिए तो क्या हुआ। कारण कि वह ज्ञान अयथार्थ है। वस्तु तो गो है, गोत्व नहीं, वह (गोत्व) तो काल्पनिक है और जो प्रत्यक्ष उस काल्पनिक गोत्व का ज्ञान कराता है, वह भी काल्पनिक ही होगा, यथार्थ नहीं। फलतः प्रत्यक्ष अयथार्थ ही रहता है, उसके स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता।

इसका उत्तर है कि नहीं, प्रत्यक्ष अयथार्थ नहीं रहता। अयथार्थ तो तब रहता, जब उससे वस्तु का ज्ञान होता ही नहीं; किन्तु ज्ञान तो होता है। प्रत्यक्ष गोत्व (जाति) का ज्ञान कराते हुए गो (व्यक्ति) का भी ज्ञान कराता है। यह तो दूसरा लाभ हुआ। फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान अयथार्थ है। वह तो सर्वथा तत्त्ववृत्ति-यथार्थविषयक सिद्ध होता है।

अनुमान— [अनु + मा + ल्युट्] अनुमिति के साधन द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचना, दिये हुए कारणों से अनुमान लगाना, अनुमान, उपसंहार, न्यायशास्त्र के अनुसार ज्ञानप्राप्ति के चार साधनों में एक, १. अटकल, २. अन्दाजा, ३. सादृश्य, ४. साहित्यशास्त्र में एक अलङ्कार, जिसमें प्रमाण निर्धारित वस्तु का भाव अनोखे ढंग से प्रकट किया जाता है।

आचार्य भामह अपने काव्यालङ्कार में अनुमान के सम्बन्ध में न्याय एवं बौद्धमत को उपस्थापित करते हुए कहते हैं—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरे विदुः[१] ।।

---

१. भामह, काव्या० ५.११।

अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि त्रिविध लिङ्ग (हेतु) से साध्य का ज्ञान अनुमान है । दूसरों के अनुसार ज्ञाता का नित्य सम्बन्ध से वस्तु को देखना अनुमान है । यहाँ केचन से न्याय का मत एवं अपरे से बौद्धमत को उपस्थापित किया गया है । अत: इन दोनों मतों को समझना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है ।

नान्तरीय का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु के बिना नहीं रहना— योऽर्थो यमर्थम् अन्तरेण न भवति स नान्तरीय: । अर्थात् दो वस्तुओं का नित्य सम्बन्ध । आग और धुएँ के नित्य सम्बन्ध को जानने वाला व्यक्ति जब-जब धुएँ को देखता है, तब-तब उसे आग का ज्ञान होता है । वह ज्ञान आग और धुएँ के नित्य सम्बन्ध के आधार पर ही होता है । अत: यह अनुमान ही है ।

लिङ्ग (साधन) से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान अनुमान कहलाता है । बहुत बार ऐसा होता है कि हमें केवल धुआँ दिखाई देता है, आग नहीं दिखाई देती, फिर भी धुआँ देखकर ही हम समझ लेते हैं कि वहाँ आग अवश्य है । ऐसा समझने का कारण यह है कि हमने जहाँ धुआँ देखा, वहाँ आग अवश्य पाई, दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, अर्थात् आग के विना धुआँ हो नहीं सकता (अविनाभाव-न विना-भाव-विना नहीं रहना—एक वस्तु के विना दूसरी वस्तु का नहीं रहना । अविनाभाव को नित्य सम्बन्ध भी कहते हैं ।) यहाँ आग का ज्ञान सीधे (प्रत्यक्ष) नहीं, धुएँ के द्वारा होता है । तात्पर्य है कि आग के ज्ञान में धुआँ सहायक है, अत: धुआँ साधन (लिङ्ग चिह्न) हुआ और साध्य लिङ्गी— जिसमें रहे । साध्य-साधन के नित्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं ।

ऊपर अनुमान के लक्षण में कहा गया है कि साधन (धुआँ) से साध्य (आग) का ज्ञान अनुमान है । उस अनुमान की रीढ़ है व्याप्ति-साध्य और साधन का नित्य सम्बन्ध । यदि उस सम्बन्ध में कभी अन्तर पड़ गया, तो अनुमान टिक नहीं सकता ।

अनुमान में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग होता है । वे पाँच अवयव निम्नलिखित हैं—

१. **प्रतिज्ञा**—पर्वत में आग है;

२. **हेतु**—कारण कि (वहाँ) धुआँ है;

३. दृष्टान्त–जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग रहती है, जैसे रसोईघर (अन्वय), जहाँ आग नहीं, वहाँ धुआँ नहीं, जैसे जलाशय (व्यतिरेक);

४. उपनय–इस पर्वत में धुआँ है;

५. निगमन–अत: इसमें आग है ।

दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं—१. अन्वय तथा २. व्यतिरेक ।

अन्वय—तत्सत्त्वे तत्सत्तान्वय:-एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु का भी रहना ।

व्यतिरेक—तदभावे तदभावो व्यतिरेक:—एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना ।

इस प्रकार अन्वय का अर्थ है विधि और व्यतिरेक का अर्थ है निषेध । एक ही बात को अन्वय (विधिवाक्य) के द्वारा भी कह सकते हैं और व्यतिरेक (निषेधवाक्य) द्वारा भी । किसी बात को अधिक स्पष्ट और दृढ़ करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक दोनों का प्रयोग किया जाता है ।

प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँचों वाक्यों की सहायता से अनुमान का पूर्ण रूप खड़ा होता है ।

हेतु या साधन के तीन रूप होते हैं—

पक्षसत्त्व (पक्ष में रहना), सपक्षसत्त्व (सपक्ष में रहना) और विपक्षव्यावृत्तत्व (विपक्ष में नहीं रहना) ।

पक्ष उसे कहते हैं, जहाँ साध्य का सन्देह हो । उपर्युक्त उदाहरण में पर्वत पक्ष है; क्योंकि वहाँ आग (साध्य) है या नहीं, इसका सन्देह है । इसी सन्देह का निवारण करने के लिए धुएँ (साधन) की सहायता ली जाती है । धुआँ देखकर यह सन्देह मिट जाता है, निश्चय हो जाता है कि वहाँ आग है ।

सपक्ष का अर्थ है पक्ष के समान । सपक्ष उसे कहते हैं, जिसमें साध्य का रहना निश्चित हो, जैसे रसोईघर । रसोईघर में आग निश्चित रूप से रहती है । वहीं बार-बार इस व्याप्ति का भी निर्धारण होता है कि जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग भी रहती है ।

पक्ष और सपक्ष में अन्तर यही है कि पक्ष में साध्य की स्थिति सन्दिग्ध रहती है और सपक्ष में निश्चित ।

सपक्ष जो विपरीत हो, वह **विपक्ष,** अर्थात् जिसमें साध्य का अभाव (न रहना) निश्चित हो; जैसे–जलाशय। जिस प्रकार रसोईघर (सपक्ष) में आग (साध्य) का रहना निश्चित है, उसी प्रकार जलाशय (विपक्ष) में आग का नहीं रहना निश्चित है। सपक्ष से बिलकुल विपरीत धर्मवाला होने से उसे विपक्ष कहते हैं।

पक्ष—जिसमें साध्य की स्थिति सन्दिग्ध हो।

सपक्ष—जिसमें साध्य की स्थिति निश्चित हो।

विपक्ष—जिसमें साध्य का अभाव हो।

तो जो हेतु (साधन) पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्त्व इन तीन गुणों से विशिष्ट हो, उसी से साध्य की सिद्धि होती है। उसे सद्धेतु (सत् हेतु) भी कहते हैं; क्योंकि वह हेतु सत् (अच्छा-साध्य की सिद्धि कराने वाला) है। जिस हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती, उसे हेत्वाभास (हेतु का आभास, जो हेतु जैसा दिखे, किन्तु वस्तुतः हेतु हो नहीं) कहते हैं।

आचार्य दिङ्नाग के अनुमान सम्बन्धी इस मत में लिङ्ग-कल्पना का अभाव है, अन्यथा बात प्रायः वही है, जो भामह ने उक्त कारिका के पूर्वार्द्ध में उद्धृत की है।

बौद्धमतावलम्बी आचार्यों का कहना है कि लिङ्गग्रहण और व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् जो मान प्रवृत्त हो, उसको अनुमान कहते हैं। मान प्रमाण को कहते हैं। साध्य-साधन के नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। पक्ष में लिङ्ग-दर्शन को पक्षधर्मता कहते हैं, अर्थात् पक्षवृत्तित्वेन लिङ्ग के ज्ञान को पक्षधर्मता-ज्ञान कहते हैं। जैसे पर्वत वह्निमान् है, धूम होने से। इस अनुमान में धूम-वाला पर्वत है, ऐसा ज्ञान पक्षधर्मता-ज्ञान है। धूम वह्नि ही व्याप्य है, ऐसा ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान है। वह्नि से व्याप्य धूमवाला पर्वत है, यह ज्ञान जो व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान है, वह परामर्श कहलाता है। इससे व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग का पक्ष के साथ वैशिष्ट्य अर्थात् सम्बन्ध का अवगाहन होता है।

पक्षधर्मता-ज्ञान के बाद साध्य-साधन के अव्यभिचरित सम्बन्धरूप व्याप्ति के स्मरण होने पर अनन्तर काल में अनुमान होता है। जैसे अर्थ के साथ अविनाभाव से अव्यभिचरित सम्बन्ध से अर्थ का प्रापण कराता हुआ प्रत्यक्ष

प्रमाण है, वैसे ही अर्थ के साथ अविनाभाव से परिच्छिन्न अर्थ का प्रापण कराता हुआ अनुमान भी प्रमाण है। जैसा कि न्यायबिन्दु में कहा गया है—

त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्[१] ।

आचार्य भामह ने अनुमान के इस लक्षण में अनेक दोषों का उद्भावन किया है। उनमें प्रतिज्ञा के दोषों की गणना करते हुए कहा है कि तदर्थ-विरोधिनी, हेतुविरोधिनी, सिद्धान्तविरोधिनी, सर्वागमविरोधिनी, प्रसिद्धधर्मा, प्रत्यक्षबाधिनी इस प्रकार प्रतिज्ञा दूषित होती है, अर्थात् प्रतिज्ञा के इतने दोष हैं। यथा—

तदर्थहेतुसिद्धान्तसर्वागमविरोधिनी ।
प्रसिद्धधर्मा प्रत्यक्षबाधिनी चेति दुष्यति ।।

इन सभी दोषों की विस्तृत चर्चा अपने काव्यालङ्कार में उन्होंने की है। इस प्रसङ्ग में काव्य में अनुमान के उपयोग का प्रदर्शन करते हुए आचार्य भामह ने कहा है—

अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम् ।
इदन्तु शास्त्रगर्भेषु काव्येष्वभिहितं यथा[२] **।।**

आचार्य भामह ने प्रथम परिच्छेद की दशवीं कारिका में काव्य के भेद करते हुए शास्त्रकाव्य का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि एक तो शास्त्राश्रित काव्य होता है, दूसरा उससे भिन्न। शास्त्राश्रित काव्य में शास्त्रीय विषयों, जैसे–न्याय, व्याकरण आदि का उपयोग होता है। दूसरी कोटि के काव्य को लोकाश्रित कह सकते हैं। उसमें लोकव्यवहार का रमणीय निरूपण रहता है।

ऐसे सिद्धान्तों को आधार बनाकर आचार्य विश्वनाथ ने अनुमान को एक अलङ्कार बना दिया है। उन्होंने अनुमान नामक अलङ्कार का लक्षण करते हुए कहा है—

अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्[३] ।

अर्थात् हेतु के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमानालङ्कार कहते हैं। जैसे—

---

१. न्यायबिन्दु, २.३; २. भामह, काव्या० ५.३० ।
३. सा०द०, १०.६३ ।

जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या
विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः ।
तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गे-
ष्वपाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे[१] ।।

हम जानते हैं कि इस सारसाक्षी (कमलनयनी) के हृदय में प्रियतम का मुखचन्द्र विराजमान है । उसके चारों ओर फैलने वाली शुभ्र कान्ति से इसके अङ्ग पाण्डुर (श्वेत) हो गये हैं और नयनकमल मुकुलित होने से लगे हैं । यहाँ 'वक्त्रचन्द्र' और 'अक्षिपद्म' के रूपकों के कारण चमत्कार हुआ है ।

उन्होंने अन्य उदाहरण से स्पष्ट किया है । यथा—

यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चारोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ।।

अर्थात् जहाँ कामिनियों की दृष्टि पड़ती है, वहीं कामदेव के पैने बाण बरसने लगते हैं । इससे मालूम होता है कि इनके आगे-आगे धनुष पर बाण चढ़ाये कामदेव दौड़ता रहता है–जो इनकी नजर का इशारा पाते ही बाणों से वेधने लगता है । यहाँ अनुमान का आकार अत्यन्त स्पष्ट है ।

आचार्य मम्मट ने भी व्यञ्जना को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत गतार्थ करने वाले महिमभट्ट के मत का खण्डन करते हुए त्रिरूपाल्लिङ्गज्ञानमनुमानं की व्याख्या की है । आचार्य महिमभट्ट का अभिप्राय है कि 'व्याप्ति' तथा 'पक्ष-धर्मता'युक्त एवं त्रिरूपविशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी का जो ज्ञान होता है, वह अनु-मान कहलाता है और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी 'व्याप्ति' और पक्षधर्मता के विना नहीं होती है । इसलिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव की प्रतीति भी अनुमानरूप ही ठहरती है । इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं । यथा—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन[२] ।।

यह श्लोक गाथासप्तशती के द्वितीय शतक में आया हुआ ७५वाँ श्लोक है । गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में किसी स्त्री ने अपना निवासस्थान बना रखा था, जहाँ उसका उप-पति उससे मिलने आता था । कोई दूसरे

---

१. सा०द०, १० परि०, पृ० ३४८; २. का० प्र० ५.१३८ ।

पण्डित जी उसी उद्यान में अपने पूजा-पाठ के लिए फूल आदि लेने और भ्रमण करने के लिए आते थे। इनके आने से उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था। इसलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला, जिससे पण्डित जी उधर का आना-जाना बन्द कर दें। इसी दृष्टि से उसने इस श्लोक द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते के मारे जाने की सूचना दी है। वह जानती है कि पण्डित जी बड़े डरपोक आदमी हैं। बाग में जो कुत्ता रहता था, उससे ही वे इतना डरते थे, तो सिंह का नाम सुनकर वह उधर का आना-जाना अवश्य ही भूल जायेंगे। इसलिए उसने पण्डित जी को यह सूचना दी कि गोदावरी के किनारे के कुञ्ज में रहने वाले सिंह ने उस कुत्ते को आज मार डाला है।

यहाँ वाच्यार्थ 'भ्रम धार्मिक' विधिरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ निषेध में पर्यवसित होता है। स्त्री कह तो यह रही है कि पण्डित जी, अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण करें। पर उसका अभिप्राय यह है कि अब इधर भूलकर भी आने का विचार न करना, नहीं तो जो दशा आज सिंह ने कुत्ते की की है, वही दशा किसी दिन आपकी भी हो सकती है।

व्यञ्जनावादी इस निषेधरूप अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ मानते हैं; परन्तु महिमभट्ट उसको अनुमिति अर्थात् अनुमानजन्य प्रतीति का विषय मानते हैं। वे यहाँ गोदावरी-तीर पर पण्डित जी के न जाने, अर्थात् भ्रमणाभाव के बोध के लिए व्यतिरेक-व्याप्ति का आश्रय लेते हैं। गोदावरी का किनारा आप जैसे भीरुओं के भ्रमण योग्य नहीं है, यह बात सिद्ध करती है। श्लोक में विधिरूप से 'भ्रम' 'भ्रमण करो' यह कहा है। साथ में ही गोदावरी-तीर पर सिंह के रहने की सूचना भी दी गयी है। पण्डित जी जैसे भीरु व्यक्ति का भ्रमण तो तब बन सकता था, जब भय का कारण वहाँ न होता; परन्तु वहाँ सिंहरूप भय का कारण विद्यमान है। इसलिए यहाँ 'भयकारणोपलब्धि' रहने से साध्याभाव अर्थात् 'भयकारणानुपलब्धि' का अभाव अर्थात् 'भयकारणोपलब्धि' पाया जाता है। उससे साध्य, विधिरूप भ्रमण का अभाव, अर्थात् भ्रमण का निषेध, भ्रमणाभाव ही सिद्ध हो सकता है। इसको अनुमान-वाक्य के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं (प्रतिज्ञा या साध्य)

२. भयकारणसिंहोपलब्धेः (हेतु या साधन)

३. यद्यद् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणभाववत्, यथा—गृहम् (व्यतिरेक-व्याप्तिसहित उदाहरण)

४. न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः (उपनय)

५. तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम् (निगमन) ।

इस प्रकार महिमभट्ट पञ्चावयव-वाक्य से अनुमान द्वारा भ्रमणनिषेध को सिद्ध करते हैं और उसके लिए व्यञ्जना वृत्ति मानने वाले व्यञ्जनावादी के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं ।

लेकिन व्यञ्जना के प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मट का कहना है कि महिमभट्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया यह हेतु, हेतु नहीं, अपितु हेत्वाभास है । पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में—१. अनैकान्तिक, २. विरुद्ध और ३. स्वरूपासिद्ध तीन प्रकार के हेत्वाभासों के लक्षण महिमभट्ट के इस हेतु में पाये जाते हैं ।

प्रत्येक शुद्ध हेतु में १. पक्षसत्त्व, २. सपक्षसत्त्व तथा ३. विपक्षव्यावृत्तत्व इन तीनों रूपों का होना आवश्यक है । यदि उनमें से किसी एक भी धर्म की न्यूनता हो जाती है, तो वह हेतु, हेतु नहीं रह जाता है, अपितु हेत्वाभास बन जाता है । जो हेतु पक्ष में न पाया जाय, अर्थात् पक्षसत् न हो, वह **'स्वरूपासिद्ध'** नामक 'हेत्वाभास' कहलाता है और जो हेतु 'विपक्षव्यावृत्तत्व' धर्म से रहित है, वह **'अनैकान्तिक'** हेत्वाभास कहलाता है । यहाँ महिमभट्ट ने 'सिंहोपलब्धि' को 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व' सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में प्रस्तुत किया है; किन्तु यह अनैकान्तिक हेतु है । जहाँ-जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नहीं है; क्योंकि युद्धादि में भय के कारणों को जानते हुए भी राजा की आज्ञा से भीरु सैनिक आदि को जानना ही पड़ता है । इसी प्रकार कहीं प्रभु की आज्ञा से, कहीं गुरु की आज्ञा से और कहीं प्रिया के अनुराग से भय के कारण होते हुए भी भीरु की भी प्रवृत्ति पायी जाती है । इसलिए यह हेतु 'अनैकान्तिक' है ।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि गोदावरी-तीर यहाँ 'पक्ष' है । उसमें 'सिंहोपलब्धि' रूप हेतु का निश्चित रूप से होना आवश्यक है । यदि अनुमान करने वाले पण्डित जी ने गोदावरी-तीर-रूप पक्ष में सिंह को देखा होता, तो उसको 'पक्षसत्' हेतु कहा जा सकता था; परन्तु पण्डित जी ने उसे देखा तो नहीं है, केवल उस स्त्री के कथन से ही उनको उसका ज्ञान हो रहा है; परन्तु

जो वचन कहा जाय, वह प्रमाण ही हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति न होने से वचनमात्र को प्रमाण नहीं माना जा सकता है । इसलिए गोदावरीतीर पर सिंह की सत्ता निश्चित नहीं है । फलत: 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्ध:' इस लक्षण के अनुसार 'सिंहोपलब्धि'रूप हेतु के गोदावरीतीररूप 'पक्ष' में निश्चित रूप से गृहीत न होने से यह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास हो जाता है । इस प्रकार के हेतु के 'अनैकान्तिक' तथा 'स्वरूपासिद्ध' होने से अनुमान द्वारा भ्रमण-निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता है । अत: उसके ज्ञान के लिए व्यञ्जनावृत्ति अवश्य माननी चाहिए । इसी बात को आचार्य मम्मट ने कहा है—

'**अत्रोच्यते**—भीरुरपि गुरो: प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवम्भूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतु: । शुनो विभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसद्भाव: प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चित:, अपि तु वचनात् । न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च । तत्कथमेवंविधाद्धेतो: साध्यसिद्ध:'[१] ।

इसी प्रकार एक और दोष दिखाते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि 'नि:शेषच्युतचन्दनस्तनतटम्' इत्यादि श्लोक में जिस चन्दन के छूट जाने आदि का महिमभट्ट ने अनुमान के गमक अनुमापकरूप में दिया है, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं । इसलिए यहाँ उक्त श्लोक में स्नान के कार्य रूप से कहे गये हैं । इसलिए उपभोग में ही उसकी व्याप्ति नहीं है । अत: अनैकान्तिक (हेत्वाभास) है । इसलिए भी अनुम्पक नहीं हो सकते हैं, यह चौथा दोष है । जैसा कि मम्मटाचार्य ने कहा है—

'तथा नि:शेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि'[२] ।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने नैयायिक महिमभट्ट की अनुमान-प्रक्रिया का खण्डन कर आनन्दवर्द्धनाचार्य की अभिमत व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की है ।

परिणाम—(परि + नम् + घञ्) दूसरे पक्ष में उपसर्ग का दीर्घ होकर परिणाम भी बनता है । बदलना, परिवर्तन, रूपान्तरण, पाचन—अन्नं न

१. मम्मट, का० प्र० पञ्चमोल्लास ; २. तदेव ।

सम्यक् परिणाममेति-सुश्रुत, भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्–तर्क० । नतीजा, निष्पत्ति, फल, प्रभाव—अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः–हि० २.१३५ । साहित्य में परिणाम नामक एक अलङ्कार ।

किसी वस्तु का दूसरे रूप में परिवर्तित होना परिणाम है । वह धर्म, लक्षण तथा अवस्था भेद से तीन प्रकार का होता है । सुवर्ण का कटक-कुण्डल में परिवर्तित होना धर्म-परिणाम है । प्रत्युत्पन्नत्वादि लक्षण-परिणाम उत्पत्ति है । इसी प्रकार अवस्था-परिणाम नवीन, प्राचीन आदि की उत्पत्ति है । वेदान्त के एक पक्ष में परिणामवाद मान्य है । जैसा कि कहा है—'परिणामो नाम उपादान-समसत्ताककार्यापत्तिः । विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः । प्रातिभासिक-रजतं चाविद्यापेक्षया परिणामः, चैतन्यापेक्षया विवर्त इति चोच्यते'[१] । इसी परिणामवाद का अवलम्बन लेकर आचार्य विश्वनाथ रस को दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना मानते हैं । वे रस का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्[२] ।।

यहाँ वे व्यक्त पद का अर्थ दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि व्यक्त पद का अर्थ है प्रकाशित, तो प्रकाशित वही वस्तु होती है, जो वहाँ पहले से विद्यमान हो, जैसे किसी स्थान पर रखा हुआ घड़ा दीपक के आने पर प्रकाशित हो जाता है; परन्तु रस के विषय में यह बात ठीक नहीं बैठती; क्योंकि विभावादि की भावना से पहले रस होता ही नहीं, फिर असत् वस्तु का प्रकाश कैसे होगा ? यदि घड़ा पहले से न रखा हो, तो दीपक लाने से भी कैसे व्यक्त होगा ? इस आक्षेप का दूसरे दृष्टान्त के द्वारा परिहार करते हैं । जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है, उसी प्रकार विभा-वादिकों से रस व्यक्त होता हो, यह बात नहीं है; किन्तु जैसे मट्ठा डालने से दूध दूसरे रूप में परिणत होकर दही के स्वरूप में व्यक्त होता है, इस प्रकार यहाँ रस व्यक्त होता है । दूध में डालने से पहले मट्ठे का स्वाद पृथक् प्रतीत होता है और दूध का पृथक् । एवं स्वरूप में भी भेद रहता है; परन्तु इन दोनों

---

१. वे०परि० प्रत्यक्षखण्ड; २. सा० द० ३ ।

के मेल होने पर भी कुछ देर तक यह बात रहती है; परन्तु कुछ देर के बाद न मट्ठा ही दीखता है और न दूध ही; किन्तु उन सबका मिल-मिलाकर एक अन्य पदार्थ दहीं दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार दुष्यन्त-शकुन्तला आदि आलम्बन विभाव और चन्द्र-चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव तथा भ्रूविक्षेपादि अनुभाव एवं निर्वेदादि सञ्चारी–जिनको मट्ठे के समान रस का साधन कहा जा सकता है, वे सब तथा दूध के सदृश रति आदि स्थायीभाव तभी तक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं और इनका आस्वाद भी तभी तक पृथक् प्रतीत होता है, जब तक भावना की प्रबल धारा से ये सब रसरूप नहीं हो जाते। पीछे तो न विभाव पृथक् रहते हैं, न अनुभाव और न अन्य कुछ। ये सब के सब अखण्ड, अद्वितीय, आनन्दघन, ब्रह्मास्वादसहोदर, चिन्मय रस के रूप में पूर्वोक्त दही की तरह परिणत हो जाते हैं। यह मत वेदान्त के परिणामवाद पर आधारित है।

बौद्धमतावलम्बी वेदान्त के इस परिणामवाद को नहीं मानते और इस मत का खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि कार्य कारण का परिणाम ही है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य और कारण में सम्बन्ध नहीं बन सकेगा।

परिणामवादी का कहना है कि कारण की परिणत अवस्था ही कार्य है; तत्त्वसहित अन्यथा प्रथा ही विकार है। मृत् ही किसी आकृति से युक्त होकर पिण्ड तथा किसी आकृति से युक्त होकर घट कहलाता है। सुवर्ण ही आकृति-विशेष से युक्त होकर पिण्ड कुण्डल आदि कहलाता है। मृत्, सुवर्ण आदि घट-कुण्डलादि रूप से परिणत होते हैं।

इस पक्ष में बौद्धमतावलम्बी प्रश्न करते हैं कि कारण में विद्यमान कार्य की परिणति होती है या अविद्यमान कार्य की। यदि कारणों में उत्पत्ति के पहले विद्यमान कार्य की ही उत्पत्ति होती है, तो वह उत्पत्ति व्यर्थ होगी, कार्य तो पहले से ही था, उत्पत्ति किस चीज की होगी। आदि क्षण का कार्य के साथ सम्बन्ध ही उत्पत्ति कहलाता है। वही कार्य कैसे पुनः उत्पन्न हो सकेगा। पूर्व में ही विद्यमान रहने के कारण प्रयत्न व्यर्थ होगा।

यदि कहें कि कार्य स्वेन रूपेण कारण में विद्यमान नहीं रहता, अपितु कारण रूप से ही रहता है, तब तो उक्त दोष नहीं होगा। यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि तब सत्कार्य नहीं कहलायेगा। उत्पत्ति के पहले कारण है, न कि कार्य का रूप है। यह भी नहीं कह सकते कि उत्पत्ति के पहले कार्य का वही

मृदादि स्वरूप है तथा उत्पत्ति के अनन्तर घटादि रूप है । ऐसी दशा में घटादि की विभिन्नरूपता की आपत्ति होगी तथा मृत् अवस्था में भी घट का अभिलाप-प्रसङ्ग होगा तथा आद्यक्षण सम्बन्धरूप उत्पत्ति भी व्यर्थ हो जायेगी । यह भी नहीं कह सकते कि घट इस क्षण का आद्यक्षण सम्बन्ध उत्पत्ति है, न कि मृत्तिका इस रूप के साथ; क्योंकि ऐसी स्थिति में कार्य-कारण की विभिन्नरूपता से भेद अवश्य प्राप्त होगा । कार्य की कारणरूपता मानना भी व्यर्थ ही है । कारण की प्राप्ति मात्र से सर्वथा भिन्न कार्य की उत्पत्ति क्षणभङ्गवाद में मानी जाती है । इसी व्यवस्था से कार्यकारणभाव की उपपत्ति हो जायेगी ।

इस पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि कार्य की उत्पत्ति के पहले जो व्यवस्था है, वह कारण ही है, तो वह कारणावस्थापन्न मृदादि अविकृत होकर घटादिरूपता को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते । यदि वह विकृत होकर कार्य-रूपता को प्राप्त होते हैं, तब तो मृद्-घट, सुवर्ण-कुण्डल का कार्य-कारण-भाव ही नहीं बन सकता, न तो सत्कार्यवाद की सङ्गति ही होगी; क्योंकि कारण की विकृति का अर्थ है, उसके स्वरूप का उपमर्द अर्थात् पिण्डादि का उपमर्द (विनाश), तदनन्तर घटादि की उत्पत्ति । तब यही कहना उचित है कि मृत्पिण्ड के विनाश से घड़े की उत्पत्ति हुई तथा बीजोपमर्द से अङ्कुरोत्पत्ति । इस तरह अङ्कुरादि के प्रति बीजादि हेतु कैसे हुए ?

यदि कहें कि पिण्ड की आकृति का उपमर्द होता है, न कि मृत्तत्त्व का विनाश होता है । मृत्तत्त्व की तो घटादि में अनुवृत्ति भी देखी जाती है, यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अणुपुञ्ज से अतिरिक्त कोई पिण्ड नाम का अवयवी प्रसिद्ध नहीं है । अणुसंघात मात्र पिण्ड भी क्षणिक है । द्वितीय क्षण में उत्पद्यमान घटादिरूप कार्य में उसकी अनुवृत्ति कथमपि सम्भव नहीं है; क्योंकि द्वितीय क्षण में वह पिण्ड निरुद्ध हो जाता है । अभावापन्न कारण अनुवृत्ति कार्य में सम्भव नहीं है । यदि अनुवृत्ति नहीं होगी, तो हेतु कार्य में सादृश्य, एकरूपता, तत्प्रकृतिकत्वादि व्यवहार कैसे सम्भव हो सकते हैं ? यह व्यवहार तो भ्रम से ही सम्भव है । वास्तव में सभी भाव स्वलक्षण हैं । घट का मृत्पिण्ड से, बीज का अङ्कुर से कोई सादृश्य नहीं है । प्रदीपकलिका नदी प्रवाह की तरह भ्रम से सादृश्य, अभेद, तादात्म्य, समवाय अथवा अनतिरिक्तत्व तत्प्रकृतिकत्व आदि भासित होता रहता है । अतएव मृद्-घट, सुवर्ण-कुण्डल इत्यादि समानाधिकरण व्यवहार भी उपपन्न हो जाता है ।

'चन्द्रवन्मुखम्' इत्यादि स्थल में जैसे चन्द्रगत आह्लाद के मुख में नहीं रहने पर भी मुखगत आह्लाद से भिन्न रहने पर भी सादृश्य होता है। वहाँ चन्द्रगत आह्लाद की अनुवृत्ति मुख में कथमपि सम्भव नहीं है। उसी तरह क्षण-भङ्गवाद में द्वितीयक्षणोत्पन्न भाव में प्रथमक्षणोत्पन्न भाव के साथ सादृश्य-बुद्धि भ्रम ही है।

अतः यह परिणामवाद असङ्गत ही है। कारण कार्य से भिन्न है। उसकी कार्य में अनुगति नहीं होती। दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि सम्बन्ध नहीं है, तो कार्य-कारण में असम्बन्ध ही सही। कार्य कारण से असम्बद्ध होकर ही उत्पन्न हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि कारण से असम्बद्ध होकर कार्य होने लगे, तो ऐसा सर्वत्र होने लगेगा। अतः कारणाधीन कार्य की उत्पत्ति कहनी होगी, प्रतीत्यसमुत्पाद पक्ष में कारण कार्य से न तो आरब्ध है, न उसका परिणाम है, न उसमें समवेत है, न अनुगत है, न तो उसके अनधीन है। माध्यमिक-कारिका में कहा भी गया है—

प्रतीत्य यद् यद् भवति न हि तावत् तदेव तत्।
न चान्यदपि तत् तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्[१]॥

अर्थात् हेतु प्रत्यय को प्राप्त कर जो जो होता है, वह हेतु प्रत्यय ही नहीं होता है, न तो उससे अन्य, न तो उच्छिन्न है, न तो शाश्वत है।

शालिस्तम्बसूत्र में भी कहा गया है—'यह बीजहेतुक अङ्कुर न तो स्वतः उत्पन्न है, न परतः, न तो दोनों के द्वारा किया गया है, न तो विना हेतु के ही उत्पन्न है, न तो ईश्वर, काल, प्रकृति, स्वभाव आदि से किया गया है[२]। मध्यमकशास्त्र में भी कहा गया है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन[३]॥

अर्थात् न स्वतः, न परतः, न दोनों से, न तो निर्निमित्त ही पदार्थ कहीं पर कोई उत्पन्न होते हैं, अपितु हेतु-प्रत्यय को प्रतीत कर उत्पन्न होते हैं।

---

१. मा० का० १८।१०; २. शालिस्तम्बसूत्र।
३. म. शा० १.३।

शङ्का यह होती है कि परतः भी भाव उत्पन्न नहीं होते हैं, यह विरुद्ध है; क्योंकि भगवान् बुद्ध ने तो भाव की उत्पत्ति परतः ही बतलायी है। जैसा कि मध्यमकशास्त्र में कहा गया है कि भावोत्पत्ति के चार ही प्रत्यय हैं—हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय और अधिपति-प्रत्यय, पाँचवाँ कोई प्रत्यय नहीं है। हेतु निर्वर्तक होता है। निर्वर्तक ही उपादान है। जैसे—अङ्कुर का बीज हेतु है। इस तरह कार्य परतः तो उत्पन्न होता ही है[1]।

यह शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि परतः उत्पत्ति का तात्पर्य है कि पर-स्वभाव से उत्पत्ति। कार्य का प्रत्ययों में स्वभाव नहीं है। अङ्कुर का बीजादि प्रत्ययों में स्वभाव नहीं है। यदि अङ्कुर का स्वभाव बीजादि में रहे, तो स्व-भाव के अपरिवर्तनीय होने से अङ्कुर की उत्पत्ति ही व्यर्थ हो जायेगी। जब प्रत्ययों में भावों का स्वभाव हो, तो भाव अहेतुक होने लगेंगे। प्रत्ययों में पर-भाव अर्थात् परत्व भाव की अपेक्षा सम्भव नहीं है; क्योंकि विद्यमान वस्तु में ही परत्व या अपरत्व सम्भव हो सकता है। अङ्कुरक्षण में बीज के न रहने के कारण उसमें परत्व नहीं हो सकता। अतः बीजाङ्कुर का यौगपद्य भी सम्भव नहीं है। बीजकाल में अङ्कुर के न रहने से अङ्कुर की अपेक्षा बीज में परभाव सम्भव नहीं है। इसलिए परतः उत्पत्ति की शङ्का निर्मूल है।

काव्यशास्त्र में परिणाम नामक एक अलङ्कार माना गया है, जिसका लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा[2]॥

अर्थात् जहाँ आरोप्य पदार्थ, विषय (उपमेय) के स्वरूप से ही प्रस्तुत कार्य में उपयोगी हो, वहाँ परिणाम नामक अलङ्कार होता है। वह दो प्रकार का होता है—एक तुल्याधिकरणक, दूसरा अतुल्याधिकरणक, अर्थात् विरुद्धाधि-करणक। आरोप्य वस्तु के आरोप विषय के रूप में परिणत होने से यह परिणाम कहलाता है। यथा—

स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया॥

---

१. मा. का. १.४;   २. सा. द. १०.३४-३५।

अर्थात् दूर से आने पर उसने स्मितरूप भेंट मुझे दी और द्यूत में स्तनोप-पीड़नपूर्वक आलिङ्गनरूप पण (बाजी) किया । अन्यत्र भेंट तथा पण वस्त्र, भूषण आदि के रूप में उपयुक्त होते हैं; परन्तु यहाँ नायक की सम्भावना (आदर) और द्यूत में स्मित तथा आलिङ्गन के रूप से ही उनका उपयोग है । पूर्वार्द्ध में स्मित और उपायन में विभक्तियाँ भिन्न हैं, अत: वहाँ अतुल्याधिकरण परिणाम का उदाहरण जानना चाहिए । 'स्मितेन' यहाँ अभेद में तृतीया है । उत्तरार्द्ध में आश्लेष और पण का सामानाधिकरण्य से निर्देश है, अत: यहाँ तुल्याधिकरणक परिणामालङ्कार है ।

इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि काव्यशास्त्र में बौद्धदर्शन के जिन शब्दों के प्रयोग हुए हैं, वे शब्द कहीं खण्डन के रूप में प्रयुक्त हैं या उनके महत्त्वपूर्ण अंश को स्वीकार किया गया है अथवा साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त से मेल न खाने के कारण उपेक्षित कर दिये गये हैं । इस तरह ऐसे शब्दों का पूर्ण अन्वेषण होना चाहिए । यहाँ कुछ शब्दों का दिग्दर्शन मात्र ही हो सका है । अब अगले अध्याय में साहित्यशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की निरुक्ति प्रस्तुत की जायेगी ।

चतुर्थ अध्याय

काव्यशास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति

काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति अर्थात् अर्थ-निर्वचन किया जाना है । काव्यशास्त्र के रहस्यपूर्ण ज्ञान के लिए उसके पारिभाषिक शब्दों का अर्थ-ज्ञान अपेक्षित है । प्राय: देखा जाता है कि वही शब्द काव्य में अधिक चमत्कारी होते हैं, जो अपने व्युत्पत्तिनिमित्त को नहीं छोड़ते । जो शब्द अपने व्युत्पत्तिनिमित्त को छोड़ देते हैं, वे प्राय: अपनी नवनवार्थनिष्पन्दन शक्ति को भी छोड़ देते हैं या सम्बन्धविशेष के द्वारा अन्यार्थ का प्रतिपादन करने लग जाते हैं; परन्तु शब्द में नवनवार्थनिष्पन्दन शक्ति वस्तुत: व्युत्पत्तिमूलक ही है । यद्यपि साहित्यदर्पणकार शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त और व्युत्पत्तिनिमित्त में भेद मानते हैं, तथापि व्युत्पत्तिनिमित्त के बिना शब्द के गूढ़ रहस्य को नहीं समझा जा सकता है । उनका कहना है कि **'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम्'**[१]—अर्थात् शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य । यह आवश्यक नहीं कि जो व्युत्पत्ति का निमित्त है, वही प्रवृत्ति का भी निमित्त हो ।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में जो प्रकारतया भासित होता है, वह **व्युत्पत्तिनिमित्त** कहलाता है, जैसे कुशल शब्द में 'कुशग्राहित्व' । शक्तिज्ञान में जो प्रकारतया भासित होता है, वह **प्रवृत्तिनिमित्त** कहलाता है, जैसे गो शब्द में गोत्व । यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ मानें, तो 'गौ: शेते'–"गौ सोती है" इस वाक्य में लक्षणा माननी पड़ेगी; क्योंकि गमनार्थक गम् धातु से 'गमेर्डो:' इस औणादिक सूत्र के द्वारा 'डो' प्रत्यय करने पर बने हुए गो शब्द का शयनकाल में प्रयोग अनुपपन्न है । शयनकाल में गमन तो होता नहीं, फिर उस समय वह गौ (गमनकर्त्री) कैसे होगी ? अत: व्युत्पत्तिनिमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानना ठीक नहीं; परन्तु लोकव्यवहार में अर्थ की प्रतीति वाक्य से होती है । वाक्य एक और अवयवरहित है । वाक्य में अवयव की कल्पना बाद में की जाती है । मूलरूप में वाक्य अपने आप में अविच्छिन्न है, पूर्ण है ।

---

१. सा० द०, परिच्छेद २, पृ० ३१ ।

वाक्य के अवयवरहित स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने 'चित्रबुद्धि' आदि का आश्रय लिया है। जैसा कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है—

चित्रस्थस्यैकरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः ।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः ।।
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः ।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते[1] **।।**

सर्वप्रथम हमारे सामने चित्र पूर्णरूप में रहता है। तदनन्तर उसके भिन्न-भिन्न भागों में दृष्टि जाती है। उसी तरह वाक्य भी अपने आप में पूर्ण है, निराकांक्ष एवं अवयवरहित है। उसे समझने के लिए हम शब्दों (पदों) में बाँटते हैं तथा शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर वाक्य का विश्लेषण करते हैं। जिस तरह मोर के अण्डे के भीतर विद्यमान रस में भावी मयूर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-चक्रक आदि अविभक्त रूप में पड़े रहते हैं तथा बाद में विभक्त होकर अलग-अलग अवयव के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं, उसी तरह वाक्य में पद आदि अविभक्त रूप में रहते हैं। उनकी अलग-अलग प्रतीति अन्वाख्यान के सहारे हमारे सामने आती है, वैसे ही पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं। वह प्रकृति-प्रत्यय का विभाग ही व्युत्पत्ति कहलाता है, जो काल्पनिक है। यथासम्भव शीघ्र एवं शुद्ध बोध के लिए व्युत्पत्ति या प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का आश्रय लिया जाता है।

यहाँ काव्यशास्त्र के शब्दों का व्युत्पत्तिपरक अध्ययन करने के लिए मुख्य रूप से काव्यप्रकाश में प्रयुक्त शब्दों को आश्रय बनाया जा रहा है। इस प्रसङ्ग में अन्य आचार्यों के मतों को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

ग्रन्थ—(ग्रन्थ्+घञ्) ग्रथ्यते इति ग्रन्थः—बाँधना, गूँथना, कृति, प्रबन्ध, रचना, साहित्यिक कृति, पुस्तक आदि अर्थ होते हैं। सामासिक शब्द ग्रन्थारम्भ, ग्रन्थकारः, ग्रन्थकृत् आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। जैसा कि काव्यप्रकाश के प्रारम्भ में कहा गया है—ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति। ग्रन्थ को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

---

१. वाक्यपदीय, २.८-९।

'पञ्चाङ्गकं वाक्यं ग्रन्थः' ।

अर्थात् पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को ग्रन्थ कहते हैं । वस्तुतः उन पाँच अङ्गों को ही दूसरी जगह पञ्चाधिकरण नाम से कहा गया है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ।।

१. विषय, २. उसके सम्बन्ध में विशय अर्थात् संशय, ३. पूर्वपक्ष, ४. उत्तरपक्ष आदि को दिखलाकर अन्त में किसी, ५. निर्णय को प्राप्त करना, यह पाँच अङ्ग शास्त्र में अधिकरण माने गये हैं, वे ही पाँचों ग्रन्थ के भी अङ्ग हैं । उन पाँचों अङ्गों से युक्त महावाक्य 'ग्रन्थ' कहलाता है । काव्यप्रकाश आदि में भी अनेक विषयों में पूर्वपक्ष आदि का निराकरण करके निर्णय या सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं, इसलिए यह भी ग्रन्थ कहा जाता है । अन्य विद्वानों ने 'सम्बन्धप्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयकशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः' यह ग्रन्थ का लक्षण किया है ।

नियति—(नि+यम्+क्तिन्) नियन्त्रण, प्रतिबन्ध, भाग्य, प्रारब्ध, भवितव्यता । नियतिबलान्नु-दश० । नियतेर्नियोगात्–शिशु० ४.३४, कि० २.१२, ४.२१ । नियतिकृतनियमरहिताम्–काव्यप्र० १.१ । यहाँ नियति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं । **'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनया इति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः'** । अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है, वे पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म नियति पद से कहे जाते हैं । उसके द्वारा किया गया नियम 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः' जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ रहता है, इस प्रकार की व्याप्ति को 'नियतिकृतनियम' कहा जा सकता है । ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से युक्त है । उसमें इस प्रकार की व्याप्ति पायी जाती है कि विशेष प्रकार के सौरभ आदि का विशेष पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध होता है; परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है । उसकी सृष्टि में स्त्री के मुख में कमल की सुगन्ध, उसकी आँखों में कमल का सौन्दर्य और उसके शरीर में कमल की कोमलता रहती है । उसकी सृष्टि में चन्द्रमा की शीतल चाँदनी और मेघों की मन्द ध्वनि से भी विरहिणियों के लिए आग की लपटें निकलती हुई दिखलायी देती हैं । इसलिए कवि की सृष्टि 'नियतिकृतनियमरहिता' है ।

'नियति' शब्द का दूसरा अर्थ अदृष्ट या 'धर्माधर्म' है । ब्रह्मा की सारी सृष्टि 'अदृष्ट' के सिद्धान्त पर ही स्थिर है । प्राणियों के पूर्वकृत कर्म या 'अदृष्ट' के फलभोग के लिए ही इस सृष्टि की रचना हुई है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख, स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है; परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे है । कवि केवल अपनी कल्पना के सहारे जब चाहता है, अपने नायक को या पात्रों को विघ्नबाधाओं के भयङ्कर सङ्घर्ष में डाल देता है और जब चाहता है, तब अतर्कित रूप से मनोवाञ्छित सामग्री से भी अधिक सुख-सामग्री उसके सामने उपस्थित कर देता है । 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि' के अनुसार वह इसी शरीर से मनुष्य को सदेह स्वर्ग में पहुँचा सकता है । इसलिए कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है । मङ्गलाचरण के श्लोक में **'नियतिकृतनियमरहिताम्'** लिखकर मम्मटाचार्य ने कविभारती की इसी विशेषता का उल्लेख किया है ।

परतन्त्र—यह पर और तन्त्र शब्द के योग से बना है । (पृ० अप्, कर्तरि अच् वा) जब सापेक्ष स्थिति बतलायी जाती है, इस शब्द के रूप विकल्प से कर्तृ० सम्बो० अपा० और अधिकरण में सर्वनाम की भाँति होते हैं । दूसरा, भिन्न अर्थ भी होता है । दूरस्थित, हटाया हुआ, दूर का, परे, आगे, दूसरी ओर अर्थ भी होता है । म्लेच्छदेशस्ततः परः–मनु० २.२३, ७.१५८ । बाद का, पीछे का, आगे का (प्रायः अपा० के साथ) । बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास–रघु० ५.६३, कु० १.३१ उच्चतर, श्रेष्ठ–सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम्–रघु० १५.२२ । इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ (गीता० २.४३) । उच्चतम, महत्तम, पूज्यतम, प्रमुख, मुख्य, सर्वोत्तम, प्रधान–न त्वया द्रष्टव्यानां परं दृष्टम्–शा० २ ।

पर का तन्त्र के साथ समास करने पर विशेषण बन जाता है, जिसका अर्थ दूसरे पर आश्रित, पराधीन या अनुसेवी अर्थ होता है । तन्त्र शब्द तन्त्र् से अच् प्रत्यय करने पर बनता है ।

आचार्य मम्मट ने मङ्गलाचरण में 'अनन्यपरतन्त्राम्' पद का प्रयोग किया है । इसमें परतन्त्र शब्द का अर्थ अधीन है । परतन्त्र का पराधीन अर्थ न करके केवल अधीन अर्थ ही करना चाहिए; क्योंकि 'अनन्यपराधीना' यह अर्थ कुछ सङ्गत-सा नहीं होता है । इसलिए यहाँ 'परतन्त्र' शब्द का केवल अधीन अर्थ ही लेना चाहिए ।

परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि ।
अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ[१] ।।

अमरकोश के इस वचन के अनुसार परतन्त्र शब्द केवल अधीन अर्थ का वाचक भी माना गया है ।

कवि की सृष्टि में तीसरी विशेषता मम्मटाचार्य ने 'अनन्यपरतन्त्राम्' इस पद से प्रदर्शित की है । ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति या समवायि, असमवायि, निमित्तकारण आदि के विना सम्भव न होने के कारण इनके अधीन है; परन्तु कवि की सृष्टि के लिए कवि की अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती । वह किसी दूसरे के अधीन न होने से 'अनन्य-परतन्त्रा' है । इसलिए यह ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कर्षशालिनी है ।

अनुबन्धचतुष्टय—किसी भी ग्रन्थ में मङ्गलाचरण करने के बाद विषय, प्रयोजन आदिरूप अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण करने का अवसर आता है । किसी भी कार्य में मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है, जब उसमें उसको इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यता का ज्ञान होता है । 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरे लिए हितकर या मेरे अभीष्ट का साधन है और 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' मैं इस काम को भली प्रकार कर सकता हूँ, इस प्रकार का ज्ञान होने पर ही मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं । इस ज्ञान में 'इदम्' अंश से विषय 'इष्ट' पद से प्रयोजन, 'साधनम्' पद से सम्बन्ध एवं 'मत्' पद से अधिकारी का ज्ञान होता है । इस प्रकार इन चारों का ज्ञान ही प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है । इस-लिए **'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्'** यह अनुबन्ध का लक्षण किया गया है और अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चारों को 'अनुबन्ध' शब्द से कहा जाता है । प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में इन चारों अनुबन्धों का निरूपण आवश्यक माना गया है—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।।

इन चार अनुबन्धों में विषय और प्रयोजन ये दो मुख्य हैं, अतः इनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है । शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध इनकी अपेक्षा गौण हैं, इनकी सिद्धि शब्दतः कहे विना अर्थतः भी हो जाती है ।

---

१. अमरकोश-३.१.१६ ।

इसलिए मम्मट आदि साहित्याचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में विषय और प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे[1] ।।

कवि—शब्दकल्पद्रुम में कु-शब्दे धातु से 'अच इ' सूत्र से इ प्रत्यय करने पर कवि शब्द की सिद्धि बतलायी गयी है। अमरकोश के टीकाकार भानु जी दीक्षित ने 'कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा कविः' ऐसी कवि शब्द की व्युत्पत्ति की है। विद्याधर ने एकावली में 'कवयति इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्' इस प्रकार कवि तथा काव्यशब्द की व्युत्पत्ति कही है। ध्वन्यालोक की लोचन नामक टीका में 'कवनीयं काव्यम्' इस प्रकार काव्य शब्द का निर्वचन किया गया है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने 'कविशब्दोऽयं कबृ-वर्णे इत्यस्माद् धातोरौणादिके रूपम्' कहकर कवि शब्द को वर्णनार्थक कबृ धातु से उणादि इन् प्रत्यय करके सिद्ध किया है। कबृ-कब् (उणादि) इन् इ प्रत्यय कबि शब्द की सिद्धि होती है। यहाँ इन् प्रत्यय 'सर्वधातुभ्य इन्' इस उणादि-सूत्र से होता है। वस्तुतः पाणिनिमत में रूढ शब्द भी है; परन्तु यास्क मुनि के मत में सभी शब्द यौगिक हैं, वे कहते हैं कि 'सर्वं नाम धातुजम्' अर्थात् सभी नाम (प्रातिपदिक) धातु से निष्पन्न होते हैं। इसी तरह शाकटायन मुनि का भी मत है—

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च। यन्न विशेषविधेश्च समुच्छ्रयं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदुत्थम्'।

अतः पूर्वोक्त कविशब्द भी यौगिक ही है; परन्तु 'कबृ-वर्णे' से इन् प्रत्यय करके बना कबि शब्द पवर्गीयोपध होगा, जबकि प्रयुक्त कवि शब्द दन्त्योष्ठ्योपध है। अतः 'कु-शब्दे' धातु से 'अच इ' (उणादि-सूत्र) से 'इ' प्रत्यय करके कु के उकार को गुण, अवादेश करने पर बना है।

यह कु धातु तीन गणों में पठित है। भ्वादिगण में कुङ् शब्दे धातु पढ़ा गया है। इससे औणादिक 'इ' प्रत्यय करने पर 'कवते इति कविः' व्युत्पत्ति होगी। दूसरा अदादिगण में कुशब्दे धातु पठित है, इससे भी 'कौतीति कविः'

---

१. का० प्र० १.२।

यह रूप 'इ' प्रत्यय करने पर बनेगा। तीसरा 'कूङ्-शब्दे' धातु तुदादिगण में पठित है। न्यासकार हरदत्त के मत में यह ह्रस्व उकार वाला है। इसका 'कुवते इति कविः' नहीं बन सकता; क्योंकि इसका कुटादिगण में पाठ है। जब कुङ् या कूङ् धातु से औणादिक इ प्रत्यय करेंगे, तो गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (पा० सू० १.२.१) सूत्र से 'इ' प्रत्यय ङित् हो जायेगा। इस स्थिति में 'क्ङिति च' (पा. सू. १.१.५) से गुण का निषेध हो जायेगा। उवङ् करने पर 'कुविः' यह प्रयोग बनेगा। अतः भ्वादिगणपठित कुङ्-शब्दे या अदादिगण-पठित कु-शब्दे से 'अच इ' सूत्र से 'इ' प्रत्यय करके कवि शब्द की सिद्धि की जाती है।

राजशेखर ने दो का प्रयोग किया है कबृ-वर्णे और कुङ्-शब्दे। इन दोनों से कवि शब्द की निष्पत्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि पहले कबि और कवि दोनों प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते थे।

यद्यपि वैदिक तथा लौकिक साहित्य में कवि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जैसे–'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (शुक्ल-यजु० ४०।८) यहाँ कवि शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। भागवत में 'आदिकवि' शब्द का प्रयोग ब्रह्मा के लिए हुआ है। अमरकोश में 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' (अमर० १.३.२५) तथा—

विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः[१] ।।

यहाँ क्रमशः शुक्राचार्य एवं विद्वान् के लिए कवि शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'[२] ।

गीता में कवि शब्द विद्वान् के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन निर्दिष्ट अर्थों के अतिरिक्त कवि शब्द का प्रयोग वाल्मीकि तथा व्यास के लिए भी हुआ है। बाद में यही कवि शब्द कालिदास, भास, दण्डी, बाण, हर्ष आदि सभी काव्य-निर्माताओं के लिए प्रयुक्त होने लगा। मेदिनीकोश में भी कहा गया है—

..................कविर्वाल्मीकिकाव्ययोः ।
सूरौ काव्यकरे पुंसि स्यात्खलीने तु योषिति ।।

---

१. अमर० २.७.५; २. गीता–४.१६ ।

कवि शब्द रूढ़ और यौगिक दोनों है । रूढ़ जैसे—

कविर्हविरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः[१] ।।

श्रीमद्भागवतमहापुराण में महर्षि व्यास जी ने श्री ऋषभदेव के पुत्रों के नाम में कवि शब्द का उल्लेख किया है । शुक्राचार्य जी का नाम भी कवि था—**उशना भार्गवो कविः**[२] । काव्यशब्द भी शुक्राचार्य के लिए प्रयुक्त हुआ है । यथा—

रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजतादृताभिः[३] । अर्थात् काव्य का सृजन करते हुए काव्य (शुक्र) के द्वारा आदृत ।

इस तरह कवि और काव्य शब्द रूढ़ और यौगिक दोनों हैं । कवि शब्द ब्रह्मा के लिए योगरूढ़ भी हो गया है—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः** । अतः यौगिक कवि को लेकर निरुक्ति की गयी है ।

काव्य—काव्य शब्द की निष्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है । यथा—

१. कु धातु से 'ओरावश्यके ण्यत्' (पा० सू० ३.१.१२५) सूत्र से ण्यत् प्रत्यय करने पर आदि-वृद्धि आवादेश (कु+ण्यत् (य) वृद्धि कौ+य, काव्+य) करने से काव्य शब्द सिद्ध होगा । कौतुमावश्यकं काव्यम् ।

२. कवेरपत्यं काव्यम् । कवि शब्द से 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (पा० सू० ४.१.१५१) सूत्र से ण्य प्रत्यय करके अनुबन्धलोप करने पर य बचेगा, आदि-वृद्धि करने पर कावि +य, इकार का 'यस्येति च' (पा० सू० ६.४.१४८) से लोप करने पर (काव्+य) काव्य शब्द सिद्ध होता है ।

३. 'कवेः कर्म काव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कवि शब्द से 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (पा० सू० ५.१.१३१) सूत्र से अण् प्रत्यय प्राप्त है; क्योंकि कवि शब्द इगन्त है तथा पूर्व में क में अ लघु है । इसलिए अण् प्रत्यय की प्राप्ति होती है; परन्तु इसे बाध कर 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्' (पा० सू० ५.१.१२४) सूत्र से ब्राह्मणादित्वात् कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय हो जायेगा । वह ब्राह्मणादि आकृतिगण है, अतः ब्राह्मणादिगण में कवि शब्द का पाठ न होने

---

१. भाग० ५.४.११; २. अमर० १.३.२५ ।
३. नैषधीय० ।

पर भी आकृत्या गृहीत हो जायेगा। अत: कवि +ष्यञ् (य) आदि वृद्धि करने पर कावि+य, इकार का लोप करने पर काव्+य=काव्य रूप सिद्ध होगा। **कवेर्भावः काव्यम्**—इस विग्रह में 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर भी 'काव्य' ही बनेगा।

उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तियों में प्रथम व्युत्पत्ति को ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि अवश्यकर्त्तव्य शब्दप्रयोग स्थल में भी काव्य शब्द का प्रयोग होने लगेगा। इसलिए प्रथम व्युत्पत्ति यहाँ अनुपयुक्त है।

द्वितीय व्युत्पत्ति में रूढ़ कवि शब्द का ही ग्रहण है, यौगिक कविवाक् का नहीं, किसी कवि के पुत्र को काव्य नहीं कहा जाता है।

यहाँ तीसरी व्युत्पत्ति 'कवे: कर्म' ही गृहीत है, इसलिए आचार्य मम्मट ने काव्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—**'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि-कर्म'**। अर्थात् कवि का लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वरूप कर्म ही काव्य है; क्योंकि कवि का यह वर्णन विलक्षण शब्दात्मक तथा विलक्षण ज्ञानात्मक होता है। अत: कवि के विलक्षण शब्दार्थगुम्फनरूप कर्म को काव्य कहते हैं। वह कविकर्मता विलक्षण शब्दार्थ में है, अत: विलक्षण शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।

यहाँ 'कबृ-वर्णे' का वर्णन अर्थ है ही, कुङ् या कु-शब्दे का भी अर्थ वर्णन ही है; क्योंकि **'शब्दः शब्दक्रियायाम्'** का पर्यवसान भी वर्णन में ही होता है। अत: पहले वर्णयितामात्र को कवि कहा जाता था। जैसे **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** में वेद-वर्णयिता ब्रह्मा[१] तथा **'कविः पुराणमनुशासितारम्'** में विष्णु[२] को, नीतिशास्त्र-वर्णयिता शुक्राचार्य[३] को, शास्त्र-वर्णयिता पाणिनि[४] आदि को भी कवि कहा गया है। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** (ऋग्वेद) वेद को भी काव्य कहा गया है। कालान्तर में सामान्य वर्ण को छोड़कर वर्णन में लोकोत्तर विशेषण लगाकर लोकोत्तरवर्णयिता को कवि और उसके वर्णनारूप कर्म को काव्य कहा गया। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—**लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यम्**[५]। इस तरह वाल्मीकि को आदिकवि और उनके काव्य रामायण को आदिकाव्य कहा गया है। जैसा कि भवभूति ने

---

१. शुक्ल-यजुर्वेद-४०.८; २. श्रीमद्भगवद्गीता।
३. उशना भार्गवो कवि:–अमर० १.३.२५।
४. तत्कीर्तितमाचरितं कविना–महाभाष्ये पतञ्जलि:।
५. काव्यप्रकाश।

कहा है—**महर्षे ! सिद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि आद्यः कविरसि तद्धि राम-चरितम्**—उत्तररामचरितम् । बाद में लोकोत्तर वर्णनानिपुण कालिदास, भास, भारवि, भवभूति आदि को कवि और उनके वर्णनरूप कर्म रघुवंश, स्वप्न-वासवदत्तम्, किरातार्जुनीयम् आदि को काव्य कहा जाने लगा । ये कवि और काव्य दोनों योगरूढ़ हैं ।

कालान्तर में साहित्याचार्यों ने काव्य का लक्षण बनाने का प्रयास किया । उनमें कुछ आचार्यों के काव्यलक्षण को यहाँ प्रस्तुत करने के लोभ को संवरण नहीं किया जा सकता है ।

भामह का काव्य-लक्षण

साहित्यशास्त्र के भीष्मपितामह आचार्य भामह का काव्यलक्षण अत्यन्त प्राचीन है । उन्होंने कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा[१] ।

यह काव्यलक्षण जितना प्राचीन है, उतना ही संक्षिप्त भी है । वे शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य मानते हैं । वे सहभाव या 'सहितौ' का क्या अर्थ लेते हैं, इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है । पर उनका अभि-प्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो, वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं । वहीं शब्द और अर्थ का साहित्य है ।

दण्डी का काव्य-लक्षण

भामह के बाद काव्यादर्श के निर्माता दण्डी का स्थान माना जाता है । दण्डी ने पूर्व के आचार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ।।
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः[२] ।।

अर्थात् प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्यवाणी की रचना के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारों का वर्णन किया है ।

---

१. भामह, काव्यालङ्कार–१।१६; २. दण्डी, काव्यादर्श–१.९–१० ।

यहाँ उनका सङ्केत मुख्य रूप से 'भामह' की ओर ही है। भामह के **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** इस लक्षण में काव्य के शब्द और अर्थमय शरीर का निर्देश है और आगे ग्रन्थ में उसके अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार **'तं शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः'** यह पंक्ति स्पष्टरूप से भामह की ओर सङ्केत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आये हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी है। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न दण्डी ने किया है—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली[1]।

इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली शब्दसमूह—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य के शरीर हैं। इस तरह भामह तथा दण्डी दोनों ने काव्य के शरीर एवं अलङ्कारों की चिन्ता की है, पर उनकी आत्मा पर विचार नहीं किया है।

वामन का काव्य-लक्षण

आचार्य वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्य के शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के शरीर की चिन्ता न करने, उसके आत्मा का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है। **'रीतिरात्मा काव्यस्य'**[2] कहकर वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं और **'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'**, **'सौन्दर्यमलङ्कारः'** आदि सूत्रों से काव्य के सौन्दर्याधायक अलङ्कारों को काव्य की ग्राह्यता एवं उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।

आनन्दवर्धन का काव्यलक्षणसम्बन्धी मत

वामन ने **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** लिखकर काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्य के सामने काव्य की आत्मा के निर्धारण का प्रश्न उपस्थित हो गया। आनन्दवर्धनाचार्य रीतियों को केवल 'सङ्घटना' या अवयवसंस्थान के समान ही मानते हैं, उनको वे काव्य की आत्मा नहीं मानते। इसलिए उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है और वह भी अपने मत से ही नहीं; अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर वे 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्षधर हैं। इस विषय में कुछ लोगों ने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हीं के

---

१. काव्यादर्श–१.१०; २. काव्यालङ्कारसूत्र १.२.६।

निराकरण के लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ी। जैसा कि उन्होंने कहा है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितिमविषये तत्त्वमुचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्[1]॥

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के मत में 'ध्वनि' ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। उसके विना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य हैं। ध्वनिरूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

राजशेखर का अभिमत

पिछले आचार्यों ने काव्य के शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदि का जो यह रूपक बाँधा था, इसकी पृष्ठभूमि में उन्होंने एक 'काव्यपुरुष' की कल्पना की थी, जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर आचार्य राजशेखर ने इस काव्यपुरुष की कल्पना को एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष' का वर्णन करते हुए लिखा है—

"शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुरः, उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति"[2]।

ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की 'आत्मा' माना था। राजशेखर ने उस आत्मतत्त्व को और अधिक निश्चितरूप देने के लिए वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि को छोड़कर केवल रस को काव्य की आत्मा माना है।

कुन्तक का काव्य-लक्षण

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्टरूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया है।

---

१. ध्वन्यालोक–१.१; २. काव्यमीमांसा, पृ० १६।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि[१] ।।

कुन्तक के इस लक्षण में पूर्वोक्त सभी लक्षणों का सारांश प्राय: आ जाता है । **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** यह भामह का लक्षण कुन्तक के इस लक्षण में स्पष्टरूप से समाविष्ट हो गया है । **'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ'** से दण्डी की **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** तथा वामन की 'रीति' दोनों का समावेश हो जाता है । वक्रकविव्यापारशालिनि से ध्वन्यालोककार के व्यञ्जनाव्यापारप्रधान 'ध्वनि' तथा राजशेखर के 'रस' दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । इस प्रकार कुन्तक ने मानो पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्यलक्षणों का निचोड़ अपने इस लक्षण में समाविष्ट कर दिया है । फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है; क्योंकि सहितौ पद का स्पष्टीकरण न भामह के लक्षण में हुआ था और न यहाँ हुआ है । अतएव शब्द और अर्थ के इस 'साहित्य' का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ।।
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः[२] ।।

यहाँ पहले यह शंका उठायी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा भासते हैं, फिर सहितौ पद से आप उनमें कौन-सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं ? इस शंका का उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के साहित्य का अभिप्राय काव्यसौन्दर्य के लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकता से रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिए । उसी को शब्द और अर्थ का 'साहित्य' कहते हैं ।

इस प्रकार कुन्तक ने काव्यलक्षण को अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

क्षेमेन्द्र का मत

साहित्यशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने 'रीतिसिद्धान्त' के लिए, आनन्दवर्धन अपने 'ध्वनि-सिद्धान्त' के लिए और कुन्तक अपने

१. वक्रोक्तिजीवित–१.७ ; २. तदेव–१.१६-१७ ।

'वक्रोक्तिसिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य-सिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं । उन्होंने औचित्य को ही काव्य का जीवित माना है । अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ में वे लिखते हैं—

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ।।
अलङ्कारस्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्[१] **।।**

मम्मट का काव्य-लक्षण

किसी भी पदार्थ का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव—तीनों प्रकार के दोषों से रहित पूर्ण निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है, फिर काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थ का लक्षण करना और भी अधिक कठिन है । पुनरपि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है, वह प्रशंसनीय है । उन्होंने काव्यलक्षण करते हुए कहा है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि[२] **।**

इस लक्षण में सबसे पहली बात यह है कि मम्मट शब्द तथा अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं । अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमें से कोई भी काव्य नहीं है । यहाँ तत् पद काव्य का परामर्शक है । इसलिए शब्दार्थौ तत् का अर्थ **'शब्दार्थौ काव्यम्'** है । इसके अनुसार शब्द तथा अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्यपदवाच्य होते हैं, यह लक्षणकार का अभिप्राय है ।

इस 'शब्दार्थौ' पद के तीन विशेषण लक्षण में प्रस्तुत किये गये हैं—अदोषौ, सगुणौ तथा अनलङ्कृती पुनः क्वापि । अर्थात् वे शब्द और अर्थ दोनों दोषरहित हों, यह पहली बात है । दूसरी बात यह है कि वे दोनों 'सगुण' माधुर्य आदि काव्यगुणों से युक्त होने चाहिए और तीसरी बात यह है कि साधारणतः वे अलङ्कारसहित भी होने चाहिए; परन्तु जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो, वहाँ अनेक अलङ्कारविहीन होने पर भी काम चल सकता है । इस प्रकार इन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि का नाम काव्य है, यह आचार्य मम्मट का अभिप्राय है ।

---

१. औचित्यविचारचर्चा–४.५ ; २. काव्यप्रकाश-१.४ ।

यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि आचार्यों ने उनके काव्य-लक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है; परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय, तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है, जितना विरोधियों ने उसको चित्रित करने का प्रयत्न किया है । उनके काव्य-लक्षण के गुण-दोष की मीमांसा करने से पहले उनके लक्षणों को भली प्रकार समझ लेना चाहिये, अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा औचित्यपूर्ण नहीं होगी ।

विश्वनाथ का काव्य-लक्षण

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानते हैं । **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** यह उनका काव्य-लक्षण है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का अभिमत

काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं, उसके विषय में विचार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में 'व्यासज्यवृत्ति' अर्थात् दोनों में मिल-कर रहने वाला धर्म है अथवा 'प्रत्येकपर्याप्त' अर्थात् एक-एक में अलग भी रह सकता है । इनमें से पहला अर्थात् 'व्यासज्यवृत्ति' वाला पक्ष नहीं बन सकता; क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है; परन्तु काव्य नहीं है, इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा । जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व-संख्या दोनों में मिलकर ही रहती है, अलग-अलग नहीं । इसलिए द्वित्व-संख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्यवृत्ति धर्म है । जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं, तभी 'द्वौ'–ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है और जब उनमें से एक ही पदार्थ उपस्थित होता है, उस समय यह दो नहीं एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है । इस प्रकार 'यह श्लोक-वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा । इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येकपर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक-वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा । इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा । अतः शब्द तथा अर्थ में न 'व्यासज्यवृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येकपर्याप्त' । फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है; अपितु केवल

शब्दनिष्ठ धर्म है । इसलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दविशेष को ही काव्य माना है । उनका काव्यलक्षण इस प्रकार है—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' ।

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं ।

नागेशभट्ट का अभिमत

रसगङ्गाधर की 'मर्मप्रकाश' नामक टीका के रचयिता आचार्य नागेशभट्ट को पण्डितराज जगन्नाथ का 'शब्दार्थौ' पक्ष का यह खण्डन उचित प्रतीत नहीं हुआ । इसलिए रसगङ्गाधर की इसी स्थल की टीका में उन्होंने लिखा है । जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है, वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समानरूप से रहता है । काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना और काव्य को समझा, इस प्रकार का व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है, केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीय काव्य का नियामक **'चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयत्वावच्छेदकधर्मत्व'** रूप काव्य-लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है, एक में नहीं । इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती । इसी दशा में अर्थात् काव्यत्व को व्यासज्यवृत्ति धर्म मानने पर ही **'तदधीते तद्वेद'**[१]—इस पाणिनि-सूत्र के महाभाष्य में भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने वेदत्व आदि को व्यासज्यवृत्ति धर्म माना है, उसकी सङ्गति लगती है । इस प्रकार काव्यत्व मुख्यरूप से 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म है; परन्तु लक्षणा से केवल शब्द अथवा केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है । इसलिए 'एको न द्वौ' के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकार के व्यवहार का कोई अवसर नहीं आता है । फलतः काव्यप्रकाश के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने में कोई बाधा नहीं है, यह रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट का अभिप्राय है ।

न केवल नागेश, अपितु पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य माना है । इस विषय में विभिन्न आचार्यों के निम्नलिखित वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—

---

१. पा० सू० ५.२.५९ ।

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा । (भामह १.१६)
२. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । (वामन १.१)
३. शब्दार्थौ काव्यम् । (रुद्रट-काव्यालङ्कार २.१)
४. अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् । (हेमचन्द्र, पृ० १६)
५. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् । (वाग्भट, पृ०१४)
६. गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ । (विद्यानाथ-प्रतापरुद्र, पृ०४२)
७. शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः । (विद्याधर-एकावली, पृ० १,१३)

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में काव्यत्व मानने वाला मत ही बहु-जन-समादृत मत है । अतएव पण्डितराज जगन्नाथ ने जो उसका खण्डन किया है, वह उपादेय नहीं है ।

बुध—(बुध् + क) बुद्धिमान्, चतुर या विद्वान् (पुरुष) । **निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि** - नैषधीय० १.१ । बुध एक ग्रह का भी नाम है—रक्षत्येनं तु बुधयोगः-मुद्रा० १.१६ । यहाँ बुध का अर्थ बुद्धिमान् भी है । रघुवंश में पण्डित और बुद्धिमान् अर्थ में बुध शब्द का प्रयोग हुआ है । यथा—

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन् प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः[1] ।।

अर्थात् पण्डितों के समान बुद्धिमान् तथा लुभावने दिखाई पड़ने वाले राजा दिलीप अपनी पत्नी को वे सब लुभावने दृश्य दिखाने में इतने रम गये थे कि उन्हें यह भी भान न हो सका कि मार्ग कितना कब निकल गया । 'बुध-वृद्धौ पण्डितेऽपि' (अमरकोष, पृ० ४१४) । 'बुधः कवौ रौहिणेये' इति विश्वः । **'वृद्धौ जीर्णे प्रवृद्धे ज्ञे त्रिषु क्लीबं तु शैलजे'** इति मेदिनी ।

आचार्य मम्मट ने बुध शब्द का अर्थ वैयाकरण किया है । जैसा कि उन्होंने कहा है—**'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः'**[2] ।

ध्वनि—(ध्वन्+इ) शब्द, प्रतिध्वनि, कोलाहल या शोर—मृदङ्गधीर-ध्वनिमन्वगच्छत् (रघु० १६.१३) । साहित्यशास्त्र में ध्वनि को काव्य कहा

---

१. रघु० १.४७ ; २. काव्यप्रकाश-१.४ ।

गया है । आलङ्कारिक लोग 'ध्वनि' नाम के लिए वैयाकरणों के ऋणी हैं । व्याकरणशास्त्र में ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है और उसी अर्थ की समता के कारण इस शब्द का व्यापक व्यवहार अलङ्कारशास्त्र में किया गया है । इस शब्द के प्रयोग को अपना लेने का कारण यह था कि व्याकरणशास्त्र में प्रधानभूत 'स्फोट' के अभिव्यञ्जक शब्दों के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया गया था । इसी के आधार पर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को दबा सकने में समर्थ जो व्यंग्य अर्थ उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए ध्वनि इस पद का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया । महाभाष्य में ध्वनि का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है—

अथ शब्दानुशासनम् । ....अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं यत्तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत् । कस्तर्हि शब्दः ? येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः । अथवा प्रतीतपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते । तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति । ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः[१] । इसमें ध्वनि को शब्द कहा गया है ।

पानी लाने का इच्छुक व्यक्ति कहता है—'घटम् आनय' (घड़ा लाओ) । यहाँ जिस घट शब्द का हम उच्चारण करते हैं, वह 'ध्वनि' कहलाता है । ध्वनि की सत्ता क्षणिक होती है । वह एक क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में स्थित रहकर तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है । ऐसी दशा में वह अवसर ही नहीं आता, जब वर्णों का समुच्चय हो और वे मिलकर सामूहिक रूप से किसी अर्थ की द्योतना करें ।

उदाहरणार्थ 'घट' शब्द पर दृष्टिपात करें । इस शब्द का प्रथम अक्षर 'घ' जब हमें सुनाई पड़ता है, तब 'ट' वर्ण भविष्य के गर्भ में ही रहता है । उधर 'ट' के श्रवण होने के समय 'घ' उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में विलीन हुआ रहता है । इस प्रकार वह समय ही नहीं आता, जब 'घ' और 'ट' समुच्चरित होकर एक साथ मिलकर किसी अर्थ का प्रकाश करें । इस त्रुटि को दूर करने के लिए वैयाकरणों ने एक नित्य शब्द की कल्पना की है, जो सदा विद्यमान रहता है और जो ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । इसी नित्य शब्द से अर्थ फूटता है और इसी का नाम 'स्फुटति अर्थः अस्माद् इति स्फोटः' । इसके लिए

---

१. महाभाष्य, प्रथमाह्निक, पृ० ७ ।

अनित्य ध्वनि का काम इतना ही है कि वह स्फोट की अभिव्यक्तिमात्र कर देता है । इस प्रकार ध्वनि से अर्थ की उत्पत्ति न होने पर भी 'स्फोट' के प्रकट करने के लिए उसकी महती आवश्यकता होती है । इस रीति से 'ध्वनि' का स्वरूप हुआ अभिव्यञ्जक शब्द ।

आलङ्कारिकों ने इसी ध्वनि शब्द को ग्रहण कर अपने शास्त्र में प्रयुक्त किया; परन्तु उन्होंने उसके अर्थ को विस्तृत कर दिया । जहाँ 'ध्वनि' मूलत: अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ही सीमित था, वहाँ अब वह अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा । इस प्रकार ध्वनि शब्द का विस्तार अलङ्कार-शास्त्र में हुआ; परन्तु इसके लिए साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र का ऋणी है ।

ध्वनि का उपयोग काव्य की दृष्टि से बहुत अधिक है । ध्वनि की सत्ता बहुत ही प्राचीन है । यह उतनी ही प्राचीन है, जितनी काव्यकला । ध्वनि का आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विकसित होती है । प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गयी कविता ध्वनि से सम्पन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है । काव्य में कथन-प्रकार का ही विशेष महत्त्व रहता है । वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णन-प्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है, तब वह वस्तु हमारे लिए नवीन तथा चमत्कारयुक्त प्रतीत होती है । वाटिका के वृक्षों में मूलत: किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है । वे ही पुराने वृक्ष होते हैं; परन्तु वसन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से वृक्षों में अपूर्वता दीखने लगती है । ध्वनि से युक्त काव्य की भी यही दशा है । अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का संयोग उसमें नवीन जीवन फूँक देता है तथा नयी शक्ति प्रदान करता है । ध्वनि के कारण अर्थों में अपूर्वता तथा नवीनता अवश्यमेव आ जाती है । एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण नया तथा अपूर्व जान पड़ता है । इसलिए कवि लोग ध्वनि का आश्रय लिया करते हैं ।

आनन्दवर्धन ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है । वे ही रूखे-सूखे पेड़ हैं; वही वृक्षों से रहित शाखायें हैं; वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है; परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन हो जाता है । वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं । शाखायें हरी-भरी-सी दिखाई देती हैं । मञ्जरी का सौरभ अलिगण के रसिक

मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है । वृक्षों में यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया ? सरस वसन्त ने । उसी प्रकार कवि भी रस के द्वारा चमत्कार पैदा कर पुराने भावों में नवीनता भर देता है । कहीं शब्द को बदल देता है, तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है । बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है । ध्वनि का यही चमत्कारी फल होता है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुभास इव द्रुमाः ।।

ध्वनि की शास्त्रीय मीमांसा का श्रेय आनन्दवर्धनाचार्य को है । उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर हम कह सकते हैं कि ध्वनि के विषय में प्राचीनकाल में तीन विशिष्ट मत थे—

१. अभाववादी, २. भक्तिवादी, ३. अनिर्वचनीयत्ववादी ।

इस प्रकार वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले आलङ्कारिकों ने पाँच अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है । यथा–**'ध्वनति ध्वनयति वा यः स ध्वनिः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जक शब्द और अर्थ को ध्वनि कहा है । **'ध्वन्यत इति ध्वनिः'** इसके अनुसार व्यङ्ग्य रस, अलङ्कार और वस्तुरूप को ध्वनि कहा गया है । जिसे काव्य की आत्मा माना गया है—**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै यः समाम्नातपूर्वः**[१] । **'ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना-व्यापार को ध्वनि कहा गया है । **'ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनिः'** इसके अनुसार काव्य को ध्वनि कहा गया है, जिसका लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिरिति बुधैः कथितः[२] । आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः[३] **।।**

भारतीय शब्दशास्त्र के आचार्यों ने ध्वनि के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए ध्वनि पर अत्यन्त गम्भीर विचार किया है । प्रसिद्ध भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—

---

१. ध्वन्यालोक–१.१ ; २. काव्यप्रकाश–१.४ ।
३. ध्वन्या० १.१३ ।

स्फोटः शब्दः । ध्वनिः शब्दगुणः । कथं भेर्याघातवत् । स्फोटस्तावानेव भवति । ध्वनिकृता वृद्धिः ।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः[१] **।।**

स्फोट—स्फुट धातु से करण में घञ् प्रत्यय करके स्फोट शब्द की सिद्धि होती है, जिसका फुट निकलना, चटककर खुलना, फट पड़ना, सूजन, फोड़ा आदि अर्थ होता है । शब्द के सुनने पर मन में आने वाला भाव, शब्द सुनकर मन में उत्पन्न होने वाला विचार भी इसका अर्थ होता है । आचार्य मम्मट ने कहा है—**बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः**[२] । स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है–**स्फुटति अर्थः यस्मात्, सः स्फोटः** । अर्थात् जिससे अर्थ की प्रतीति हो, उसको स्फोट कहते हैं । यह स्फोट पदस्फोट, वर्णस्फोट, वाक्यस्फोट आदि भेद से आठ प्रकार का होता है । पदस्फोट से पदार्थ की तथा वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । गकार, औकार, विसर्जनीय के योग से मिलकर बना हुआ जो 'गौः' पद गाय का बोध कराता है, वह श्रोत्र से सुनायी देने वाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस 'स्फोट' है; क्योंकि श्रोत्र से सुनायी देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है । एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब तक दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तब तक पहला ध्वनिरूप वर्ण नष्ट हो जाता है । इसलिए अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की उपस्थिति एक साथ नहीं हो सकती । इसी प्रकार अनेक पदों के समुदायरूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है । तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होती है । इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोटसिद्धान्त' की कल्पना की है । उनका अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण करने वाली एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है । इसी का नाम 'पदस्फोट' है । अर्थ की प्रतीति इस 'पदस्फोट' के द्वारा ही होती है, श्रोता से गृहीत शब्द या ध्वनि से नहीं; क्योंकि उस रूप में तो अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की स्थिति ही नहीं बन सकती है ।

---

१. महाभाष्य, १.१.६७; २. का. प्र. १.४ वृत्ति ।

इसी प्रकार पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृत अन्त्यपद श्रवण से सद-सद् अनेकपदावगाहिनी मानसी वाक्यप्रतीति होती है, वैयाकरण उसको 'वाक्य-स्फोट' कहते हैं। इस वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। वर्णध्वनि से 'वर्णस्फोट' की अभिव्यक्ति होती है।

नैयायिक स्फोट को नहीं मानते हैं। इसका कारण यह है कि वैयाकरणों का यह 'स्फोट' नित्य है। इसी स्फोट को लेकर वे शब्द को नित्य बतलाते हैं। नैयायिक के मत में शब्द अनित्य है और स्फोट की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। वे केवल 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सदसदनेक-पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति' मानते हैं। पर उसे 'स्फोट' नहीं कहते हैं और न नित्य मानते हैं।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनिरूप शब्द से होती है। इस-लिए जैसे वैयाकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत 'स्फोट' के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ने 'ध्वनि:' शब्द का प्रयोग साहित्यशास्त्र में किया है।

स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध

पतञ्जलि ने स्फोट को सदा रहने वाला शब्द (नित्य शब्द) तथा ध्वनि को सदा रहने वाला सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) माना है और कहा है कि यह स्फोट ही प्रतिभा या वह शक्ति है, जो शब्द में रहने वाले अर्थ को चमकाती चलती है। शब्द में यही अर्थ चमकाने या अर्थ निकालने की शक्ति भरना ही ध्वनि है। वैयाकरण मानते हैं कि शब्द ही अपने आप में स्फोट और ध्वनि का मेल है। न स्फोट के विना ध्वनि रह सकती है, न ध्वनि के विना स्फोट रह सकता है। स्फोट ही शब्द है और ध्वनि ही उसका गुण है। स्फोट ही आकाश है और ध्वनि ही उसका गुण। इसलिए स्फोट को शब्द और ध्वनि को उसका अर्थ समझना चाहिए। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि स्फोट ही वास्तविक तत्त्व (प्रकृति) है और ध्वनि ही उसकी पहचान (प्रत्यय) है। स्फोट ही ब्रह्म है और ध्वनि ही उसकी माया है। स्फोट है आत्मा और ध्वनि है शरीर, स्फोट है प्रतिभा और ध्वनि है ज्ञान। स्फोट है न दिखाई देने वाला परोक्ष और ध्वनि है दिखाई देने वाला प्रत्यक्ष। स्फोट है छोटे से छोटा

अंश (परमाणु) और ध्वनि है अणु । स्फोट है कभी न मिटने वाला अक्षर और ध्वनि है मिटने वाला क्षर । स्फोट है सदा रहने वाला (नित्य) और ध्वनि है सदा न रहने वाला (अनित्य) । इसलिए पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि दोनों को शब्द कहा है और इस स्फोटरूपवाले शब्द को समझाते हुए वे कहते हैं कि वह नित्य, कूटस्थ और अविकारी है या यों कहिये कि उसमें कोई कमी नहीं होती, उसमें कुछ जुड़ता नहीं, उसमें कोई बिगाड़ नहीं होता और वह कभी मिटता नहीं, अत: यहाँ ध्वनि का अर्थ केवल कान की सुनी हुई ध्वनि नहीं, वरन् बुद्धि से समझा हुआ अर्थ है ।

वैयाकरणों ने १. वर्णस्फोट, २. पदस्फोट, ३. वाक्यस्फोट, ४. अखण्डपदस्फोट, ५. अखण्डवाक्यस्फोट, ६. वर्णजातिस्फोट, ७. पदजातिस्फोट, ८. वाक्यजातिस्फोट, इन आठों में वाक्यस्फोट को ही सबसे अधिक सत्य और ठीक माना है । भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश, श्रीकृष्ण, मण्डन मिश्र, शङ्कराचार्य और भरत मिश्र आदि आचार्यों ने माना है कि स्फोटवाद ही ठीक मत है, जिसमें वाक्यस्फोट ही सबसे दृढ़ और सच्चा है ।

लेकिन मुख्य प्रश्न है कि अर्थ निकलता ही क्यों है ? भारतीय वैयाकरणों ने माना है कि पद या शब्द से अर्थ नहीं निकलता, अर्थ तो वाक्य से ही निकलता है । इसलिए वाक्य ही सत्य है । यह कहकर उन्होंने वाक्य का अर्थ छ: प्रकार से किया है—प्रतिभा, संसर्ग, संसर्ग के कारण, विशेषार्थकथन, किन्तु निराकांक्ष पदार्थ, संश्लिष्ट अर्थ, क्रियाप्रयोजन ।

मीमांसकों का कहना है कि जिस बात को हम नहीं जानते, उसे जना देने का काम शब्द करता है, इसीलिए वह निश्चित और अमिट अर्थात् स्थायी प्रमाण है । उस शब्द को समझाने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए वह निश्चित और स्वत:सिद्ध है । यह शब्द बनावटी या हाथ-पैर चलाकर समझा देने वाला सङ्केत भर नहीं है । यह स्वाभाविक है । इसलिए यह विना रुकावट का और विना मिलावट का (अनिर्बाध, अव्यतिरेक और अव्यभिचारी सत्य) है । आचार्य जैमिनि ने कहा है कि शब्द और अर्थ दोनों का सम्बन्ध सदा से अमिट (नित्य) है । शब्द होगा तो अर्थ भी होगा और अर्थ होगा तो शब्द भी होगा और जब इन दोनों का नाता अमिट है, तो उनके बतलाने वाले और बताए हुए (बोधक-बोध्य-सम्बन्ध) होने का नाता भी अमिट और स्पष्ट है । महर्षि जैमिनि ने अपने आप ही अपनी इस बात पर छ: प्रश्न

खड़े किए और उन सबका उन्होंने अपने आप उत्तर देकर अपनी बात को सिद्ध किया है। वे प्रश्न ये हैं—

१. कुछ लोग (गौतम और कणाद) कहते हैं कि शब्द एक बोलने का ढंग भर ही तो है, जो क्षणभर रहता है और मुह या जीभ को एक विशेष ढंग से चलाने-हिलाने से निकलता है। इसलिए क्रिया से पूर्ण (क्रियात्मक) शब्द के बोले जाने से पहले वह शब्द नहीं रहता, बोलने के पीछे समझ में आता है। उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता। पर वह सदा बना रहता है, इसलिए क्रियात्मक और क्षण भर रहने वाले (अनित्य) का आपस में क्या सम्बन्ध हो सकता है।

इसका उत्तर देते हुए जैमिनि ने स्वयं कहा है कि नित्य और निराकार शब्द भी बोलने से पहले कौन जानता है। पर वह रहता तो है ही, इसलिए वह नित्य ही है।

२. शब्द तनिक भी ठहरने वाला (स्थिर) नहीं होता, उसे देखने से जाना जाता है कि शब्द पहले क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे में रहता है और तीसरे क्षण में मिट जाता है। यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि कोई शब्द मिटता नहीं। वह रहता तो जैसे का तैसा है, वह सुनने में नहीं आता। इसलिए वह नित्य ही है।

३. लोग कहते हैं कि शब्द मत करो। इससे समझ में आता है कि शब्द मनुष्य ने बनाया है। तब वह सदा रहने वाला (नित्य) कैसे हो सकता है।

उत्तर—शब्द करो या शब्द न करो, जब कहा जाता है, तब वह केवल ध्यान दिलाने के लिए कहा जाता है, शब्द के लिए नहीं।

४. एक ही शब्द को एक ही स्थान पर बहुत से लोग बोलते और सुनते हैं। यदि शब्द एक और नित्य होता, तो एक साथ बहुत से स्थानों पर कैसे बोला जा सकता था ?

उत्तर—जैसे एक सूर्य एक ही समय बहुत स्थानों पर देखा जाता है, वैसे ही एक नित्य वर्तमान शब्द बहुत स्थानों पर कहा और सुना जा सकता है।

५. व्याकरण और भाषा को देखने से जान पड़ता है कि सब शब्द कुछ विकृत होकर वाक्य में पहुँचते हैं । पर शब्द यदि नित्य होता, तो उसमें विकार नहीं हो सकता था; क्योंकि नित्य वस्तु में विकृति नहीं होती ?

उत्तर—व्याकरण के अनुसार जो शब्द में विकार बताया जाता है, वह विकार नहीं है । उसमें तो दोनों भाग अलग-अलग विद्यमान रहते हैं । इसलिए उन्हें विकृति नहीं समझना चाहिए ।

६. शब्द ऊँचा और नीचा सुना जाता है । यदि बोलने वाले बहुत हों, तो शब्द बढ़ जाता है और ऊँचा हो जाता है, कम हों, तो नीचा या कम हो जाता है । जिसमें इस प्रकार का घटना-बढ़ना हो, वह नित्य कैसे हो सकता है ।

उत्तर—ऊँचा या नीचा बोलने से शब्द नहीं वरन् स्वर ही घटता या बढ़ता है । अत: शब्द नित्य और स्वत:प्रामाण्य है ।

आकांक्षा—(आ+काङ्क्ष्+अ+टाप्) इच्छा, चाह । अर्थ को पूरा करने के लिए आवश्यक शब्द की उपस्थिति, किसी विचार या वाक्य के भाव को पूरा करने के लिए तीन आवश्यक तत्त्वों में से एक । आकांक्षा का लक्षण बताते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—'आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरह: । स च श्रोतु-जिज्ञासारूप:'[१] । अर्थात् किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है । वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है । जैसे 'देवदत्तो ग्रामम्' इतना कहने से 'गच्छति' इत्यादि क्रिया की आकांक्षा है । उसके विना वाक्यार्थ-ज्ञान का पर्यवसान नहीं होता ।

यह आकांक्षा भावरूप है, अभावरूप नहीं; क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगिस्वरूप होता है, अत: प्रतीति (जिज्ञासा) के पर्यवसान (अभाव) का विरह (अभाव) भी प्रतीतिरूप ही होगा । आकांक्षाशून्य पदसमुदाय को वाक्य मानें, तो "गौरश्व: पुरुषो हस्ती" इत्यादिक निराकांक्ष पदसमूह भी वाक्य हो जायेगा ।

योग्यता—योग्यमर्हति इति योग्य:, युज्+ण्यत्, योग्य से तल् और टाप् प्रत्यय करने से योग्यता पद की सिद्धि होती है । इसका अर्थ सामर्थ्य, सक्षमता

---

१. सा० द० २.१ वृत्ति ।

है–न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः–रामा० । अनुरूपता, औचित्य, समुपयुक्तता । न्यायशास्त्र में ज्ञान की अनुरूपता या सङ्गति ।

साहित्यदर्पण में योग्यता का लक्षण इस प्रकार किया गया है—**योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः**[१] । अर्थात् एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाध न होना योग्यता कहलाता है । जो पदार्थ जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधित न हो, उसे योग्यता कहते हैं । यदि योग्यता के विना पदसमुदाय को वाक्य माना जायेगा, तो 'वह्निना सिञ्चति' यह भी वाक्य हो जायेगा । योग्यता को कारण मानने से इसमें वाक्य का लक्षण नहीं जाता; क्योंकि सेचन-क्रिया से अग्नि की साधनता बाधित है । अग्नि जलाने का साधन है, सींचने का नहीं ।

आसत्ति—(आ+सद्+क्तिन्) मिलन, संयोग, अन्तरङ्ग मेल, घनिष्ठ सम्पर्क—किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगात् (उत्तर० १.२७) । उपलब्धि, लाभ, उपार्जन, तर्कशास्त्र में सामीप्य–दो या दो से अधिक निकटस्थ राशियों का सम्बन्ध और उनके द्वारा अभिव्यक्त भाव–कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते (भाषा० ८३) । साहित्यपर्दण में कहा गया है—आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः[२] । अर्थात् बुद्धि अर्थात् प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के 'अविच्छेद' अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं । जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध होता है, उनके बीच में व्यवधान न होना 'आसत्ति' कहलाता है । यह व्यवधान दो प्रकार से होता है । या तो एक पदार्थ की उपस्थिति के अनन्तर बीच में अधिक काल के आ जाने से, अथवा प्रकृतोपयोगी पदार्थोपस्थिति के बीच में अनुपयुक्त पदार्थों के आ जाने से, पहले प्रकार का उदाहरण—यदि बुद्धिविच्छेद होने पर भी वाक्यत्व स्वीकार किया जाय, तो इस समय कहे हुए 'देवदत्त' पद का दूसरे दिन बोले हुए गच्छति पद के साथ सम्बन्ध होना चाहिए । यहाँ कालकृत व्यवधान है । जो दूसरे दिन कहा गया है । वस्तुतः एक घण्टा या इससे भी कम समय का बीच में व्यवधान होने पर भी किसी को उन पदों में सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता । दूसरे प्रकार का उदाहरण—'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' यहाँ 'गिरिरग्निमान्' और 'देवदत्तेन भुक्तम्' ये दो वाक्य हैं । गिरिः का सम्बन्ध अग्निमान् के साथ है, उसके बीच में प्रकृत अनुपयोगी 'भुक्तम्' पद आ पड़ा है । एवं 'देवदत्तेन' के पूर्व अनुपयुक्त 'अग्निमान्' व्यवधायक हो गया है, अतः आसत्ति नहीं रही । अतएव यह वाक्य नहीं ।

---

१. सा० द० २.१ वृत्ति ; २. वहीं २.१ वृत्ति ।

वाक्य—वच् धातु से ण्यत् प्रत्यय, च को क होकर वाक्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ वक्तृता, वचन, वक्तव्य, उक्ति, कथन, 'शृणु मे वाक्यम्' मेरे वचन सुनो, 'वाक्ये न सन्तिष्ठते' आज्ञापालन नहीं करता है । किसी विचार का पूर्णोच्चारण वाक्य कहलाता है । साहित्यदर्पण में कहा गया है—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः[१] ।

अर्थात् आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं । वाक्य और महावाक्य भेद से वाक्य दो प्रकार का होता है । वाक्योच्चयं महावाक्यम् । आकांक्षादियुक्त वाक्यों के समूह को महाकाव्य कहते हैं । कहा भी गया है—

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ।।

अर्थात् अपने-अपने अर्थ का बोधन करके समाप्त हुए वाक्यों का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से फिर मिलकर एक वाक्य (महावाक्य) होता है । उनमें वाक्य का उदाहरण एक श्लोक हो सकता है और महावाक्य रामायण, रघुवंश आदि हैं ।

पद—पद् से अच् प्रत्यय करके पद की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ पैर, इस अर्थ में पुल्लिङ्ग प्रयोग भी होता है । शिखरिषु पदं न्यस्य (मेघ० १३), अपथे पदमर्पयति हि (रघु० ९.७४), पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते (३.६२), विभक्तिचिह्न से युक्त शब्द को पद कहते हैं—'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० सू० १.४.१४) । साहित्यपर्दण में भी कहा गया है—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः[२] ।

प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ के बोधक वर्णों को पद कहते हैं । जैसे 'घटः' यह वर्णसमुदाय प्रयोग के योग्य है । व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण वाक्य में इसका प्रयोग हो सकता है और दूसरे पदार्थ से असम्बद्ध (अनन्वित) एक अर्थ (घड़े) का बोधक है, अतएव यह पद है । पद के अन्य अर्थ भी होते हैं । विस्तार-भय से सबको उपस्थित नहीं किया जा रहा है ।

---

१. सा० द० १.१; २. तदेव–२.२ ।

अर्थ—ऋ धातु से थन् प्रत्यय करने पर अर्थ शब्द की सिद्धि होती है, जिसका आशय, प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाष, इच्छा आदि अर्थ होता है। ज्ञातार्थो ज्ञानसम्बन्धः श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। 'सन्तानार्थाय विषये' (रघु० १.३४) तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम् (रघु० २.१६)। अभिप्राय, तात्पर्य, सार्थकता, आशय आदि भी इसका अर्थ है। अर्थ तीन प्रकार का होता है। वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः[१]। साहित्यदर्पण में कहा गया है—

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः[२]।

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य ये तीन प्रकार के अर्थ हैं। इनका क्रम से लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः[३]।।

जो अर्थ अभिधा से बोधित हो, वह वाच्य है, लक्षणा से बोधित अर्थ लक्ष्य और व्यञ्जना से बोधित अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना ये तीनों शब्द की शक्तियाँ हैं।

अभिधा—अभि उपसर्गपूर्वक धा धातु से अङ् और टाप् प्रत्यय करके अभिधा शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ नाम या संज्ञा होता है, जो प्रायः समास में प्रयुक्त होता है—कुसुमवसन्ताद्यभिधः। शब्द की शक्ति या शब्दार्थ, सङ्केतन, शब्द की तीन शक्तियों में से एक, वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः (सा० द० २.३)। अभिधा शब्द के सङ्केतित अर्थ को बतलाती है।

तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा[४]।

सङ्केतित (मुख्य) अर्थ का बोधन करने वाली शब्द की सबसे पहली शक्ति या वृत्ति का नाम अभिधा है। यहाँ सङ्केतित शब्द का अर्थ है मुख्य। सङ्केतग्रहविषयीभूत यह अर्थ नहीं। इस अर्थ के मानने पर आत्माश्रय दोष होगा; क्योंकि सङ्केत अभिधा का ही नाम है, अतः 'अभिधाज्ञानविषयीभूत अर्थ का बोध करने वाली शक्ति अभिधा है' यह लक्षण करने से अभिधा के लक्षण में अभिधा का समाश्रयण करना पड़ेगा, इस कारण आत्माश्रय दोष होगा।

---

१. का० प्र० २.१; २. सा० द० २.२।
३. वहीं–२.३; ४. वहीं–२.४।

अत: सङ्केतित शब्द का अर्थ मुख्य करना चाहिए। व्याकरण-कोशादि में प्रसिद्ध अर्थ मुख्य कहलाता है। लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के पूर्व उपस्थित होना ही इसका मुख्यत्व है। सङ्केतग्रह के वृद्धव्यवहार आदि अनेक उपाय बताये गये हैं। जैसा कि कहा गया है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

यह सङ्केतग्रह व्यक्ति की चार (जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया) उपाधियों में होता है। व्यक्ति में सङ्केतग्रह नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने से आनन्त्य व्यभिचार दोष आते हैं। तात्पर्य यह है कि जब जात्यादिक उपाधियों में शक्तिग्रह मानते हैं, तब तो समस्त व्यक्तियों में एक ही जाति रहने के कारण किसी एक स्थान पर गो आदि शब्दों की शक्ति गृहीत होने से ही काम चल जाता है। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तियों का भान हो जाने के कारण, अन्य व्यक्तियों में दुबारा शक्तिग्रह न होने पर भी कोई हानि नहीं होती; परन्तु यदि व्यक्ति में शक्ति का ग्रहण (ज्ञान) मानें, तो प्रश्न यह होता है कि क्या सम्पूर्ण व्यक्तियों में एक साथ शक्तिग्रह होता है ? या किसी एक व्यक्ति में ही ? इसमें पहला पक्ष इसलिए ठीक नहीं कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान के समस्त व्यक्तियों का एक समय में किसी एक जगह एकत्रित होना ही असम्भव है। यदि यह कहें कि प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् शक्तिग्रह होता है, तो अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ेंगी, अत: आनन्त्य दोष होगा। यदि किसी एक ही व्यक्ति में शक्ति मानेंगे, तो उस व्यक्ति से अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की उस शब्द से उपस्थिति ही न हुआ करेगी; क्योंकि पदार्थोपस्थिति में शक्तिग्रह कारण होता है।

यदि यह मानें कि एक व्यक्ति में शक्तिग्रह हो जाने से अन्य व्यक्ति विना शक्तिज्ञान के ही उपस्थित हो जाते हैं, तो व्यभिचार-दोष होगा और पदार्थोपस्थिति में शक्तिग्रह की कारणता न बन सकेगी। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में ही सब शब्दों की शक्ति मानने से उक्त चार प्रकार के (जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया) शब्दों का विषय भी विभक्त नहीं हो सकेगा। जब उपाधियों में शक्ति मानते हैं, तब तो उपाधियों के भिन्न होने से एक ही व्यक्ति में 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इस प्रकार चारों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो जाता है; किन्तु व्यक्ति-शक्तिवाद में व्यक्ति की अभिन्नता के कारण पुनरुक्त-दोष होगा।

यहाँ दर्शनशास्त्रों में मतान्तर है । मीमांसक केवल जाति में सङ्केत मानते हैं । नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में एवं बौद्ध अतद्व्यावृत्तिरूप अपोह में शक्तिग्रह मानते हैं । श्रीमम्मटाचार्य ने 'शब्दव्यापारविचार' नामक ग्रन्थ में भी मीमांसक आदि अन्य मतों का खण्डन कर वैयाकरणसम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारों में सङ्केतग्रह मानने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है । उन्होंने उस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा है—

तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।

अर्थात् अभिधा शक्ति से प्रतिपादित होने वाला मुख्य अर्थ जाति आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए ।

वाच्यार्थ को मुख्यार्थ नाम से भी जाना जाता है । 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रह में 'शाखादिभ्यो यः' (पा० सू० ५.३.१०३) सूत्र से य प्रत्यय होकर मुख्य शब्द निष्पन्न होता है । जैसे शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहले दिखलायी देता है, उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य सभी अर्थों में वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है, इसलिए मुख के समान होने से उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है । उस वाच्यार्थ या मुख्यार्थ का बोधन कराने वाला जो शब्द का व्यापार है, उसको अभिधा-व्यापार कहते हैं ।

लक्षणा—'लक्ष्यतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्ष् से करण अर्थ में ल्युट् और टाप् करके लक्षणा शब्द की निष्पत्ति होती है । लक्षणा शब्द की दूसरी वृत्ति है । इसे अभिधापुच्छभूता भी कहा गया है । लक्षणा को 'स्वाभाविकेतरा' अथवा 'ईश्वरानुद्भाविता' भी कहा गया है । कुछ लोग अभिधा को स्वाभाविक शक्ति मानते हैं, उनके मतानुसार लक्षणा स्वाभाविकेतरा है । जो लोग अभिधा को ईश्वरोद्भावित ईश्वररचित (ईश्वरेच्छारूप) मानते हैं, उनके मतानुसार लक्षणा को ईश्वरानुद्भाविता कहा गया है । तात्पर्य यह है कि लक्षणा वृत्ति कृत्रिम है, वह मनुष्यकल्पित है, अभिधा की भाँति सिद्ध नहीं है । आचार्य मम्मट लक्षणा की परिभाषा लिखते हुए कहते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया[१] ।।

---

१. का० प्र० २.९ ।

इस कारिका में 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थल पर जो यत् शब्द का प्रयोग हुआ है, उसकी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' 'यत्' पद 'यया' इस अर्थ में कारण विभक्ति के लोप द्वारा बना हुआ अव्ययपद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा', जिस शब्दशक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है, 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते', जो प्रतिपादित होता है, वह लक्षणा है। इन दोनों ही व्याख्याओं और विशेषकर दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्त से बना हुआ आख्यात का रूप है। णिच् प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार होता है, 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है; परन्तु यह व्याख्या अधिक क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए 'यत्' पद को 'यया' के अर्थ में लुप्तकरणक तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

कुछ लोगों ने 'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकार की व्याख्या करते हैं; परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है; क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है, अपितु शब्द की शक्ति 'लक्षणा' है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट अपने श्लोकवार्तिक में 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' यह लिखा है। उसी के आधार पर इन व्याख्याकारों ने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकार की व्याख्या कर दी है; परन्तु एक तो वह काव्यप्रकाशकार का सिद्धान्तमत नहीं, अपितु मीमांसकों का मत है, इसलिए उसके आधार पर व्याख्या उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकार को शब्दव्यापार को ही लक्षणा मानना अभिमत है, अतः 'यया' अर्थ में ही 'यत्' अव्यय का प्रयोग समझना चाहिए। दूसरे, वहाँ भी 'प्रतीति' पद का अर्थ ज्ञान नहीं, अपितु 'प्रतीति का करणभूत व्यापार' किया जाता है। करण में क्तिन् प्रत्यय करके 'प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह होता है।

उपर्युक्त कारिका में 'लक्षणा' का मुख्य कारण 'मुख्यार्थबाध' बतलाया गया है। इस मुख्यार्थबाध की भी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। अधिकांश व्याख्याकार मुख्यार्थबाध का अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा का अर्थ जल की धारा और घोष का अर्थ 'आभीरपल्ली' है। गङ्गा की धारा के ऊपर 'घोष' नहीं रह सकता है, इसलिए यहाँ

अन्वय के अनुपपन्न होने के कारण गङ्गा पद लक्षणा से तटरूप अर्थ का बोधन करता है ।

परन्तु नागेशभट्ट ने 'परमलघुमञ्जुषा' में 'अन्वयानुपपत्ति' के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना है और उसका हेतु यह दिया है कि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जायेगा, तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी । कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा हुआ छोड़कर किसी काम से थोड़ी देर के लिए कहीं जाते हुए अपने साथी से कहता है कि 'जरा कौओं से दही को बचाना' । इसका अभिप्राय केवल कौओं से बचाना नहीं है, अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दही को बिगाड़ने या खाने का प्रयत्न करें, उन सबसे दही की रक्षा करना, यह वक्ता का अभिप्राय है । यह अभिप्राय 'काक' पद की 'दध्युपघातक' अर्थ में लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है, अन्यथा नहीं; परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में अन्वयानुपपत्ति नहीं है । सब पदों का अन्वय बन जाता है । इसलिए यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानें, तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नहीं आता । इसलिए नागेशभट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति का बीज माना है । अन्वय में बाधा न होने पर भी 'काक' पद का मुख्यार्थ मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती है, इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है । अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिए, यह नागेशभट्ट का अभिप्राय है ।

पण्डितराज जगन्नाथ लक्षणा को सम्बन्धरूप मानकर **'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'**[१] यह लक्षणा का लक्षण कहते हैं । उनका अभिप्राय है कि पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात्सम्बन्ध द्वारा और दूसरे परम्परासम्बन्ध (अपने सम्बन्धी वाच्य अर्थ के सम्बन्ध) द्वारा । इनमें प्रथम सम्बन्ध को अभिधा और द्वितीय सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं । जब केवल प्रथम सम्बन्ध कार्यकारी नहीं होता (वक्ता के तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ का बोधक नहीं हो पाता), तभी द्वितीय सम्बन्ध का उपयोग किया जाता है । अतएव अभिधा प्रथमवृत्ति और लक्षणा की पुच्छभूत वृत्ति समझी जाती है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि शक्य वाच्य (मुख्य) अर्थ के सम्बन्ध का नाम लक्षणा है– न्यायदर्शन के प्रणेता आचार्यों ने भी लक्षणा के इस स्वरूप का ही समर्थन

१. रसगङ्गाधर, पृ० १६२ ।

किया है । अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुलभट्ट भी लक्षणा के इसी स्वरूप की ओर इङ्गित करते हैं । वे कहते हैं—

शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अंर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ।।

कतिपय प्राचीन विद्वान् 'वाच्य अर्थ के सम्बन्ध द्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ के ज्ञान (स्मरण) को लक्षणा मानते हैं—**'शक्यसम्बन्धेनाशक्यप्रतिपत्ति-र्लक्षणा इति प्राचां लक्षणम्'** ।

भट्टवार्त्तिककार कुमारिलभट्ट का लक्षण भी बहुत कुछ इस ढङ्ग का है । उनका कथन है—

मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।।

अर्थात् मुख्य अर्थ का स्वीकार करना यदि अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) से विरुद्ध पड़ता है, तब अभिधेय (वाच्य) अर्थ से सम्बन्ध अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह लक्षणा है ।

कुछ लोग 'शक्यतावच्छेदकारोप' को लक्षणा कहते हैं । उनके कथन का अभिप्राय यह है कि मुख्य अर्थ में रहने वाले असाधारणधर्म का मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ में आरोप करना ही लक्षणा का स्वरूप है । जैसे—'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गापदशक्यतावच्छेदक गङ्गात्व का गङ्गापदार्थ प्रवाहविशेष से सम्बद्ध तट में आरोप करना ।

लक्षणा-भेद— लक्षणा छः प्रकार की मान्य है । वस्तुतः लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की होती है—शुद्धा और गौणी । उसमें शुद्धा दो प्रकार की होती है—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा । ये दोनों भी प्रत्येक सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो-दो प्रकार की हो जाती हैं । इस प्रकार शुद्धा के चार भेद हो जाते हैं । गौणी दो प्रकार की होती है—सारोपा और साध्यवसाना । सबको उदाहरण के माध्यम से समझें—

शुद्धा उपादानसारोपा—कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति ।
शुद्धा उपादानसाध्यवसाना—कुन्ताः प्रविशन्ति ।
शुद्धा लक्षणसारोपा—आयुर्घृतम् ।

शुद्धा लक्षणसाध्यवसाना—आयुरेवेदम् ।
गौणी सारोपा—गौर्वाहीकः ।
गौणी साध्यवसाना—गौरयम् ।

लक्षणा का यह छः प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है । आचार्य मम्मट ने भी उसी का अनुवाद करके काव्यप्रकाश में **'लक्षणा तेन षड्विधा'** कहा है । साहित्यदर्पणकार ने **'तेन षोडशभेदिता'** लिखकर लक्षणा के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद करके दिखला दिये हैं । वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं—पहले रूढि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा ये दो भेद हुए । फिर उन दोनों के उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के भेद से दो-दो भेद होकर चार भेद हुए । फिर उन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए । फिर उन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए । इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने यहाँ तक लक्षणा के सोलह भेद कर दिये हैं । मम्मट और मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छः भेद ही किये हैं । इस अन्तर का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट दोनों ने उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा ये दोनों भेद केवल शुद्धा के माने हैं, गौणी के नहीं । विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं । उनको मम्मट के छः भेदों में मिला देने से आठ भेद बन जाते हैं । विश्वनाथ ने इनके रूढि तथा प्रयोजन से दो भेद करके १६ भेद बनाये हैं । मम्मट और मुकुलभट्ट ने ये भेद नहीं किये हैं । रूढ़ि और प्रयोजन तो लक्षणा के हेतु हैं । इसलिए उनके यहाँ भेदों की संख्या केवल छः रह गयी है ।

व्यञ्जना—(वि + अञ्ज् + ल्युट् + टाप्) स्पष्ट करना, सङ्केत करना, प्रकट करना । शब्द की तीनों शक्तियों में अन्तिम, जिससे अर्थ उपलक्षित या ध्वनित होता है । आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना का लक्षण किया है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च[1] ।।

अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदिक वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द तथा अर्थ आदि में रहने

१. सा० द० २.१२-१३ ।

वाली वृत्ति (शक्ति) व्यञ्जना कहलाती है । कहा गया है कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म इनमें विराम के अनन्तर फिर व्यापार नहीं होता है । जैसे—देवदत्त ने किसी को थप्पड़ मारा, अब थप्पड़ लगने के बाद लाख यत्न करने पर भी वह थप्पड़ वापस नहीं लिया जा सकता । उस विरत-क्रिया को फिर कोई वापस नहीं कर सकता । रस्सी को देखकर किसी को सर्पबुद्धि हो गई और वह डर गया, तो फिर चाहे कुछ यत्न किया जाय, पहला ज्ञान निकल नहीं सकता । यह दूसरी बात है कि रस्सी का ज्ञान होने पर पहले ज्ञान की असत्यता प्रतीत हो जाय और अपने डर जाने पर हँसी भी आये; परन्तु उस पहले ज्ञान में अब कोई व्यापार नहीं हो सकता, वह नहीं निकाला जा सकता । इसी प्रकार शब्द भी एक बार ही व्यापार करता है । अतएव अपना-अपना अर्थ उपस्थित करके अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक शब्द की तीन वृत्तियों (व्यापारों) के उपक्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ बोधित होता है, वह शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहलाती है और व्यञ्जन, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों से भी व्यवहृत होती है । इसको उदाहरण से समझें—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिच्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

यह रावण की गर्वभरी क्रोधोक्ति है । श्रीराम लङ्का में राक्षसों का ध्वंस कर रहे थे, उस समय अपने वीरों की भर्त्सना करने के लिए और शत्रु की तुच्छता आदि सूचित करने के लिए यह पद्य कहा गया है । पहले तो शत्रुओं का होना ही मेरा तिरस्कार है । जिसने इन्द्रादि देवों को भी कैद कर रखा है, यमराज भी जिससे काँपते हैं, उसके शत्रु हों और वे जीते रहें ! कितना आश्चर्य और अनौचित्य है । यह भाव 'मे' पद से व्यञ्जित होता है । अस्मद् शब्द से वक्ता के पूर्वकृत लोकोत्तर चरित (इन्द्रादिविजय आदि) और सम्बन्धवाचक षष्ठी विभक्ति से शत्रुओं के साथ अपने सम्बन्ध का अनौचित्य द्योतित होता है और इससे रावण के हृदय का क्रोध प्रतीत होता है । 'अरय:' का बहुवचन उस सम्बन्धानौचित्य की अधिकता का सूचक है । एक नहीं, दो नहीं, हजारों-लाखों क्षुद्र जन्तु मेरे शत्रु हैं–यह अत्यन्त अनुचित है । उस पर भी यह 'तापस'

(तपस्वी नहीं) मेरा शत्रु है–वह और भी अनुचित है । तत्रापि इस निपातसमुदाय से असम्भवनीयता और तापस शब्द के मत्वर्थीय अण् प्रत्यय से पुरुषार्थ का अभाव व्यञ्जित होता है । पुरुषार्थहीन क्षीणदेह 'तापस' लोकरावण रावण का शत्रु हो, यह कैसी असम्भव बात, इस समय प्रत्यक्ष हो रही है । असौ कहने से विशेष हीन दशा द्योतित होती है । यथा—जिसे घर से पिता ने निकाल दिया, जो वन-वन भटकता फिरता है, जिसको न पेट की रोटी है, न तन को कपड़ा, स्त्री के वियोग में दिन-रात रोता रहता है और तपस्याओं से क्षीण है 'वह' (असौ) मेरा शत्रु है—यह और भी अनुचित बात है । सोऽपीति—वह भी यहीं है । (यदि दूर कहीं छिपा रहता, तो भी खैर थी) केवल है ही नहीं—राक्षसों के कुल का (एक दो का नहीं) संहार कर रहा है । जीवतीति—आश्चर्य तो यह है कि रावण जी रहा है । 'रावयतीति रावण:' देव, असुर आदि समस्त त्रैलोक्य को रुलाने वाले राक्षसराज 'रावण' के जीते जी यह बात । धिग्धिगिति–इन्द्रजित् मेघनाद को धिक्कार है और जगाये हुए कुम्भकर्ण से भी क्या बना, जिनसे यह क्षुद्र शत्रु भी न मारा गया । 'शक्रं जितवान्' इस अर्थ में भूत-कालिक क्विप् प्रत्यय से मेघनाद के इन्द्रविजय में अनास्था सूचित होती है । स्वर्गेति–और स्वर्गरूप तुच्छ ग्राम को लूट लेने भर से व्यर्थ फूले हुए इन मेरे बाहुओं से भी क्या लाभ ? जिन्होंने इस प्रकार के अपराधी क्षुद्र शत्रु की अब तक उपेक्षा की । यहाँ 'एभि:' इस पद से यह भाव होता है कि जो भुजा लोकातिशायी महिमा से युक्त है, जिनका कुछ-कुछ बल-वीर्य शङ्कर और कैलास ही जानते हैं, उनका स्वर्गरूप तुच्छ ग्राम की लूट से कृतकृत्य और प्रसन्न हो बैठना ठीक नहीं । इसी भाव का पोषक, अनादरसूचक 'उच्छून' (सूजे हुए) शब्द है । इस पद्य के अधिकांश से अनौचित्य और कहीं-कहीं से असम्भवनीयता तथा अमर्षादिक ध्वनित होते हैं । इन सबसे रावण के हृदय का गर्वसचिव क्रोधरूप स्थायीभाव व्यञ्जित होता है—**गुरुबन्धुवधादिपरमापराध-जन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः** । इस प्रकार इस पद्य में अनेकविध व्यञ्जना से अर्थ-प्रतीति हो रही है ।

शब्दादिनिष्ठ होने के कारण व्यञ्जना अनेक प्रकार की होती है । उसमें शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है—अभिधामूलक और दूसरी लक्षणा-मूलक । अभिधामूला का स्वरूप दिखाते हुए साहित्यदर्पण में कहा गया है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया[१] ।।

अर्थात् संयोग-विप्रयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के प्रकृतोपयोगी एक अर्थ के निर्णीत हो जाने पर भी जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना अभिधाश्रया कहलाती है । यथा—'राजत्युमावल्लभः' । यहाँ प्रकरण के द्वारा 'उमावल्लभः' शब्द का 'उमा नामक महादेवी के वल्लभ भानु-देव नृपति' यह अभधेय अर्थ निश्चित होने पर व्यञ्जना के द्वारा गौरीवल्लभरूप अर्थ द्योतित होता है ।

लक्षणामूला व्यञ्जना का लक्षण, यथा—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्यायते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया[२] ।।

अर्थात् जिसके लिए लक्षणा का आश्रयण किया जाता है, वह प्रयोजन, जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, वह व्यञ्जना लक्षणाश्रया (लक्षणामूला) कहलाती है । जैसे—'गङ्गायां घोषः' में अभिधा के द्वारा 'गङ्गा' पद से जलमय (प्रवाह) रूप मुख्य अर्थ को बोधित करके अभिधा के शान्त होने पर और तटादिरूप लक्ष्यार्थ का बोधन करके लक्षणा के विरत होने पर शीतलता और पवित्रता का आधिक्य जिस शब्दशक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणा-मूलक व्यञ्जना कहते हैं ।

आर्थी व्यञ्जना का अभिधान करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।

अर्थात् वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह 'आर्थी व्यञ्जना' ही कहलाती है ।

रस—(रस् + अच्) सार (वृक्षों का) दूध, रस इक्षुरस, कुसुमरस आदि । तरल द्रव पदार्थ को भी रस कहते हैं । जल को रस कहते हैं—**'सहस्र-**

१. सा० द० २.१४; २. तदेव–२.१५ ।

गुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' (रघु० १.१९)। **'रस्यते आस्वाद्यत इति रसः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द से रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि का ग्रहण होता है। रस के स्वरूप का निरूपण और उसके आस्वादन का प्रकार बतलाते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

यहाँ सत्त्वोद्रेकात् इस पद से हेतु का निर्देश किया गया है, 'अखण्ड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः, वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मास्वादसहोदरः, लोकोत्तरचमत्कार-प्राणः' इन पदों से रस का स्वरूप बतलाया गया है एवं 'स्वाकारवदभिन्नत्वेन' इससे उसके आस्वाद का प्रकार और 'कैश्चित्प्रमातृभिः' से रसास्वाद के अधि-कारियों का निर्देश किया गया है। यही बात धर्मदत्त ने भी अपने ग्रन्थ में कही है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।

रस की निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख नाट्याचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही सारे रससिद्धान्त की आधारभित्ति है। भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या में ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी है और उसके परिणामस्वरूप **१.** उत्पत्तिवाद, **२.** अनुमितिवाद, **३.** भुक्तिवाद और **४.** अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—'विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इस भरत-सूत्र से 'संयोगात्' और 'निष्पत्ति' शब्द आया है, उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में 'जन्यजनकभाव-सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः अर्थात् उत्पत्तिः'। शङ्कुक के मत में–'अनुमाप्यानु-मापकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः=अनुमितिः'।

भट्टनायक के मत में 'भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः= भुक्तिः'।

अभिनवगुप्त के मत में 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः', अभिव्यक्ति का ग्रहण होता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावों

के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं। आचार्य भरत नाटक में आठ रस मानते हैं। यथा—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः[१] ।।

पुनः कहते हैं—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[२] ।

इन नव रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्तिरस को अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्र में न होकर धार्मिक क्षेत्र में हुई है। साहित्यशास्त्र में इसकी गणना देवादिविषयक रति के रूप में भावों में की गयी है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग वात्सल्यरस को भी अलग रस मानते हैं। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विशेषतया स्वतन्त्र रस के रूप में 'वात्सल्यरस' को प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी-साहित्य के कवियों में तुलसी तथा सूर की रचनाओं में इस रस का विशेष प्रभाव दिखलायी देता है। अन्यान्य शास्त्रों में रस शब्द अन्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

स्थायिभाव—'स्थायिनश्च ते भावाः, स्थायिभावाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थायी और भाव इन पदों के समास करने से इस शब्द की सिद्धि होती है। स्था धातु से णिनि और वुक् करके स्थायी शब्द एवं भू धातु से घञ् करके स्थायिभाव शब्द बना है। स्थायिन् शब्द का अर्थ खड़ा रहने वाला, टिकने वाला, स्थित रहने वाला, समास के अन्त में सहन करने वाला, निरन्तर चलने वाला, टिकाऊ, टिके रहने वाला होता है। शरीरं क्षणविध्वंसि कल्यान्तस्थायिनो गुणाः (सुभा०), कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्रीः (भर्तृ० २.८२)। **स्थायिभाव** का अर्थ मन की स्थिर दशा, टिकाऊ या सदा रहने वाली भावना होता है। इन स्थायिभावों से ही काव्यगत विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः[३] ।

---

१. का० प्र० ४.२९ ।
२. तदेव–४.३५ ।
३. तदेव–४.२८ ।

रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझना चाहिए। रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मन के भीतर स्थिररूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपनरूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का सञ्चार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है। इसलिए **'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'** आदि कहा गया है। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं।

व्यवहारदशा में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है, उसको ध्यान में रखकर प्रायः आठ प्रकार के स्थायिभाव साहित्यशास्त्र में माने गये हैं। काव्यप्रकाशकार ने उनकी गणना इस प्रकार की है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः[१]॥

इनके अतिरिक्त निर्वेद को भी नौवाँ स्थायिभाव माना गया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[२]।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं, इसलिए 'स्थायिभाव' कहलाते हैं। सामान्य रूप से वे अव्यक्तावस्था में रहते हैं; किन्तु जब जिस स्थायिभाव में अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है।

विभाव—(वि + भू + घञ्) विशिष्ट भावना को विभाव कहा जा सकता है। रसानुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं। विभाव का लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः[३]।

---

१. काव्यप्रकाश–४.३०; २. वहीं, ४.३५।
३. सा० द० ३.२८।

अर्थात् लोक में जो रत्यादि के उद्बोधक हैं, वे ही काव्य और नाटक में विभाव क़हलाते हैं। विभाव सहृदय द्रष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादि भावों को विभावित करते हैं, अर्थात् उन्हें रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं। सीता आदि के दर्शन या श्रवण से ही सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादिभाव रसरूप में परिणत होते हैं। यही विभाव शब्द का अक्षरार्थ है। आचार्य भर्तृहरि ने यही कहा है—

शब्दोपहितरूपाँस्तान् बुद्धेर्विषयतां ग- ।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्य- ।।

काव्यानुशीलन के समय शब्दों के उपस्थापित और ज्ञान में प्रतिभासित कंसादिकों को सहृदय पुरुष प्रत्यक्षवत् वीरादि रसों का साधन समझने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि काव्य में कंसादिक विभाव शब्द से ही बोधित होते हैं, साक्षात् उपस्थित नहीं होते; परन्तु पूर्वोक्त विभावन व्यापार के बल से सहृदयों को वे सामने खड़े-से दिखाई देते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं— **१.** आलम्बन-विभाव और **२.** उद्दीपन-विभाव। जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है, उसको 'आलम्बन-विभाव' कहते हैं। जैसे सीता को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सीता, राम आदि शृङ्गार रस के 'आलम्बन-विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदि के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है। इसलिए उनको शृङ्गाररस का उद्दीपन-विभाव कहा जाता है। प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन-विभाव अलग-अलग होते हैं।

अनुभाव—अनु पश्चात् भाव: अनुभाव:—इस व्युत्पत्ति के अनुसार रसानुभूति के कार्य को 'अनुभाव' कहते हैं। 'स्थायिभाव' रसानुभूति का प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन तथा उद्दीपन-विभाव उसके बाह्य या बहिरङ्ग कारण हैं। इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। इनको रस का कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः[1] **।।**

---

१. सा० द० ३.१३२ ।

अर्थात् अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीता, राम आदि के भीतर उद्बुद्ध रति आदिरूप स्थायिभाव को बाह्यरूप में जो प्रकाशित करता है, वह रत्यादि का कार्यरूप, काव्य और नाट्य में अनुभाव के नाम से कहा जाता है। भरतमुनि ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित प्रकार से किया है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः[१] ।।

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव के आभ्यन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थ का बाह्यरूप में अनुभव कराता है, उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभावों का विशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से ही होता है। किसी रस की बाह्य अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग अभिनय शैली का अवलम्बन किया जाता है। अलग-अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं और वे प्रत्येक रस में अलग-अलग होते हैं। जैसे अनुकार्य की दृष्टि से भी वे उसकी रसानुभूति के बाह्य प्रदर्शक होते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय में अलग-अलग स्थायिभावों और रसों के अनुभावों का वर्णन किया है। विशेष जिज्ञासा की शान्ति के लिए वहीं अवलोकनीय है।

भरतमुनि के द्वारा अनुभावों का जो विशेषरूप से अभिनय में प्रयोग दिखलाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। नट कृत्रिम रूप से इन अनुभावों का अभिनय करता है; परन्तु अनुकार्य राम आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है। वे रसानुभूति के **'अनु पश्चाद् भवन्ति इत्यनुभावाः'** बाद में होते हैं, रसानुभूति के कार्य होते हैं, इसलिए अनुभाव कहलाते हैं। अथवा अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव, अनुमान सामाजिकों को कराते हैं, इसलिए अनुभाव कहलाते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र–७.५ ।

व्यभिचारिभाव—(वि + अभि + चर + घञ् = व्यभिचार + इनि + व्यभिचारिन्) भटका हुआ, भूला हुआ, पथभ्रष्ट, भ्रान्त, नियम भङ्ग करने वाला, अनियमित, असङ्गत, असत्य, मिथ्या आदि इसके अर्थ होते हैं । व्यभि-चारि च भावश्च व्यभिचारिभाव: । सञ्चारिभाव, सहकारीभाव इसके पर्याय हैं । रसानुभूति में सहकारी कारण को व्यभिचारीभाव कहा जाता है । यद्यपि स्थायि-भावों की भाँति ये सहकारीभाव रस का कोई आधारभूत रूप नहीं बनाते, फिर भी यह प्रवहमान रस के पोषक हैं, अत: प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह रस की पुष्टि करते हैं, इसका कोई निर्धारित स्थान न होने से ही वे व्यभिचारिभाव कह-लाते हैं । चूँकि उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं, उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में व्यभिचारिभाव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है—

व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्याम: । अत्राह—व्यभिचारिण इति कस्मात् । उच्यते–वि + अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातु: । विविधमाभि-मुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण: । वागङ्गसत्त्वोपेता: प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिण: । अत्राह – कथं नयन्तीति । उच्यते – लोके सिद्धान्त एष:, यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति । न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते । किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति । एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्या: । तानिह सङ्ग्रहाभिहिताँस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्याम: ।

अर्थात् जो रसों में नाना रूप में विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं, उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं । इन व्यभिचारि-भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है । ये तैंतीस व्यभिचारिभाव सब रसों में मिलकर होते हैं । अलग-अलग रसों के हिसाब से उनका वर्गीकरण नहीं किया गया है । भरतमुनि ने व्यभिचारिभावों की गणना इस प्रकार की है—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मद: श्रम: ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोह: स्मृतिर्धृति: ।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ।।
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः[१] ।।

ये व्यभिचारिभाव जब प्रधानरूप से व्यङ्ग्य होते हैं, तब इनकी संज्ञा भाव हो जाती है । आचार्य मम्मट ने भाव का लक्षण करते हुए कहा है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारि तथाऽञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः[२]........................।।

अर्थात् देव आदि विषयक रति आदि सभी स्थायिभाव और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव 'भाव' कहलाते हैं । वे व्यञ्जित व्यभिचारिभाव का उदाहरण देते हैं—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
नो यावत् परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः[३] ।।

यहाँ विधाता के प्रति 'असूया'रूप व्यभिचारीभाव व्यङ्ग्य है । अतः यहाँ 'भावध्वनि' है ।

वैसे तो स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के साथ भी भाव शब्द का प्रयोग होता है; परन्तु उपर्युक्त निरूपित 'भावध्वनि' उन भावों से भिन्न प्रकार की है । भरतमुनि ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावाः' दो प्रकार से की है । उनका लक्षण इस प्रकार किया है—

विभावैराहतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।।
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
अस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः[४] ।।

---

१. नाट्यशास्त्र-७.१८-२१; २. का० प्र०, ४.३५ ।
३. तदेव-४.४७; ४. नाट्यशास्त्र- ७.२-४ ।

व्यभिचारिभाव का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विदाः[1] ।।

अर्थात् स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायिभाव में उन्मग्न-निमग्न अर्थात् आविर्भूत-तिरोभूत होकर निर्वेदादि भाव अनुकूलता से व्याप्त होते हैं । अतएव विशेष रीति से आभिमुख्यचरण के कारण इन्हें 'व्यभिचारी' कहते हैं । उनकी संख्या तैंतीस है—

१. निर्वेद, २. आवेग, ३. दैन्य, ४. श्रम, ५. मद, ६. जडता, ७. उग्रता, ८. मोह, ९. विबोध, १०. स्वप्न, ११. अपस्मार, १२. गर्व, १३. मरण, १४. अलसता, १५. अमर्ष, १६. निद्रा, १७. अवहित्था, १८. औत्सुक्य, १९. उन्माद, २०. शङ्का, २१. स्मृति, २२. मति, २३. व्याधि, २४. संत्रास, २५. लज्जा, २६. हर्ष, २७. असूया, २८. विषाद, २९. धृति, ३०. चपलता, ३१. ग्लानि, ३२. चिन्ता और ३३. वितर्क । ये तैंतीस व्यभिचारी अथवा सञ्चारीभाव कहलाते हैं ।

निर्वेद—(निर् + विद् + घञ्) घृणा, जुगुप्सा, विषाद, निराशा आदि इसके अर्थ होते हैं । एक प्रकार की भावना, जिससे शान्तरस का उदय होता है–

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[2] ।

व्यभिचारिभावों में से एक, जिसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है । यथा—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासितादिकृत्[3] ।।

तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्या आदि के कारण अपने को धिक्कारने का नाम निर्वेद है । इसमें दीनता, चिन्ता, आँसू, दीर्घश्वास, विवर्णता और उच्छ्वास आदि होते हैं । तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद का उदाहरण देखें—

मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रपिधानरचनादिना ।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया ।।

---

१. सा० द० ३.१४०; २. का० प्र० ४ ।
३. सा० द० ३.१४२ ।

विषयभोग और सांसारिक सुखों के लिए सम्पूर्ण आयु नष्ट करके पीछे किसी महात्मा के संसर्ग से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर अपनी पिछली करतूतों से निर्विण्ण किसी पुरुष की उक्ति है—कंकड़ निकल जाने से उत्पन्न मिट्टी के घड़े के छेद (बालुकारन्ध्र) को बन्द करने के लिए हाय मैंने यह दक्षिणावर्त शङ्ख फोड़ डाला। यहाँ विषय-सुखों को बालुकारन्ध्र और जीवन को दक्षिणावर्त शङ्ख बताया गया है।

आवेग—(आ + विज् + घञ्) बेचैनी, चिन्ता, उत्तेजना, विक्षोभ, घबड़ाहट–अलमावेगेन (शाकु०)। ३३ व्याभिचारीभावों में एक। इसका लक्षण साहित्यदर्पण में दिया गया है—

आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताग्निजे॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम्।
गजादेः स्तम्भकम्पादि पांस्वाद्याकुलतानिलात्॥
इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथाक्रमम्[1]॥

सम्भ्रम (घबराहट) को आवेग कहते हैं। यदि वह हर्ष से उत्पन्न होता है, तो उसमें शरीरसंपिण्डित (सङ्कुचित) हो जाता है और उत्पातजन्य आवेग में देह ढीला पड़ जाता है। अग्निजन्य आवेग में धुएँ आदि से व्याकुलता होती है।

दैन्य—(दिन + ष्यञ्) गरीबी, दरिद्रतावस्था, दयनीय अवस्था, दुर्दशा—दरिद्राणां दैन्यम्। इन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते बिभर्ति (मेघ० ७४)। कष्ट, खेद, विषाद, शोक, उत्साहहीनता, दुर्बलता, कमीनापन आदि भी इसके अर्थ हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्[2]।

दुर्गति आदि से उत्पन्न ओजस्विता के अभाव को दैन्य कहते हैं। उससे मन में मलिनता आदि उत्पन्न होती है।

श्रम—श्रम् से घञ् करने पर वृद्धि का निषेध हो जाने से श्रम शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ मेहनत, परिश्रम, चेष्टा, प्रयत्न होता है–अलं

---

१. सा० द० ३.१४३-१४५; २. तदेव–३.१४५।

महीपाल तव श्रमेण (रघु० २.३४) । जानाति हि पुनः सम्यक् कविरेव कवेः श्रमम्–सुभा० । श्रम का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः[१] **।**

रति और मार्ग चलने आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है । उससे साँस चढ़ती है और निद्रा आदि होती है ।

मद—मद् से अच् प्रत्यय करने से 'मद' शब्द की सिद्धि होती है । जिसका मादकता, मस्ती, मदोन्मत्तता आदि अर्थ होता है । उग्र प्रणयोन्माद, लालसापूर्ण उत्कण्ठा, कामुकता, मैथुनेच्छा आदि भी इसके अर्थ होते हैं—इति मदमदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागान्–शि० १०.९१ । हाथी के मस्तक से चूने वाला एक प्रकार का रस–मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः (चन्द्र० ५.४५) । मद का लक्षण साहित्यदर्पण में देंखे—

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः[२] **।**

जिसमें बेहोशी और आनन्द का मिश्रण हो, वह अवस्था 'मद' कहलाती है । मद्य आदि के सेवन से यह पैदा होता है । इस मद से उत्तम पुरुष सो जाते हैं, मध्यम हँसते और गाते हैं एवं नीच प्रकृति के लोग गाली बकते और रोते हैं ।

जड़ता—जड़ से तल् प्रत्यय करके जड़ता का सिद्धि होती है । इसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र[३] **।।**

इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन और श्रवण से उत्पन्न अप्रतिपत्ति (किंकर्तव्य-विमूढ़ता) को जड़ता कहते हैं । इसमें टकटकी लगाकर देखते रहना, चुप हो जाना आदि कार्य होते हैं ।

उग्रता—उग्र से तल् प्रत्यय के योग से उग्रता बना है । इसका लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार है—

---

१. सा० द० २.१४६; २. वहीं–३.१४६ ।
३. वहीं–३.१४८ ।

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः[१] ।।

शूरता तथा अपराधादि से उत्पन्न चण्डता का नाम उग्रता है । इसमें प्रस्वेद, सिर घूमना या सिर का कम्पन और तर्जन-ताडनादिक होते हैं ।

मोह—मुह् धातु से घञ् प्रत्यय करने से मोह शब्द निष्पन्न होता है । भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न हुई चित्त की 'विकलता' (परेशानी) को मोह कहते हैं । इसमें मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर, अदर्शन आदि होते हैं । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्[२] ।।

विबोध—वि उपसर्गपूर्वक बुध् धातु से घञ् प्रत्यय करके विबोध शब्द की निष्पत्ति होती है । निद्रा दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चैतन्यलाभ को 'विबोध' कहते हैं । इसमें जँभाई, अँगड़ाई, आँख भींचना, अपने अङ्गों का अवलोकन आदि होता है । जैसा कि कहा गया है—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोकनम्[३] ।।

स्वप्न—स्वप् धातु से नक् प्रत्यय करके स्वप्न शब्द बना है, जिसका सोना, नींद आदि अर्थ होता है । अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् (रघु० १२.८१) । नींद में निमग्न पुरुष के विषयानुभव करने का नाम 'स्वप्न' है । इसमें क्रोध, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि होते हैं । स्वप्न का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ।।

अपस्मार—अप उपसर्गपूर्वक स्मृ धातु से घञ् करने पर अपस्मार शब्द निष्पन्न होता है । स्मरण-शक्ति का अभाव, मिरगी रोग, मूर्च्छा रोग आदि अर्थ होता है । भूतावेश आदि के कारण चित्त का विक्षेप 'अपस्मार' (मिरगी)

---

१. सा० द० ३.१४९; २. वहीं–३.१५० ।
३. वहीं–३.१५१ ।

कहलाता है । इसमें भूमिपतन, कम्पन, प्रस्वेद तथा मुख में झाग और लार आदि होता है । जैसा कि कहा गया है—

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूताकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकाः ।।

गर्व—गर्व से घञ् करने से 'गर्व' शब्द सिद्ध होता है । घमण्ड, अहङ्कार—'मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वम्' ।

मुधेदानीं यौवनगर्वं वहसि–मालवि० ४ । अपने प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि के कारण उत्पन्न चित्तवृत्ति को गर्व कहते हैं । इससे मनुष्य अन्यों की अवज्ञा करने लगता है । विभ्रमसहित ओठ, अँगूठा आदि दिखाता है और अविनय करता है ।

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत्[1] ।।

मरण—मृ धातु से ल्युट् करने पर 'मरण' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्[2] ।

अर्थात् बाण आदि के लगने से प्राणत्याग का नाम मरण है । इसमें देह का पतन आदि होता है ।

आलस्य—आङ् उपसर्गपूर्वक लस् धातु से ष्यञ् प्रत्यय करने से 'आलस्य' शब्द निष्पन्न होता है । श्रान्ति और गर्भादि से जन्य जड़ता का नाम आलस्य है । इसमें जँभाई, एक जगह बैठे रहने की इच्छा आदि होती है । साहित्यदर्पण में आलस्य का लक्षण देखें—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यजृम्भासितादिकृत्[3] ।

अमर्ष—मृष् से घञ् प्रत्यय करने से मर्ष बनता है । जिसका अर्थ सहनशीलता, सहिष्णुता, धैर्य आदि होता है । 'न मर्षः अमर्षः' इस व्युत्पत्ति से अमर्ष का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

---

१. सा० द० ३.१४५; २. वहीं–३.१५५ ।
३. वहीं–३.१५५ ।

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत्[1] ।।

निन्दा, आक्षेप और अपमान आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त के अभिनिवेश का नाम अमर्ष है । इसमें आँखों में लाली, सिर में कम्प, भ्रूभङ्ग और तर्जन आदि होता है । रसगङ्गाधर में निम्न परिभाषा प्रस्तुत है—परकृतावज्ञानादिनानापराधजन्यो मौनवाक् पारुष्यादिकारणभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः । क्रोध आवेग आदि इसके अर्थ होते हैं—पुत्रवधामर्षोद्दीपितेन–वेणी० २ ।

निद्रा—निन्द धातु से रक् और टाप् तथा न का लोप करके निद्रा शब्द बनता है, जिसका अर्थ सुप्तावस्था, नींद होता है—प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः–शाकु० १.३ । शिथिलता । आँखें बन्द करना, कली की एक अवस्था । निद्रा का लक्षण साहित्यदर्पण में निम्न प्रकार से किया गया है—

चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्[2] ।।

अर्थात् परिश्रम, ग्लानि, मद (नशा) आदि से उत्पन्न चित्त के सम्मीलन (बाह्यविषयों से निवृत्ति) को निद्रा कहते हैं । इसमें जँभाई, आँख मींचना, उच्छ्वास, अँगड़ाई आदि होती है ।

अवहित्था—अव उपसर्गपूर्वक स्था धातु से क प्रत्यय और पृथोदरत्वादि से लोप करने से 'न बहिः तिष्ठति इति अवहित्था' शब्द निष्पन्न होता है । पाखण्ड, आन्तरिक भाव, गोपन आदि अर्थ होता है । तैंतीस व्यभिचारियों में से एक । जिसका लक्षण रसगङ्गाधर के अनुसार—'व्रीडादिना निमित्तेन हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम्' । साहित्यदर्पण के अनुसार—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरासक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी[3] ।।

भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण हर्षादि आकार को छिपाने का नाम अवहित्था है । इसमें किसी दूसरे (अनपेक्षित) काम की ओर प्रवृत्ति, बात बनाना, दूसरी ओर देखना आदि क्रिया होती हैं । उदाहरण के लिए कुमारसम्भव का एक श्लोक देखें—

---

१. सा० द० ३.१५६; २. वहीं–३.१५७ ।
३. वहीं–३.१५८ ।

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।

अर्थात् सप्तर्षियों ने जब व्याह की बात चलाई और शिव जी के विवाह के लिए प्रस्तुत होने की चर्चा की, तो पिता के पास नीचे गर्दन कर बैठी हुई पार्वती लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगीं । यह लीलाकमल की गणना अवहित्था का सुन्दर उदाहरण है ।

औत्सुक्य—उत्सुक से ष्यञ् प्रत्यय करने से औत्सुक्य शब्द निष्पन्न होता है । जिसका चिन्ता, बेचैनी, प्रबल इच्छा, उत्सुकता, उत्साह आदि अर्थ होता है । औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा–५.६, औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया–रत्न० १.२ । साहित्यदर्पण के अनुसार औत्सुक्य का लक्षण इस प्रकार है—

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत्[1] ।।

अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का सहन न करना औत्सुक्य कहलाता है । इससे चित्त का सन्ताप, जल्दबाजी, पसीना, दीर्घ निःश्वास आदि होते हैं ।

उन्माद—उत् उपसर्गक मद् धातु से घञ् करने से उन्माद शब्द निष्पन्न होता है । इसका पागल, विक्षिप्त, असन्तुलित, पागलपन, विक्षिप्ति आदि अर्थ होता है—अहो उन्मादः–उत्तर० ३ । तैंतीस सञ्चारीभावों में एक । जिसका लक्षण रसगङ्गाधर के अनुसार—'या विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्मान्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः' । साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत्[2] ।।

काम, शोक, भय आदि से चित्त के व्यामोह को उन्माद कहते हैं । इसमें अकारण हँसना, रोना, गाना और प्रलाप आदि होते हैं । यथा—किसी विरही की उक्ति है—

---

१. सा० द० ३.१५९; २. तदेव–३.१६० ।

भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात्
प्राधाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।

भ्रमर की गुञ्जार सुनकर आनन्दित होकर पुनः कहता है—

ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ।।

शङ्का—शङ्क धातु से अ और टाप् प्रत्यय करके शङ्का शब्द निष्पन्न होता है । सन्देह, अनिश्चितता, सङ्कल्प-विकल्प, दुविधा, अविश्वास, त्रास, आतङ्क आदि इसके अर्थ होते हैं । जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सरा प्रेषिता–शाकु० १ । कैकयीं शङ्कयैवाह–रघु० १२.२ । मिथ्या धारणा भी इसका अर्थ होता है— स्रजमपि शिरस्यन्धः धुनोत्यहिशङ्कया–शा० ७.२४ । शङ्का का लक्षण साहित्य-दर्पण के अनुसार—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैश्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्[१] ।।

अन्य की क्रूरता तथा अपने दोष आदि से अपने अनिष्ट की ऊहा का नाम शङ्का है । इसमें विवर्णता, कम्प, स्वरभङ्ग, इधर-उधर ताकना, मुख सूखना आदि होता है । यथा—

प्राणेशेन प्रतिनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ।।

स्मृति—स्मृ धातु से क्तिन् प्रत्यय करने से स्मृति शब्द निष्पन्न होता है, जिसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते[२] ।।

सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिन्तन आदि से पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण को 'स्मृति' कहते हैं । इसमें भौंह चढ़ना आदि कार्य होते हैं ।

---

१. सा० द० ३.१६१; २. वहीं–३.१६२ ।

मति—मन् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने से मति: शब्द की सिद्धि होती है । बुद्धि, समझदारी, ज्ञान, सङ्कल्प आदि अर्थ होता है—अल्पविषया मति:-रघु० १.२ । मति का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार—

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।
स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः[१] ।।

नीतिमार्ग के अनुसरण आदि से वस्तुतत्त्व के निर्धारण अर्थात् बात की तह पर पहुँचने का नाम मति है । इसमें मुस्कराहट, धैर्य, सन्तोष और अपने में बहुमान (आत्मसम्मान) होता है । मति का उदाहरण देखें—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः[२] ।।

व्याधि—वि + आङ् उपसर्गपूर्वक धा धातु से 'कि' प्रत्यय करने पर व्याधि शब्द निष्पन्न होता है, जिसका बीमारी, रोग, अस्वस्थता, प्राय: शारीरिक रोग आदि अर्थ होता है । मानसिक रोग, दु:ख, चिन्ता आदि को आधि कहते हैं । व्याधि का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्[३] ।

वात, पित्त, कफ आदि से उत्पन्न ज्वरादि को 'व्याधि' कहते हैं । इसमें पृथ्वी पर लोटने की इच्छा और कम्प आदि होते हैं । पित्तप्रधान व्याधि में भूमीच्छादिक और कफप्रधान में कम्प आदि होता है ।

व्रीडा—(व्रीड् + घञ् + व्रीड + अ + टाप्) लज्जा, व्रीडादिवाभ्यास-गतैर्विलिख्ये-शि० ३.४० । व्रीडमावहति में स (शब्द:) सम्प्रति-रघु० ११.७३ । विनय, लज्जाशीलता-शि० १०.१८ ।

धाष्टर्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात्[४] ।

निकृष्ट आचार, व्यवहार से उत्पन्न धाष्टर्याभाव का नाम व्रीडा है । इसमें सिर का नीचा होना आदि कार्य होते हैं ।

त्रास—त्रस् से घञ् प्रत्यय करने से त्रास शब्द की सिद्धि होती है । इसका लक्षण साहित्यदर्पण में लिखा है—

---

१. सा० द० ३.१६३;
२. अ० शा० १ ।
३. सा० द० ३.१६४;
४. वहीं-३.१६५ ।

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः[१] ।

वज्रनिर्घोष, बिजली, तारा टूटने आदि से चित्त की व्यग्रता का नाम त्रास है । इसमें कम्प आदि होते हैं ।

हर्ष—हृष् + घञ् प्रत्यय के योग से हर्ष शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ आनन्द, खुशी, प्रसन्नता, सन्तोष, एक सुखात्मक भाव, आनन्दातिरेक, उल्लास, आह्लाद, प्रमोद आदि होता है । हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः (प्रसन्न० १.२२), सहोत्थितैः सैनिकहर्षनिस्वनैः–रघु० ३.६१ । तैंतीस सञ्चारीभावों में एक, जिसका लक्षण साहित्यदर्पण से देखें—

हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः[२] ।

इष्ट की प्राप्ति से मन की प्रसन्नता का नाभ हर्ष है । इसमें आनन्दाश्रु और गद्गद स्वर आदि होते हैं ।

असूया—असूय् + अङ्, टाप् करके असूया शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ईर्ष्या, असहिष्णुता, डाह होता है । क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः–पा० सू० १.४.३६ । निन्दा, अपमान आदि भी इसके अर्थ होते हैं— असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम्–सिद्धा० । असूया का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार—

असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत्[३] ।।

औद्धत्य के कारण दूसरे की गुणसमृद्धि का सहन न करने को असूया कहते हैं । इसमें दोषकथन, भृकुटिभङ्ग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि होता है ।

विषाद—वि उपसर्गपूर्वक षद्लृ धातु से घञ् प्रत्यय करने से विषाद शब्द निष्पन्न होता है । जिसका लक्षण साहित्यदर्पण में दिया गया है—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्[४] ।।

उपायाभाव के कारण पुरुषार्थहीनता का नाम विषाद है । इसमें निःश्वास, उच्छ्वास, मनस्ताप और सहायान्वेषण इत्यादि कार्य होते हैं ।

---

१. सा० द० ३.१६४;
२. वहीं, ३.१६५ ।
३. वहीं, ३.१६६;
४. वहीं, ३.१६७ ।

धृति—धृ धातु से क्तिन् प्रत्यय करने से धृति शब्द निष्पन्न होता है। साहित्यदर्पण के अनुसार लक्षण इस प्रकार है—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः।
सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत्[1] ।।

तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना धृति कहलाता है। इसमें सन्तृप्तता, आनन्दपूर्ण वचनावली और मधुर स्मित तथा बुद्धिविकास होता है।

चपलता—चपल से तल् प्रत्यय करके यह बना है। इसका लक्षण साहित्यदर्पण में दिया गया है—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः[2] ।।

मत्सर, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्था का नाम चापल्य या चपलता है। इसमें दूसरों को चमकाना, कठोर शब्द बोलना और उच्छृङ्खलता अधिक होते हैं।

ग्लानि—(ग्लै + नि) अवसाद, क्लान्ति, थकावट–मनश्च ग्लानिमृच्छति–मनु० १.५३। अङ्गग्लानिसुरतजनिता–मेघ० ७०। ग्लानि का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार इस प्रकार है—

रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्[3] ।।

रति, परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि से उत्पन्न निष्प्राणता (निर्बलता) को ग्लानि कहते हैं। इसमें कम्प, काम करने में अनुत्साह आदि होते हैं।

चिन्ता—णिच् प्रत्ययान्त चिन्त धातु से अङ् और टाप् करके चिन्ता शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ चिन्तन, विचार, दुःखद या शोकपूर्ण विचार आदि अर्थ होता है—चिन्ताजडं दर्शनम्–शाकु० ४.५। विचारविमर्श या

---

१. सा० द० ३.१६८; २. वहीं–३.१६९।
३. वहीं–३.१७०।

विचारणा अर्थ में भी चिन्ता शब्द का प्रयोग देखा जाता है । साहित्यदर्पण के अनुसार चिन्ता का लक्षण देखें—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्[1] ।

हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं । इसमें शून्यता, श्वास और ताप होता है ।

वितर्क—'विशेषेण तर्क्यते इति वितर्कः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वि उपसर्गपूर्वक तर्क् धातु से अच् प्रत्यय करने पर वितर्क शब्द निष्पन्न होता है । युक्ति, दलील, अनुमान, अन्दाज, कल्पना, विश्वास आदि अर्थ होता है । शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः–कु० १.४१ । वितर्क का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार—

तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः[2] ।

सन्देह के कारण उत्पन्न विचार का नाम 'वितर्क' है । इसमें भृकुटिभङ्ग, सिर हिलाना और अङ्गुली उठाना आदि कार्य होते हैं ।

रसाभास—रसमिव आभासते इति रसाभासः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस और आभास इन दो पदों के समास से यह बना है । आ उपसर्गपूर्वक भास् धातु से घञ् करने पर आभास शब्द बनता है । रसाभास का लक्षण करते हुए काव्यप्रकाशकार ने कहा है—

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभास शब्द से रसाभास और भावाभास का ग्रहण होता है । रस तथा भावों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास और भावाभास कहलाता है । वह अनौचित्य अनेक प्रकार का हो सकता है । सहृदय पुरुषों की व्यवस्था के अनुसार ही उनका निर्णय हो सकता है, जैसे रति के विषय में ही अनौचित्य के अनेक रूप हो सकते हैं । एक स्त्री का एक पुरुष के प्रति प्रेम उचित है; परन्तु यदि एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति प्रेम का वर्णन किया जाय, तो वह अनुचित होने से रसाभास की कोटि में आयेगा, जैसा कि कहा गया है—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ।।
आभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयायाम् ।।

---

१. सा० द० ३.१७१; २. का० प्र० ४.३६ ।

इसी प्रकार गुरु आदि को आलम्बन बनाकर हास्यरस का प्रयोग, अथवा वीतराग को आलम्बन बनाकर करुण आदि का प्रयोग, माता-पिताविषयक रौद्र तथा वीररस का प्रयोग, वीर पुरुषगत भयानक का वर्णन, यज्ञीय पशु आदि को आलम्बन मानकर वीभत्स का, ऐन्द्रजालिक आदि विषयक अद्भुत और चाण्डाल आदि विषयक शान्तरस का प्रयोग भी अनुचित माना गया है, इसलिए वे सब रसाभाव के अन्तर्गत होते हैं। बहुनायकविषयक रति स्थायिभाव वाले रसाभास का उदाहरण देखें—

स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम्[1]॥

यहाँ 'स्तुमः' इत्यादि से अनुगत अनेक व्यापारों का वर्णन उस परकीया नायिका के अनेक कामुकविषयक अभिलाष को व्यक्त करता है, इसलिए यह रसाभास का उदाहरण है।

चिन्ता का अनौचित्य प्रवर्तित होने का उदाहरण—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः[2]॥

यहाँ रावण की सीता के प्रति चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तित है। अतः भावाभास है। भावाभास के इस उदाहरण में चिन्तारूपी व्यभिचारिभाव को अनौचित्यप्रवर्तित माना गया है। इसका आशय यह है कि पहले स्त्री के अनुराग का वर्णन होना चाहिए। यह कामशास्त्र तथा कविसम्प्रदाय का नियम है; परन्तु यहाँ पहले पुरुषानुराग का वर्णन किया गया है। इसलिए अननुरक्ता सीता के प्रति यह चिन्ता का प्रदर्शन अनौचित्यमय है। अतः यह भावाभास का उदाहरण है।

भावशान्ति—भावस्य शान्तिः भावशान्तिः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ किसी व्यभिचारीभाव का उपशम प्रतीत हो रहा हो, उसे भावशान्ति

---

१. का० प्र० ४.४८; २. वहीं, ४.४९।

कहते हैं। भावसन्धि, भावशबलता आदि भी माना गया है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा[१] ।

भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावों की सन्धि तथा भावशबलता ये चार भावों के साथ गिने जाते हैं। भावशान्ति का उदाहरण—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमाष्टुं मया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम्[२] ।।

यह श्लोक 'अमरुशतक' से लिया गया है। इसमें कोई शठ नायक अपनी पत्नी की कोपशान्ति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है। यहाँ कोप-रूप भाव की शान्ति प्रदर्शित की गयी है। इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को भी समझना चाहिए। जहाँ एक भाव को दबाकर दूसरे भाव का उदय होता है, वह भावोदय कहलाता है। यद्यपि उसमें भाव की शान्ति भी लक्षित होती है; परन्तु प्रधानरूप से उदय की अभिव्यक्ति होने से भावोदय कहलाता है। जहाँ केवल दो भावों का योग होता है, वहाँ भावसन्धि मानी जाती है और जहाँ दो से अधिक भावों का योग होता है, वहाँ भाव-शबलता मानी जाती है।

अविवक्षितवाच्य—न विवक्षितः अविवक्षितः, (न० त०) अनभिप्रेत, अनुद्दिष्ट, जो बोलने या कहने के लिए न हो। वच् धातु से ण्यत् करके वाच्य शब्द बना है। अविवक्षितः वाच्यः यत्र सः अविवक्षितवाच्यः। काव्यप्रकाश आदि काव्यशास्त्रों में ध्वनि के भेदोपभेद का बहुत अधिक विस्तार हुआ है; परन्तु उसके मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितवाच्य ध्वनि। अविवक्षितवाच्य ध्वनि का दूसरा नाम लक्षणामूल ध्वनि तथा विवक्षित-वाच्य ध्वनि का दूसरा नाम अभिधामूल ध्वनि भी है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता है, वहाँ वक्ता का तात्पर्य लक्ष्य अर्थ के प्रतिपादन करने में ही होता है। इसलिए उसका नाम 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' रखा गया है। इसके भी फिर दो अवान्तर भेद होते हैं। एक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और

---

१. का० प्र० ३.३६; २. तदेव-४.५० ।

दूसरा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अन्योऽर्थ: अर्थान्तर:, अर्थान्तरे सङ्क्रमित: वाच्यो यत्र स: अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य: । जहाँ वाच्यार्थ का सीधा वाच्यतावच्छेदकरूप से अन्वय नहीं बनता है, वहाँ शब्द अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर स्वसम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित कराता है, वहाँ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि होता है । जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्[1] ।।

यह अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान् की उक्ति है । 'देख मैं तुमसे कहता हूँ' यहाँ वक्ता और श्रोता दोनों एक-दूसरे के सामने उपस्थित हैं, इसलिए 'त्वां वच्मि' पदों का प्रयोग किये विना भी बात कही जा सकती थी । अत: 'त्वाम्' पद का प्रयोग अन्यों से व्यावृत्त कर उस शिष्य की विशेषता को सूचित करता है । फिर वह विशेषता चाहे विशेष कृपापात्रतारूप हो अथवा शिष्य की अनुभवहीनता आदि रूप हो । इसी प्रकार 'वच्मि' इस क्रिया पद से उसके कर्त्ता 'अहम्' का ज्ञान हो सकता था, इसलिए विशेषता से 'अस्मि' अर्थात् 'अहम्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी; परन्तु 'अस्मि' या 'अहम्' पद कहने वाले की विशेष हितभावना और अनुभवहीनता आदि को व्यक्त करता है । इसी प्रकार 'वच्मि' पद साधारण अर्थ को छोड़कर 'उपदेश' करता हूँ—इस विशेष अर्थ का बोधन करता है । इस प्रकार इस श्लोक के पद अपने वाच्यार्थ के अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर से सङ्क्रमित हो जाते हैं । इसलिए यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है ।

अवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनि का दूसरा भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि होता है । अत्यन्तं तिरस्कृत: वाच्य: यत्र स: अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य:, एवम्भूत: ध्वनि: अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि: (व० स०) । कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है, इसलिए उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं । जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत: शरदां शतम्[2] ।।

---

१. का० प्र० ४.३२; २. तदेव-४.२४ ।

जिस व्यक्ति के साथ उसके किसी मित्र ने अत्यन्त अपकार किया है, उस अपकारी मित्र के प्रति उस सताये गये अर्थात् अपकृत व्यक्ति की यह उक्ति है। उसमें 'उपकृतम्' आदि शब्दों के मुख्य अर्थ की कोई भी सङ्गति नहीं लग सकती है। इसलिए विपरीत-लक्षणा अर्थात् वैपरीत्य-सम्बन्धमूलक लक्षणा से उन शब्दों का एकदम उलटा अर्थ हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृतम्' आदि शब्द 'अपकृत' आदि अर्थ के बोधक बन जाते हैं। तब उस विपरीत लक्षणा से इस श्लोक का अर्थ बदलकर निम्नलिखित प्रकार का हो जाता है—

तुमने बड़ा धोखा दिया, बड़ा अपकार किया है, उसकी जहाँ तक निन्दा की जाय, थोड़ी है। तुमने वास्तव में अत्यन्त दुष्टता का परिचय दिया है। अरे मित्रद्रोही, अपकार करने वाले, तुम्हारे जैसा व्यक्ति जितनी जल्दी इस संसार को छोड़ दे, उतना ही अच्छा है।

विवक्षितान्यपरवाच्य—विवक्षत: अन्यपरश्च वाच्य: यत्र स: विवक्षितान्यपर-वाच्य: (बहु० स०)। जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित अर्थात् वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वययोग्य होने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है, वह ध्वनिकाव्य का अभिधामूल ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि नामक दूसरा भेद होता है। इस 'अभिधामूल' या 'विवक्षितवाच्य' ध्वनि के भी पहले असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद होते हैं, जिनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि को कहते हैं। इसके यदि अवान्तर भेद किये जाँय, तो उनकी गणना करना ही कठिन हो जायेगा। इसलिए असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों का अधिक विस्तार न करके गणना के लिए उसका एक ही भेद रसरूप मान लिया गया है। दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेद के फिर १. शब्दशक्त्युत्थ, २. अर्थशक्त्युत्थ और ३. उभयशक्त्युत्थ—इस प्रकार तीन अवान्तर उपभेद किये गये हैं। इनमें से शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के फिर वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि रूप दो अवान्तर उपभेद, अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह अवान्तर उपभेद तथा उभयशक्त्युत्थ का एक भेद कुल पन्द्रह संलक्ष्यक्रम के और एक असंलक्ष्यक्रम का मिलकर अभिधामूल ध्वनि के १६ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य अर्थात् 'लक्षणामूल' ध्वनि के दो भेद और विवक्षितवाच्य या अभिधामूल ध्वनि के १६, कुल मिलाकर ध्वनि के २+१६=१८ भेद होते हैं। इनके भी अवान्तर भेद होते हैं, जिनकी संख्या १०४५५ हो जाती है। जिज्ञासानिवृत्ति के लिए साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

शृङ्गार—(शृङ्गं कामोद्रेकमृच्छत्यनेन ऋ + अण्) प्रणय-रस, कामोन्माद, रतिरस आदि इसके अर्थ हैं । शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति–गीत. १ । इसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

पुंसः स्त्रियां स्त्रियाः पुंसि सम्भोगं प्रति या स्पृहा ।
स शृङ्गार इति ख्यातः क्रीडारत्यादिकारकः ।।

काव्यशास्त्र के नव रसों में एक शृङ्गार है । इसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है ।

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते[१] ।।

कामदेव के उद्भेद (अङ्कुरित होने) को शृङ्ग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृङ्गार कहलाता है । परस्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के 'आलम्बन' विभाव माने जाते हैं । चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके 'उद्दीपन' विभाव होते हैं । उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेद आदि इसके सञ्चारीभाव होते हैं । इसका स्थायिभाव 'रति' है और वर्ण श्याम तथा इसके देवता विष्णु हैं । जैसा कि कहा गया है—

स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः[२] ।

विप्रलम्भ और सम्भोग ये दो शृङ्गाररस के भेद हैं । आचार्य मम्मट ने विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शापरूप प्रकार के हेतुओं से होने के कारण पाँच प्रकार का माना है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विप्रलम्भ को पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण इन भेदों से चार प्रकार का माना है । अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति (मरण) ये दश कामदशाएँ विप्रलम्भ शृङ्गार में होती हैं । इनमें इच्छा का नाम **'अभिलाष'** है । प्राप्ति के उपाय आदि की खोज का नाम **'चिन्ता'** है । जड़, चेतन का विवेक न रहना **'उन्माद'** कहलाता है । चित्त के बहकने से उत्पन्न अटपटी बातों को **'प्रलाप'** कहते हैं । दीर्घ श्वास पाण्डुता, दुर्बलता आदि **'व्याधि'** होती है । अङ्गों तथा मन के चेष्टाशून्य होने का नाम **'जड़ता'** है । प्राणशून्यता को **'मरण'** कहते हैं । यद्यपि रस का विच्छेदक होने

---

१. सा० द० ३.१८३; २. सा० द० ३.१८६ ।

से मरण का वर्णन नहीं किया जाता, तथापि मरणतुल्य दशा का वर्णन कर दिया जाता है। अथवा चित्त से आकांक्षित मरण का भी वर्णन कर देना चाहिए। यदि शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो, तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं। जैसे कादम्बरी में महाश्वेता-पुण्डरीक के वृत्तान्त में पुण्डरीक का मरण-वर्णन किया है और फिर प्रत्युज्जीवन दिखाया गया है। विप्रलम्भ के विषय में कहा गया है—

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते[1] ।।

प्रधान रङ्ग में रँगने से पहले किसी दूसरी चीज में जो उस रङ्ग के अनुकूल हो, कपड़े के रँगने की प्रथा है। यह इसलिए किया जाता है कि प्रधान रङ्ग अच्छा चढ़े और पक्का हो। बहुत से रङ्गों में रँगने से पहले अनार के छिलकों के काढ़े में कपड़े को भिगोते हैं। इसी को **'कषायित'** कहते हैं। जिस प्रकार कषायित करने के बाद रंग में स्वच्छता आ जाती है, उसी प्रकार मान, ईर्ष्या, प्रवास आदि जन्य वियोग के पीछे सम्भोग श्रृङ्गार में भी चमत्कार-विशेष आ जाता है।

हाथी के शरीर पर बनाये गये सिन्दूर आदि के निशान को भी श्रृङ्गार कहते हैं।

हास्य—हस् से ण्यत् करने पर हास्य पद की सिद्धि होती है। जिसका हँसने योग्य, हास्यास्पद, हँसी, खुशी, मनोरञ्जन, क्रीडा आदि अर्थ होता है। काव्य में वर्णित हास्य रस, जिसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभाव श्वेतः प्रमथदैवतः[2] ।।

विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नाट्य से हास्यरस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायिभाव 'हास' है। वर्ण शुक्ल और अधिष्ठातृ देवता प्रमथ (शिव के गण) हैं। जिसकी विकृत आकृति, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि को देखकर सामाजिक हँसें, वह वहाँ आलम्बन और उसकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। नेत्रों का मुकुलित होना और वदन का विकसित

---

१. सा० द० ३.२१३ वृत्ति; २. वहीं, ३.२१४।

होना इस रस के अनुभाव होते हैं और निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं ।

हास्य के छ: भेद बताते हैं । बड़े आदमियों में 'स्मित' और **'हसित'** होते हैं । मध्यम श्रेणी के लोगों में **'विहसित'** और **'अवहसित'** हुआ करते हैं । नीच पुरुषों में **अपहसित** और **अतिहसित** होते हैं । अत: इन हसन क्रियाओं के भेद से हास्य भी छ: भेदों में विभक्त होता है । इनकी परिभाषा साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम् ।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ।।
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्[१] ।।

अर्थात् नेत्रों में कुछ विकास हो और ओष्ठ जरा-जरा फड़के, वह **'स्मित'** कहलाता है । यदि उक्त क्रियाओं के साथ दाँत भी कुछ दीखने लगे, तो उसे **'हसित'** कहते हैं । इन सबके साथ मधुर शब्द भी हो, तो **'विहसित'** होता है । यदि कन्धे, सिर आदि में कँपकँपी भी हो, तो **'अवहसित'** कहलाता है । जिससे आँखों में पानी भी आ जाय, वह **'अपहसित'** और जिसमें इधर-उधर हाथ-पैर भी पटके जाँय, वह **'अतिहसित'** होता है ।

करुण—'करोति मन: आनुकूल्याय' इस व्युत्पत्ति से कृ धातु में 'उनम्' प्रत्यय करने पर करुण शब्द निष्पन्न होता है, जिसके अर्थ कोमल, मार्मिक, दयनीय, करुणाजनक, शोचनीय आदि होते हैं । दया, अनुकम्पा, दयालुता भी इसके अर्थ होते हैं । साहित्य के नव रसों में एक–**पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः**–उत्तर० ३.१ । विप्रलम्भ का एक भेद भी करुण होता है, जिसे करुणविप्रलम्भ कहते हैं । जिसका लक्षण करते हुए साहित्यदर्पण में कहा गया है—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः[२] ।।

अर्थात् नायक या नायिका में एक के मर जाने पर दूसरा जो दु:खी होता है, उस अवस्था को **'करुणविप्रलम्भ'** कहते हैं; परन्तु वह तभी होता

१. सा० द० ३.२१८-२१९; २. तदेव–३.२०९ ।

है, जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में देह से फिर मिलने की आशा हो। जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त। यदि फिर मिलने की आशा टूट जाय अथवा जन्मान्तर में मिलने की आशा हो, तब तो **'करुणरस'** ही होता है। करुणरस का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम्।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः[१] **।।**

अर्थात् इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुणरस आविर्भूत होता है। वह कपोतवर्ण का होता है। इसके देवता यमराज हैं। इसमें स्थायीभाव शोक होता है और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं एवं उसका दाहकर्म आदि उद्दीपन होता है। प्रारब्ध की निन्दा, भूमिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ और प्रताप इस रस में अनुभाव होते हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं।

रौद्र—रोदिति इति रुद्रः-रुद् से रक् प्रत्यय करके रुद्र शब्द बनता है, जिसका भयानक, भयङ्कर, डरावना, भीषण आदि अर्थ होता है। रुद्र से अण् प्रत्यय करने पर रौद्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ रुद्र जैसा प्रचण्ड, चिड़चिड़ा, गुस्सैल, सरगर्मी, जोश, मन्यु या भीषणता का मनोभाव होता है। रौद्र एक रस है, जिसका लक्षण करते हुए साहित्यदर्पण में कहा गया है—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्[२] **।।**

रौद्र रस क्रोध स्थायिभाव होता है। इसका वर्ण लाल तथा देवता रुद्र हैं। इसमें आलम्बन शत्रु होता है। उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन होती हैं। मुक्का मारने, गिराने, बुरी तरह काटने, फाड़ देने, युद्ध करने के लिए बेताब होने आदि के वर्णन से रौद्ररस की खूब प्रदीप्ति होती है। भृकुटि-भङ्ग, ओठ चबाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कामों (वीरता) की बड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, वेपथु और मद ये इस रस के

---

१. सा०द० ३.२२२-२२३; २. तदेव-३.२२७।

अनुभाव होते हैं । आक्षेप करना, क्रूरता से देखना, मोह और अमर्ष इसके व्यभिचारी होते हैं ।

वीर—(अर्जः रक् वीभावश्च) शूर, वीर, ताकतवर, शक्तिशाली आदि इसके अर्थ होते हैं । साहित्य में वीररस माना गया है ।

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः[1] ।।

उत्तम पात्र (राम आदि) में आश्रित वीररस होता है । इसका स्थायिभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण के सदृश होता है । इसमें जीतने योग्य रावणादि आलम्बन विभाव, उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन होते हैं । युद्ध के सहायक धनुष आदि, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्चादि इसके सञ्चारीभाव हैं । दान, धर्म, दया और युद्ध के कारण यह वीर चार प्रकार का होता है—१. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. दयावीर और ४. युद्धवीर ।

दानवीर, जैसे—परशुराम—

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः ।

धर्मवीर, जैसे—युधिष्ठिर—

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये ।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम् ।।

युद्धवीर, यथा—रामचन्द्र—

भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजां रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम् ।
नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्क्तिः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ।।

दयावीर, यथा—जीमूतवाहन—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तथापि तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ।।

---

१. सा० द०, ३.२२२-२२३ ।

रौद्ररस में नेत्र और मुख क्रोध के मारे लाल हो जाता है, वीररस में नहीं; क्योंकि वहाँ उत्साह ही स्थायीभाव होता है। यही इन दोनों रसों का परस्पर भेद है।

भयानक—बिभेत्यस्मादिति, भी धातु से आनक प्रत्यय करने से भयानक शब्द निष्पन्न होता है। डरावना, भयङ्कर आदि इसके अर्थ होते हैं। साहित्य में भयानक एक रस है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः ।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः[१] ।।

भयानक रस का स्थायीभाव भय है। देवता काल, वर्ण कृष्ण और इसके आश्रयपात्र स्त्री तथा नीच पुरुष आदि होते हैं। जिससे भय उत्पन्न हो, वह (सिंहादि) इसमें आलम्बन और उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन मानी जाती हैं। विवर्णता, गद्गद भाषण, प्रलय (मूर्च्छा), स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और इधर-उधर ताकना आदि इसके अनुभाव होते हैं। जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रम तथा मृत्यु आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं।

वीभत्स—वीभत्स एक रस है, जिसका स्थायीभाव जुगुप्सा, वर्ण नील और देवता महाकाल हैं। दुर्गन्धयुक्त मांस, रुधिर, चर्वी आदि इसके आलम्बन होते हैं और उन्हीं में कीड़े पड़ जाना आदि उद्दीपन होता है। थूकना, मुँह फेर लेना, आँख भींचना आदि इसके अनुभाव होते हैं। मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरण आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं।

अद्भुत—अद् भू डूतच् प्रत्यय के योग से अथवा न भूतमिति इस व्युत्पत्ति से अद्भुत शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ आश्चर्यजनक, विचित्र, अलौकिक आदि होता है। यह साहित्य के नव रसों में से एक है, जिसका परिचयात्मक विवरण इस प्रकार दिया गया है—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्[२] ।।

---

१. सा० द०, ३.२३५; २. तदेव-३.२४२-२४३ ।

अद्भुत रस का स्थायिभाव विस्मय, देवता गन्धर्व और वर्ण पीत है। अलौकिक वस्तु इसका 'आलम्बन' और उसके गुणों का वर्णन उद्दीपन होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, सम्भ्रम और नेत्रविकास आदि इसके अनुभाव होते हैं। वितर्क, आवेग, भ्रान्ति, हर्ष आदि इसके व्यभिचारी होते हैं।

शान्त—शम् से क्त प्रत्यय करने पर शान्त शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ प्रसन्न किया हुआ, दमन किया हुआ, धीरज दिलाया हुआ, सन्तुष्ट किया हुआ होता है। शान्त को काव्य में नवम रस माना गया है। जैसा कि काव्यप्रकाश में कहा गया है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[१]।

शान्त को परिभाषित करते हुए साहित्यदर्पण की उक्ति है—

शान्तः शमस्थायिभावः उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः॥
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या[२]॥

अर्थात् शान्तरस का स्थायीभाव शम, आश्रय उत्तमपात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं। अनित्यत्व, दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में आलम्बन होता है। ऋषि आदिकों के पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन तथा महात्माओं का सङ्ग आदि उद्दीपन-विभाव होते हैं। रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके सञ्चारिभाव होते हैं।

वात्सल्य—'वत्सलस्य भावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वत्सल से ष्यञ् प्रत्यय करके वात्सल्य शब्द निष्पन्न होता है। विश्वनाथ आदि कुछ साहित्याचार्यों ने इसको दशम रस के रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्[३]॥

---

१. का० प्र० ४.३५;   २. सा० द० ३.२४५-२४६।
३. तदेव-२.२५१।

प्रकट चमत्कारक होने के कारण कुछ लोग वत्सलरस भी मानते हैं । इसमें वात्सल्य, स्नेह स्थायीभाव होता है । पुत्रादि इसका आलम्बन, उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन-विभाव होते हैं । आलिङ्गन अङ्ग-स्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव होते हैं । अनिष्ट की आशङ्का, हर्ष, गर्व आदि सञ्चारीभाव हैं । इसका वर्ण कमलगर्भ के समान और ब्राह्मी आदि मातायें इसकी अधिष्ठात्री देवता हैं । इसके उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है—

कबहूँ शशि माँगत आरि करैं,
कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत,
मातु सबे मन मोद भरैं ।
कबहूँ रिसियाई कहैं हठि कै
पुनि लेत वहीं जेहि लागि अरैं ।
अवधेश के बालक चारि सदा
तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं[1] ।।

किन्तु अधिकांश साहित्यशास्त्र के आचार्य भक्ति और वात्सल्य इन दोनों को अलग रस नहीं मानते; क्योंकि उनके आधारभूत स्थायिभाव कोई मौलिक स्थायिभाव नहीं हैं । वे सब स्नेह के ही रूपान्तरमात्र हैं । विभिन्नलिङ्गिक और समवयस्क व्यक्तियों का परस्पर स्नेह **'रति'** कहलाता है । उत्तम या बड़े का छोटे के प्रति स्नेह **'वात्सल्य'** और छोटे का बड़े के प्रति स्नेह **'भक्ति'** या **'श्रद्धा'** कहलाता है । इसी प्रकार समलिङ्ग या समवयस्क व्यक्तियों का स्नेह **'मैत्री'** और चेतन का अचेतन के प्रति स्नेह **'लोभ'** कहलाता है । यह सब रति के ही नामान्तर हैं । अलग तात्त्विक मूल स्थायिभाव नहीं हैं । इसलिए साहित्यशास्त्रियों ने **'भक्ति'** तथा **'वात्सल्य'** को अलग रस नहीं माना है । अपितु उनकी गणना भावों में की है । देवादिविषयक रति को **'भाव'** कहते हैं ।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारि तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः ....[2] ।।

---

१. तुलसीदास, कवितावली ;		२. का० प्र० ४.३५ ।

आदि शब्द से गुरु, देवता, नृप, पुत्र आदि विषयक रति का संग्रह होता है। इसलिए साहित्यशास्त्र के अनुसार 'भक्ति' एवं 'वात्सल्य' दोनों भाव हैं, रस नहीं। उनको 'भक्ति-भाव' तथा 'वात्सल्य-भाव' कहना चाहिए, रस नहीं।

देवानां प्रियः—देवताओं का प्रिय, यह शाब्दिक अर्थ है; किन्तु 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे' इस वार्तिक के अनुसार यद्यपि संस्कृत-साहित्य में यह शब्द मूर्ख अर्थ में रूढ़ हो गया है, फिर भी वह सदा से इस गर्हित अर्थ का बोधक नहीं रहा है। उसके पीछे एक इतिहास है। 'देवानां प्रियः' का सीधा अर्थ देवताओं का प्रिय है, इसी सुन्दर अर्थ के कारण बौद्धमतानुयायी सम्राट् अशोक ने अपने नाम के आगे उपाधिरूप से इसका प्रयोग प्रारम्भ किया था। पर बाद में धार्मिक विद्वेषवश इस शब्द का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया जाने लगा। 'देवानां प्रिय इति च मूर्खे' लिखकर वार्तिककार ने उस शब्द को मूर्ख अर्थ में रूढ़ कर दिया है। इसी अर्थ में आचार्य मम्मट ने भट्टलोल्लट आदि के लिए 'देवानां प्रियः' इस विशेषण का प्रयोग किया है—तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः[१]।

इसी प्रकार की दशा 'असुर' शब्द की भी हुई है। 'असुर' शब्द ऋग्वेद में परमात्मा के नाम या विशेषण के रूप में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म से निकली हुई आर्यों की दूसरी शाखा पारसी धर्म के नाम से कही जाती है, उसके धर्मग्रन्थों में परमात्मा को 'महान् असुर' 'अहुरमज्द' नाम से कहा गया है; परन्तु बाद में इस शब्द का प्रयोग कुत्सित अर्थ में पाया जाता है। संस्कृत-साहित्य के बहुत बड़े भाग में 'असुर' शब्द राक्षस अर्थ का वाचक हो गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'असुर' शब्द के इस अर्थभेद का कारण धार्मिक विद्वेष ही है।

दोष—दुष् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर दोष शब्द निष्पन्न होता है, जिसका त्रुटि, धब्बा, निन्दा, कमी, लांछन, लचर, दलील आदि अर्थ होता है—'पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्' भर्तृ० २.९३। नात्र कुलपतिर्दोषं ग्रहीष्यति–शा० ३। बुरा फल, अनिष्टकारी फल, बाधक प्रभाव भी दोष शब्द का अर्थ होता है, जैसे—तत्किमयमातपदोषः स्यात्–शा० ३। अदाता वंशदोषेण कर्मदोषात्—चाण० ४८। विकृत व्याधि, रोग भी इसका

---

१. का० प्र० पृ० २३०।

अर्थ है । शरीर के तीनों दोषों का कुपित होना त्रिदोषकोप कहलाता है । न्याय में परिभाषा का दोष–अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव कहलाता है । अलङ्कारशास्त्र में रचना का एक दोष-पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, रसदोष और अर्थदोष है । दोष की परिभाषा करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है—

मुख्यार्थहतिदोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः[१] ।।

अर्थात् मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है, उसको दोष कहते हैं । मुख्यार्थ पद का अभिप्राय यहाँ वाच्यार्थ नहीं है, अपितु रस है । इसलिए मुख्यतः रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं । इसीलिए साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने कहा है—

'रसापकर्षका दोषाः'[२] ।

अर्थात् रस के अपकर्ष, रस की हीनता या विच्छेद के कारण को दोष कहते हैं । 'दूषयति काव्यमिति दोषः'–जो काव्य को दूषित करे, वह दोष है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रुतिकटुतादिकों को दोष कहते हैं । 'रस्यते आस्वा-द्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ रस शब्द से रस के अतिरिक्त रसा-भास, भाव और भावाभास आदि भी गृहीत होते हैं । रस का अपकर्ष तीन प्रकार से होता है—एक तो रस की प्रतीति अर्थात् रसास्वाद के रुक जाने से, दूसरे रस की उत्कृष्टता के विघातक किसी वस्तु के बीच में पड़ जाने से, तीसरे रसास्वाद में विलम्ब करने वाले कारणों के उपस्थित होने से । इनमें से कोई लक्षण जिसमें मिले, वही दोष कहलाता है । पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस में रहने के कारण दोष पाँच प्रकार के माने गये हैं । दुःश्रवत्व, तीन प्रकार की अश्लीलता, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व, सन्दिग्धत्व, नेयार्थत्व, निहतार्थत्व, अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारित्व, अविमृष्टविधेयांशत्व आदि पदगत दोष हैं । इनका लक्षण सम्बन्धित ग्रन्थों में देखना चाहिए । इसी प्रकार अन्य भेदों के भी अवान्तर भेद गिनाये गये हैं । उन्हें भी वहीं देखना चाहिए ।

कविता हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह दोषों से मुक्त हो । यही कारण है कि आलङ्कारिकों ने दोष-परिहार के लिए

---

१. का० प्र० ७.४९; २. सा० द० ७.१ ।

अत्यधिक सतर्कता का आग्रह किया है। दण्डी ने कहा है कि जिस प्रकार सुन्दर से सुन्दर शरीर श्वेत कुष्ठ के एक दाग से भी अपनी कमनीयता खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य कितना भी रमणीय क्यों न हो, पर उसका उत्कर्ष थोड़े-से दोष से भी नष्ट हो जाता है। अत: दोष की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि स्वित्रेणैकेन दुर्भगम्[१] ।।

भामह ने एक कदम और आगे बढ़कर कहा कि एक भी सदोष शब्द का प्रयोग न हो, इसका सब प्रकार से ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि दोषयुक्त काव्य कुपुत्र के समान निन्दा का कारण बनता है—

सर्वथा पदमप्येकं न निगद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मया हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते[२] ।।

वाग्भट (प्रथम) ने गुण, अलङ्कार आदि के निरूपण के पूर्व दोष का ही निरूपण किया और उसके लिए शर्त दिया कि केवल दोषहीन काव्य ही कीर्ति को देने वाला है। यही नहीं, वह स्वर्ग की सोपानपरम्परा भी है। अत: दोषों का परिहार सर्वथा आवश्यक समझकर मैं आरम्भ में उन्हीं का उल्लेख करता हूँ—

अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे[३] ।।

उपर्युक्त अध्ययन से लगता है कि जैसे-जैसे काव्य के आन्तरिक तत्त्वों का परिज्ञान होता गया, वैसे-वैसे दोषों के निरूपण में भी सूक्ष्मता आती गयी और तब दोष केवल शब्द, अर्थ तक सीमित न रहकर रससापेक्ष बन गये। फिर तो ऐसी स्थिति आयी कि शब्द और अर्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया, वे रस व्यञ्जक मात्र रह गये और उनके गुण-दोष का विवेचन भी इसी दृष्टि से होने लगा कि वे कहाँ तक रसानुभूति में साधक या बाधक हैं।

गुण—गुण् से अच् करने पर गुण शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ स्वभाव, धर्म, अच्छी विशेषता, विशिष्टता, उत्कर्ष, श्रेष्ठता आदि होता है।

---

१. का० द० १.६; २. काव्यालङ्कार-१.११।
३. का० लं० २.५।

कतमे ते गुणाः–या० १, रघु० १.२२ । साधुत्वे तस्य को गुणः–पञ्च० ४.१०८ । धागा, डोरी रस्सीमेखलागुणैः–कु० ४.८ । यतः परेषां गुणग्रहीतासि (यहाँ गुण का अर्थ विशिष्टता भी है) । धनुष की डोरी–गुणकृत्ये धनुषि नियोजिता–कु० ४.१५ । कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्–रघु० ४.५४ । विशेषता, सब पदार्थों का धर्म या लक्षण, वैशेषिक के सात पदार्थों में से एक, वहाँ गुणों की संख्या २४ है । प्रकृति का अवयव या उपादान समस्त रचित वस्तुओं से सम्बद्ध तीन गुणों में से एक (गुणों में से कोई एक) । ये हैं–सत्, रजस् और तमस् । गुणत्रयविभागाय–कु० २.४ । इन्द्रियजन्य विषय को भी गुण कहते हैं, ये हैं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द । आवृत्ति, गुणा संख्याओं के बाद समास के अन्त में लगकर प्रायः 'तह' या गुणा या बार प्रकट करता है । जैसे—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः[१] ।।

व्याकरणशास्त्र में अ, ए, ओ को गुण कहा गया है–'अदेङ् गुणः' (पा० सू० १.१.२) । अलङ्कारशास्त्र में रस का अन्तर्निहित धर्म गुण कहा गया है । जैसे कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः[२] ।।

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत प्रधानरस जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं । इसके अनुसार गुण के लक्षण में रसोत्सर्षकत्व तथा रसनिष्ठत्व ये दो धर्म समाविष्ट हो जाते हैं । इसलिए १. 'रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम्' और २. 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वम्', ये दोनों गुण के लक्षण बनते हैं ।

वामन, दण्डी, पण्डितराज जगन्नाथ तथा अन्य विद्वान् गुणों को शब्द तथा अर्थ दोनों का धर्म समझते हैं तथा प्रत्येक का दश-दश प्रकार बतलाते हैं; परन्तु मम्मट केवल तीन गुण मानते हैं और दूसरों के विचारों की समालोचना के पश्चात् कहते हैं—

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश[३] ।

---

१. चाण० ७८; २. का० प्र० ८.६६ ।
३. वहीं, ८.६८ ।

आचार्य भामह ने प्रत्येक गुण के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य को यथासम्भव देखने की चेष्टा की है। वे तीन गुणों का निर्देश करने वाले प्रथम आचार्य हैं। भामह के पूर्ववर्ती भरत ने दश गुण माने थे, उत्तरवर्ती दण्डी ने १०, वामन ने बीस और भोज ने ४८ गुणों की संख्या बतलायी है। गुणों की यह संख्या-वृद्धि प्रायः यादृच्छिक थी, उसमें तर्क और युक्ति का अभाव था। आनन्दवर्धन और मम्मट ने काट-छाँटकर उसे अधिक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया। भामह ने युक्तिपूर्वक अपना पक्ष भले ही प्रस्तुत नहीं किया है, पर गुणों की संख्या को तीन तक ही सीमित रखने में वे निश्चय ही आनन्दवर्धन के अग्रगामी ठहरते हैं। यदि ऐसा उन्होंने समझ-बूझकर क्रिया है, तो निस्सन्देह बहुत बड़े महत्त्व के भागी हैं। यह ऐसी विशेषता है, जो किसी भी अध्येता का ध्यान आकृष्ट किये विना नहीं रह सकती। नारायण वनहट्टी[1] और वी० राघवन[2] ने इस सम्बन्ध में यह कल्पना की है कि अलङ्कारशास्त्र के विभिन्न स्वतन्त्र सम्प्रदाय चल रहे थे, उनमें एक का अनुगमन भामह ने किया, जिसमें गुणों की संख्या तीन थी और दूसरे का भरत, दण्डी आदि ने, जिसमें गुणों की संख्या दश थी। वनहट्टी ने इन्हें क्रमशः काश्मीर और वैदर्भ सम्प्रदाय कहा है। यह कल्पना असंगत नहीं जान पड़ती।

गुण शब्द का भामह ने एक अन्य जगह भी प्रयोग किया है। भाविक अलङ्कार की चर्चा करते हुए उन्होंने उसे प्रबन्धविषयक गुण माना है। जैसे कि उन्होंने कहा है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्[3]।

भाविक का गुण किसी आलङ्कारिक ने नहीं माना है। स्वयं भामह ने भी उसका निरूपण अलङ्कारों के प्रकरण में ही किया है। अन्तर यही है कि जहाँ और आलङ्कारिकों ने भाविक की स्थिति स्फुट पद्यों में मानी है, वहाँ भामह ने प्रबन्धगत भाविक का लक्षण किया है—भूत या भावि वस्तु का प्रत्यक्षायमाणत्व, जो किसी एक पद्य में भी हो सकता है और प्रबन्ध में भी। यहाँ गुण का प्रयोग वैशिष्ट्य के अर्थ में है, गुण के पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

व्याकरण और मीमांसा में शब्दसमूह का अर्थ, धर्म या गुण माना जाता है। वैयाकरण पदार्थ के चार प्रकार मानते हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य।

---

१. काव्यालङ्कारसारसंग्रह की भूमिका, पृ० ३२; २. शृङ्गारप्रकाश, पृ० २९३।
३. का० लं० ३.५३।

इन अर्थों का चल: और डित्थ: उदाहरण देते हैं । अन्यान्य शास्त्रों में गुण का अन्यान्य अर्थों में प्रयोग मिलता है ।

रीति—रीङ् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर रीति शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका शाब्दिक अर्थ हिलना, डुलना, बहना, गतिक्रम, धारा, रेखा, सीमा, प्रणाली, ढंग, तरीका, मार्ग, शैली, विद्या, प्रक्रिया होता है । शैली को रीति कहते हैं । पदों के मेल या संगठन को रीति कहते हैं । वह अङ्गसंस्थान की तरह मानी जाती है । जैसे पुरुषों के देह का संगठन होता है, उसी प्रकार काव्यों के देह को रीति कहते हैं । यह काव्य के आत्मभूत रस, भाव आदि की उपकरण होती है । जिस पुरुष या स्त्री की शरीररचना देखने से सुकुमारता अथवा क्रूरता, कठिनता आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है और उससे उस देहधारी की विशेषता का बोध होता है, इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जन के द्वारा रसों का उपकार (उत्कर्ष) होता है । वह रीति चार प्रकार की होती है । जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा[१] ।।

वह रीति चार प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी ।

भोज ने 'रीति' शब्द की निष्पत्ति गमनार्थक 'रीङ्' धातु से बतायी है । तात्पर्य है कि जिससे जाया जाय या चला जाय, वह रीति है । जैसे कि उन्होंने कहा है—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते[२] ।।

इस प्रकार रीति शब्द मार्ग का पर्याय है । रीति को लोकप्रिय बनाने का श्रेय आचार्य वामन को है, अन्यथा उनके पहले रीति के बदले प्राय: मार्ग का ही प्रयोग देखा जाता है ।

भामह ने न तो रीति शब्द का प्रयोग किया है, न मार्ग का । वस्तुत: उन्होंने इस तत्त्व को कोई मान्यता भी नहीं दी है । बल्कि जो लोग इस आधार पर काव्य को विभिन्न वर्गों में रखते हैं, उनका उन्होंने 'अमेध' (बुद्धिहीन) कह-

---

१. सा० द० ९.१; २. स० क० २.५२ ।

कर उपहास किया है। भामह कहते हैं कि अमुक काव्य वैदर्भ होने से श्रेष्ठ है और अमुक गौडीय होने से हीन—ऐसा कहना गतानुगतिकता मात्र है। नाम से क्या हो जाता है। वैदर्भ नाम से अभिहित होने वाला काव्य भी हीन हो सकता है और गौडीय में भी उत्कृष्टता रह सकती है। यदृच्छा से उद्भावित नाम काव्य के उत्कर्षापकर्ष के विधायक नहीं हो सकते। वैदर्भकाव्य में स्पष्टता, ऋजुता, कोमलता हो ही और पुष्टार्थता और वक्रोक्ति न हो, तो वह संगीत के समान केवल श्रुतिमधुर होगा, अर्थात् उसमें केवल बाह्यरञ्जकता होगी, हृदय का स्पर्श करने की मार्मिकता नहीं। जैसा कि उन्होंने कहा है—

अपुष्टार्थमवक्रोक्तिः प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्[1] ।।

आचार्य भामह देशविशेष के नाम पर रीति का नामकरण और अच्छा-बुरा कहना युक्तियुक्त नहीं मानते; क्योंकि एक ही स्थान में रहने वाले दो कवि परस्पर भिन्न शैली का प्रयोग करते हैं। इसलिए देशधर्म के रूप में किसी एक रीति को स्वीकार कर उसी में सबकी काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

भोज ने छः रीतियों का उल्लेख किया है—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी, आवन्ती, लाटी और मागधी। यथा—

वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते[2] ।।

नाम के लिए रीतियाँ तो छः उन्होंने गिना दीं, पर इनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका, हो भी नहीं सकता है। रीति के प्रमुख भेदक हैं समास और वर्णविन्यास। इनके वैदर्भी और गौडी का ही अन्तर पूर्णतः ग्राह्य होता है, दोनों की मध्यवर्तिनी पाञ्चाली भी किसी प्रकार अङ्गीकार्य है, पर अन्य में साङ्कर्य अपरिहार्य हो जाता है। यही कारण है कि दण्डी ने दो का ही निर्देश किया है—परस्पर सूक्ष्म भेद रखने वाले वाणी के अनेक मार्ग (रीतियाँ) हैं, पर उनमें यहाँ वैदर्भ और गौड दो का ही वर्णन किया जाता है; क्योंकि उनका अन्तर सर्वथा स्पष्ट है, अन्य में अन्तर की वह स्पष्टता नहीं है। जैसा कि उन्होंने कहा है—

---

१. काव्यालङ्कार-१.३४; २. स० कं० २.५२।

अस्त्यनेको गिरां मार्गो सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ[1] ।।

दोनों का अन्तर दिखाने के लिए दण्डी ने दश गुणों की चर्चा की—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि । ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं, अर्थात् उसमें अवश्य रहते हैं । गौड मार्ग में इनका प्राय: विपर्यय देखा जाता है, अर्थात् उसमें ये गुण या तो नहीं ही रहते या कहीं रहते भी हैं, तो अंशत: । तात्पर्य कि वैदर्भ मार्ग समग्र-गुणसम्पन्न है और गौड तद्रहित ।

कुन्तक ने देश के आधार पर स्वीकृत रीतियों का खण्डन कर उन्हें कवि-स्वभाव के आधार पर जो प्रतिष्ठित किया है, वह कहीं अधिक तर्कसङ्गत है, पर गतानुगतिकता का आग्रह कुछ ऐसा प्रबल रहा कि आलङ्कारिकों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया ।

रीतियों के देशपरक नामकरण की अयुक्तता स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न उठता है कि क्या वे नामकरण सर्वथा यादृच्छिक थे ? देशविशेष से क्या उनका कोई सम्बन्ध नहीं था ? इस प्रसङ्ग में बाणभट्ट का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरा[2] ।।

उद्धृत श्लोक से इस धारणा को बल मिलता है कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की रचना-पद्धतियों की कुछ सुस्पष्ट विशेषताएँ थीं, जो उस-उस क्षेत्र में लब्धप्रसर थीं और बहुमत उनका अनुसरण करता था । आरम्भ में उन विशेषताओं का बन्धन अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ रहा होगा । पर जैसे-जैसे काव्य-सरणियाँ विकसित होती गईं और अभिव्यञ्जना में स्वच्छन्दता आती गई, वैसे-वैसे वे बन्धन ढीले पड़ते गये । कवियों की रुचि, शक्ति तथा प्रकृति के अनु-सार वैसा होना अनिवार्य था, पर परिवर्तन हो जाने के बाद भी नाम ज्यों के त्यों रह गये और अब वे देशगत विशेषताओं के बोधक न रहकर शैलीगत विशेषताओं के बोधक हो गये । वैदर्भी कहलाने वाली रीति विदर्भ तक ही सीमित न रहकर वह एक विशिष्ट प्रकार की असमस्त, मधुर शैली की सामान्य

१. का० द० २.४७; २. हर्षचरित-१.७ ।

संज्ञा बन गयी, जिसका प्रयोग कहीं भी हो सकता था । यही अवस्था गौडी आदि की भी हुई । वामन ने कहा ही है कि विदर्भ आदि देशों में प्राप्त होने के कारण इन रीतियों के ये नाम पड़े हैं—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या[1] ।

बाद में कुन्तक जैसे कुछ आलङ्कारिकों ने इन नामों की अयुक्तता बताकर परिवर्तन का आग्रह किया । दूसरे आलङ्कारिकों ने कहा कि ये नाम अब देशविशेष से सम्बद्ध न होकर रचना-सरणि के वाचक हो गये हैं, साथ ही प्रचलित भी हो चुके हैं, अत: उन्हें परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं । इसके लिए कोई न कोई नाम तो रखना ही होगा । फिर जो प्रचलित है, उसे ही क्यों न रखें ? इस प्रकार ये नाम चलते रहे और चल रहे हैं ।

अलङ्कार—अलम् उपपद-पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय करके अलङ्कार शब्द निष्पन्न होता है । जिसका अर्थ होता है—सजावट सजाने या अलङ्कृत करने की क्रिया, 'आभूषणमलङ्कार: स्वर्गस्य' (विक्रम० १) । काव्य के गुण-दोष बतलाने वाले शास्त्र को भी अलङ्कार कहते हैं । अलङ्कार का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय:[2] ।।

अर्थात् जो काव्य में विद्यमान अङ्गीभूत रस को शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों द्वारा कभी-कभी उत्कर्षयुक्त बनाते हैं, वे अनुप्रास और उपमा आदि शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक हार आदि दैहिक आभूषणों के समान काव्य के अलङ्कार होते हैं ।

अलङ्कार का लक्षण

'अलङ्करोतीति अलङ्कार:' यह अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति है । इसके अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम 'अलङ्कार' है । जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं, उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के

१. का० सू० १.२.१० ; २. का० प्र० ८.६७ ।

शरीरभूत शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करते हैं, इसलिए अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्कार अलङ्कार्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्त्व नहीं। जो स्त्री या पुरुष अलङ्कारविहीन हैं, वे भी मनुष्य हैं। पर जो अलङ्कारयुक्त हैं, वे अधिक उत्कृष्ट समझे जाते हैं। इसी प्रकार काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अपरिहार्य नहीं है। वे यदि हैं, तो काव्य के उत्कर्षाधायक होंगे, यदि नहीं हैं, तो भी कोई काव्य की हानि नहीं है। इसलिए अलङ्कारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना गया है। यही गुणों तथा अलङ्कारों का भेदक तत्त्व है। गुण काव्य के स्थिर धर्म हैं, काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है; परन्तु अलङ्कार स्थिर या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं। केवल उत्कर्षाधायक हैं। उनके विना भी काव्य में काम चल सकता है। इसलिए काव्य के लक्षण में मम्मट ने 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्काररहित को भी काव्य माना है। इसी दृष्टि से उन्होंने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में अलङ्कारों का लक्षण करते हुए लिखा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः[१] ।।

अर्थात् अलङ्कार जातुचित् कभी-कभी ही उस रस को अलङ्कृत करते हैं, सदा नहीं। इसलिए वे काव्य के अस्थिर धर्म हैं। साहित्यदर्पण में भी अलङ्कार का लक्षण इसी आशय से निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ।।

किन्तु अलङ्कारों को काव्य का अस्थिर धर्म मानने का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। यह केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है। अलङ्कारसम्प्रदाय अलङ्कारों को काव्य का अपरिहार्य स्थिर तत्त्व मानता है। उसके मत में अलङ्काररहित काव्य की कल्पना, उष्णतारहित अग्नि की कल्पना के समान ही उपहासयोग्य है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलङ्कृती ।।

---

१. का० प्र० ८.६७।

जो आदमी (मम्मट) अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह उष्णतारहित अग्नि को क्यों नहीं मानता ।

भामह ने अलङ्कार को काव्य-शोभा का आधायक तत्त्व बताया है—

रूपकादिरलङ्कारास्तस्यान्यैर्बहुधोदिताः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्[१] ।।

इससे लगता है कि भामह के समय में या उनके बाद भी 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग केवल उपमा, रूपक आदि के सङ्कुचित अर्थ में न होकर काव्य-सौन्दर्य के निष्पादक सभी तत्त्वों के लिए होता था । दण्डी, वामन आदि की उक्तियों से स्पष्ट है । वामन ने तो 'सौन्दर्यमलङ्कारः' कहकर निर्भ्रान्त रूप से प्रतिपादित कर दिया कि अलङ्कार सौन्दर्यमात्र को कहते हैं । अतः काव्यशोभा के जो भी निष्पादक हुए, वे 'अलङ्कार' शब्द के वाच्य बन गये । दण्डी का कथन इस दृष्टि से ध्यातव्य है—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते[२] ।

उन्होंने गुण और अलङ्कार में भी भेद नहीं माना । यही क्यों, मुख आदि पाँच सन्धियों, उपक्षेप आदि चौंसठ सन्ध्यङ्गों, कैशिकी आदि चार वृत्तियों, नर्म आदि सोलह वृत्ताङ्गों और भूषण आदि छत्तीस लक्षणों को भी उन्होंने अलङ्कार में गिन लिया ।

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्ताङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः[३] ।।

आगमान्तर, अर्थात् दूसरे शास्त्र (भरतकृत नाट्यशास्त्र) में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि सविस्तर वर्णित हैं, उन्हें भी हम अलङ्कार ही मानते हैं ।

'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग-स्थल कितना विस्तृत था, यह इससे स्पष्ट है । इसका एक और प्रमाण यह है कि रस को भी जब श्रव्यकाव्य में स्थान मिला, तब उसे रस न कहकर रसवदलङ्कार कहा गया ।

---

१. का० लं० १.१४ ; २. का० द० २.१ ।
३. तदेव–२.३६७ ।

अलङ्कार का मूल तत्त्व

भामह के अनुसार अलङ्कार का मूल तत्त्व है अतिशयोक्ति और अतिशयोक्ति का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचर वचन—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा[१] ।।

भामह की इस मान्यता का उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने भी मुक्तकण्ठ से समर्थन किया है । दण्डी ने दृढ़तर शब्दों में कहा है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्[२] ।।

बृहस्पति द्वारा प्रशंसित यह अतिशयोक्ति अन्य अलङ्कारों का भी प्रधान और सर्वश्रेष्ठ आधार है ।

आनन्दवर्धन ने भी उसकी उपादेयता स्वीकार की है—'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभि: कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्'[३] ।

अर्थात् पहले तो सभी अलङ्कारों की अतिशयोक्तिगर्भता सम्भव है । महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त होकर ही वह अवर्णनीय काव्यशोभा को पुष्ट करती है । विषय के औचित्य के अनुरूप अतिशयोक्ति का उपनिबन्ध काव्य में उत्कर्ष क्यों कर नहीं लायेगा ।

काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में विशेष अलङ्कार का निरूपण करते हुए मम्मट ने भी अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का प्राण स्वीकार किया है ।

'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्'[४] ।

यह अतिशयोक्ति, अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार नहीं, बल्कि अलङ्कारत्व का बीजभूत तत्त्व है । अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार में अतिशयोक्ति शब्द योगरूढ़ है और यहाँ यौगिक, अत: उसका सामान्य अर्थ ही अभिप्रेत है ।

---

१. का० लं० २.८१; २. का० द० २.२२० ।
३. ध्वन्या०, पृ० २५९; ४. का० प्र०, पृ० ५४९ ।

भामह के 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इस कथन का अर्थ करते हुए प्रायः सभी ने अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय बताया है, पर हमारी धारणा है कि ग्रन्थकार दोनों को पर्याय रूप में उपस्थित करने के पक्षपाती नहीं हैं। पहले दोनों शब्दों के वाच्यार्थ को ही लें। अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति में जो अतिशय और वक्र शब्द हैं, क्या एक ही अर्थ के वाचक हैं, अतिशयोक्ति का अर्थ है बढ़ा-चढ़ाकर कहना और वक्रोक्ति का अर्थ है घुमा-फिराकर कहना। फिर दोनों पर्याय कैसे हुए ? अतिशयोक्ति का लक्ष्य है गुणातिशययोग और वक्रोक्ति का अभिव्यञ्जनावैचित्र्य। चमत्कार के लिए दोनों आवश्यक हैं। अतिशयोक्ति काव्य में लोकोत्तरता–असाधारणता लाती है और वक्रोक्ति रमणीयता। जैसे किसी ने कहा कि नायिका का मुख चन्द्रमा से बढ़कर सुन्दर है, तो इसमें अतिशयोक्तिजन्य असाधारणता तो हुई, पर रमणीयता नहीं आई। यह कथन असाधारण होते हुए भी चमत्कारशून्य है। तुलसीदास ने सीता के मुख का सौन्दर्य-वर्णन करते समय बात यही कही कि उनका मुख चन्द्रमा से बढ़कर सुन्दर है, पर वक्रोक्ति का योग हो जाने से उसमें चमत्कार आ गया—

जनम सिन्धु पुनि बन्धु विष दिन मलीन सकलङ्क।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक॥

इसलिए अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय कहना अमान्य है। "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः" में भामह का तात्पर्य यह नहीं है कि अतिशयोक्ति मात्र वक्रोक्ति है, बल्कि यह कि वक्रोक्ति में अतिशयोक्ति अवश्य रहती है, पर रमणीयता उत्पन्न करना अतिशयोक्ति का नहीं, वक्रोक्ति का व्यापार है। यह उन्होंने अनेकधा स्पष्ट किया है।

अनयार्थो विभाव्यते—वक्रोक्ति से अर्थ विभावित होता है, अर्थात् रमणीय, आस्वादनीय बनता है।

कोऽलङ्कारोऽनया विना—वक्रोक्ति के विना कौन अलङ्कार सम्भव है, अर्थात् चमत्कार सम्भव ही नहीं है।

हेतु, सूक्ष्म और लेश अलङ्कारों के खण्डन के प्रसङ्ग में भी भामह ने अतिशयोक्ति का नाम नहीं लिया। उन्होंने कहा कि ये अलङ्कार इसलिए स्वीकार्य नहीं हैं कि इनमें वक्रोक्ति नहीं रहती—वक्रोक्त्यनभिधानतः।

पञ्चम परिच्छेद में उन्होंने फिर कहा कि—

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते[१] ।

इन कथनों से निर्विवाद सिद्ध है कि भामह वक्रोक्तिवादी थे, अलङ्कारवादी नहीं ।

भामह वक्रोक्तिविशिष्ट रचना को ही काव्य मानते हैं, जहाँ वक्रोक्ति नहीं, वहाँ काव्यत्व नहीं । उनके अनुसार वक्रोक्तिशून्य अभिधान वार्ता है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते[२] ।।

इस तरह अलङ्कार में चमत्कारपूर्ण कथन ही मूल तत्त्व प्रतीत होता है ।

अलङ्कारों के विभाजक तत्त्व

प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है । अलङ्कार शरीर के शोभाधायक होते हैं । इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व का ही नाम अलङ्कार है । अर्थात् अलङ्कार का आधार शब्द और अर्थ है । इसी आधार पर शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए उभयालङ्कार—इन तीन प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की गयी है ।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्व के ऊपर निर्भर है । जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार नहीं रहता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि उस अलङ्कार की स्थिति विशेषरूप से उस शब्द के कारण ही थी । इसलिए उसे **'शब्दालङ्कार'** कहा जाता है । जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी उस अलङ्कार की सत्ता बनी रहती है, वहाँ अलङ्कार शब्द के आश्रित नहीं, अपितु अर्थ के आश्रित होता है, इसलिए उसको **'अर्थालङ्कार'** कहा जाता है । इस प्रकार जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्ति को सहन नहीं करता, वह शब्दालङ्कार और जो शब्दपरिवृत्ति को सहन करता है, वह अर्थालङ्कार होता है । यही शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेदक तत्त्व है ।

---

१. का० लं० ५.६६ ; २. वहीं, २.८७ ।

अलङ्कारों की संख्या

अलङ्कारों की संख्या के विषय में बड़ा मतभेद है। मम्मट ने इकसठ अर्थालङ्कार माने हैं। शब्दालङ्कारों में वामन आदि ने केवल 'अनुप्रास' और 'यमक' दो की ही गणना की है; परन्तु मम्मट ने उनके साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालङ्कार माना है। इस प्रकार मम्मट के मत में शब्दालङ्कारों की संख्या छः हो जाती है।

इनमें से श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास की स्थिति में भी मतभेद पाया जाता है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार मानते हैं। मम्मट, विश्वनाथ, शोभाकर मिश्र इसको शब्दालङ्कार मानते हैं।

श्लेष अलङ्कार के विषय में भी इसी प्रकार का मतभेद पाया जाता है। श्लेष के दो भेद होते हैं, एक सभङ्गश्लेष, दूसरा अभङ्गश्लेष। इनके विषय में तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं।

(क) अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक आदि कुछ आलङ्कारिक सभङ्गश्लेष को शब्दालङ्कार तथा अभङ्गश्लेष को अर्थालङ्कार मानते हैं।

(ख) कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित आदि कुछ आलङ्कारिक दोनों प्रकार के श्लेषों को अर्थालङ्कार मानते हैं।

(ग) इसके विपरीत मम्मट आदि कुछ आलङ्कारिक सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालङ्कार ही मानते हैं; परन्तु मम्मट ने अर्थालङ्कारों में भी श्लेष की गणना की है। पर वह इन दोनों भेदों से भिन्न है, जहाँ शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है, वह अर्थश्लेष इन दोनों प्रकार के शब्द-श्लेषों से भिन्न है। शब्दालङ्काररूप श्लेष में जतुकाष्ठन्याय से दो शब्दों का श्लेष होता है; परन्तु अर्थश्लेष में एकवृन्तगत फलद्वयन्याय से एक शब्द में दो अर्थों का श्लेष होता है। यही शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का भेद है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में ऐसे २४ अलङ्कारों की नामावली दी गयी है, जिनको अन्य लोग शब्दालङ्कार मानते हैं; परन्तु उनमें वस्तुतः शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्वरूप शब्दालङ्कार का लक्षण न पाये जाने से उन्हें शब्दालङ्कार नहीं कहा जा सकता। यही बात निम्नलिखित श्लोक में कही गयी है—

पठन्ति शब्दालङ्कारान् बहूनन्यान् मनीषिणः ।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वान्न ते शब्दैकभागिनः ।।

इस प्रकार मम्मट के मत में छः शब्दालङ्कार, इकसठ अर्थालङ्कार और एक उभयालङ्कार है। शब्दालङ्कारों में मम्मट ने १. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३. यमक, ४. श्लेष, ५. चित्र और ६. पुनरुक्तवदाभास ये छः अलङ्कार माने हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने इन्हीं छः शब्दालङ्कारों को एक श्लोक में इस प्रकार गिनाया है—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट् ।।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में स्पष्ट रूप से पाँच शब्दालङ्कार, ६१ अर्थालङ्कार और एक (पुनरुक्तवदाभास) उभयालङ्कार कुल मिलाकर ६७ प्रकार के अलङ्कारों का निरूपण किया गया है; परन्तु अलङ्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में भिन्न-भिन्न पायी जाती है। भरत नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक केवल चार अलङ्कारों का ही वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके ३३ भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने ३५ प्रकार के, भामह ने ३९ प्रकार के और उद्भट ने अपने काव्यालङ्कार में ५२ तथा काव्यप्रकाशकार ने ६७ प्रकार के अलङ्कारों के भेद दिखलाये हैं। जयदेव के चन्द्रालोक में अलङ्कारों की संख्या १०० हो गयी है और उनके व्याख्याकार अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में उसको बढ़ाकर १२४ तक पहुँचा दिया है। इसका सङ्ग्रह आचार्य विश्वेश्वर ने इस प्रकार किया है—

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा ।
चत्वार एवालङ्कारा भरतेन निरूपिताः ।।
वामनेन त्रयस्त्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपिताः ।
पञ्चत्रिंशद्विधश्चायं दण्डिना प्रतिपादितः ।।
नवत्रिंशद्विधश्चायं भामहेन प्रकीर्तितः ।
चत्वारिंशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रदर्शितः ।।
द्विपञ्चाशद्विधः प्रोक्तो रुद्रटेन ततः परम् ।
सप्तषष्टिविधः प्रोक्तः प्रकाशे मम्मटेन च ।।
शतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च ।
चतुर्विंशतिभेदास्तु कृता एकशतोत्तराः[१] ।।

---

१. का० प्र०, टी०, पृ० ४४० ।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

अलङ्कारसर्वस्व के निर्माता रुय्यक ने ६७ अलङ्कारों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने रचनाशैली के आधार पर सात मुख्य भागों में उन समस्त अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। इनमें प्रथम वर्ग के भी चार अवान्तर विभाग किये गये हैं। इस प्रकार अलङ्कारों के ४ + ६ = १० वर्ग बन जाते हैं। उनके नाम और उनके अन्तर्गत अलङ्कारों की संख्या निम्नलिखित है—

१.	सादृश्यमूलक अलङ्कार (४ + ६ + २ + १७ = २९)—		
(क)	भेदाभेदप्रधान	–	४
(ख)	आरोपमूलक अभेदप्रधान	–	६
(ग)	अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान	–	२
(घ)	गम्य–औपम्यमूलक अलङ्कार	–	१७
२.	विरोधमूलक अलङ्कार	–	११
३.	शृङ्खलाबन्धमूलक अलङ्कार	–	३
४.	तर्कन्यायमूलक अलङ्कार	–	२
५.	वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार	–	८
६.	लोकन्यायमूलक अलङ्कार	–	७
७.	गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार	–	७

(११+३+२+८+७+७=३८)

इस प्रकार सादृश्यमूलक अलङ्कार कुल–२९, सादृश्यातिरिक्तमूलक अलङ्कार कुल ३८ (२९+३८=६७)। इस प्रकार रुय्यक ने ६७ अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। विशेष जानकारी के लिए उन अलङ्कार-ग्रन्थों का आलोडन करना चाहिए।

आख्यायिका—आङ् उपसर्गपूर्वक ख्या धातु से ण्वुल् प्रत्यय करने पर आख्यायक शब्द बनता है, जिसका अर्थ कहने वाला, सूचना देने वाला होता है। आख्यायक शब्द से टाप् करके इत्व होकर आख्यायिका शब्द निष्पन्न होता है, जो गद्यरचना, नमूना, प्रारम्भ, कहानी अर्थ में प्रयुक्त होता है। साहित्य-शास्त्र के लेखक गद्यरचना को प्रायः दो भागों में बाँटते हैं—कथा और आख्यायिका। वे बाण के हर्षचरित को आख्यायिका तथा 'कादम्बरी' को कथा के नाम से पुकारते हैं। दण्डी इस प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं करते—

'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता'[१] । आख्यायिका का आख्यान करते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है—

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ।।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति कथ्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ।।
अन्यापदेशाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्[२] ।।

अर्थात् कथा के समान ही आख्यायिका होती है । इसमें कविवंश-वर्णन होता है । इसमें अन्य कवियों के वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं-कहीं रहते हैं । यहाँ कथाभागों का नाम आश्वास रखा जाता है । आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अग्रिम कथा की सूचना दी जाती है । 'आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निबद्ध होनी चाहिए' यह किन्हीं का मत है, यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि आचार्य दण्डी ने यह कहा है कि 'अपि त्वनियम इति'—आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं—केवल नायक ही के नहीं, अतः इस विषय में कोई नियम नहीं है । आख्यानादिक कथा और आख्यायिका के ही अन्तर्गत हैं । दण्डी ने यह भी कहा है—

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।

इसका उदाहरण उन्होंने पञ्चतन्त्र आदि को दिया है । ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत की सप्तम कारिका की लोचन टीका में कथा और आख्यायिका के परस्पर भेद का कथन करते हुए कहा गया है—'आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता । कथा तद्विरहिता । उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः'[३] । अर्थात् आख्यायिका उच्छ्वास इत्यादि से और वक्त्र तथा अपवक्त्र इत्यादि से युक्त होती है । कथा उससे रहित होती है । दोनों के गद्य-बन्धस्वरूप होने के कारण द्वन्द्व से निर्देश किया गया है । अग्निपुराण में गद्य के पाँच भेद किये गये हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका । इनके लक्षण भी वहाँ पर दिये गये हैं ।

---

१. काव्या० १.२८ ; २. सा० द० ६.३३४-३३६ ।
३. ध्वन्यालोक, तृतीय लोचन, पृ० ८२ ।

भामह के अनुसार आख्यायिका का लक्षण है—

संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ।।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ।।
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता ।
कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयान्विता[1] ।।

उनके अनुसार आख्यायिका की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१. संस्कृत गद्य में हो ।

२. शब्द, अर्थ और पद संघटना (समास आदि) अक्लिष्ट और श्रुति-सुखद हों ।

३. विषय उदात्त हो ।

४. कथानक-विभाजन 'उच्छ्वास' नाम से किया गया हो ।

५. अपना वृत्तान्त नायक स्वयं कहे ।

६. समय-समय पर 'वक्त्र' एवं 'अपवक्त्र' छन्दों के द्वारा भावी घटनाएँ सूचित हों ।

७. कवि के अभिप्राय किन्हीं विशिष्ट कथनों से चिह्नित हों ।

८. कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ-शृङ्गार, नायक के अभ्युदय आदि समन्वित हों ।

कथा—कथ् धातु से अङ् और टाप् प्रत्यय करने पर कथा शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ कथा, कहानी, कल्पित या मनगढ़न्त कहानी होता है– 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते' (हि० १.१) । वृत्तान्त, सन्दर्भ, उल्लेख भी इसका अर्थ होता है—'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यत:' (शि० २.४०) । गद्यमयी रचना का एक भेद, जो आख्यायिका से भिन्न है—

प्रबन्धकल्पना स्तोकमत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः ।
परम्पराश्रया या स्यात् सा मताख्यायिका बुधैः ।।

---

१. का० लं० १.२५-२७ ।

कथा का लक्षण साहित्यदर्पण में दिया गया है । यथा—

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्[1] ।।

कथा में सरस वस्तु गद्यों द्वारा ही बनायी जाती है । इसमें कहीं-कहीं आर्या छन्द और कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छन्द होते हैं । प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित निबद्ध होता है, जैसे कादम्बरी आदि । अब भामहकृत कथा का लक्षण देखिये—

न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ।।
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः[2] ।।

उनके अनुसार कथा की विशेषताएँ—

१. वक्त्र-अपवक्त्र छन्द न हों ।
२. उच्छ्वास न हो ।
३. संस्कृत में या असंस्कृत (संस्कृतभिन्न) अर्थात् प्राकृत अथवा अपभ्रंश में ग्रथित हो ।
४. कहानी नायक नहीं, कोई दूसरा कहे ।

आचार्य मम्मट ने भी आख्यायिका और कथा का उल्लेख किया है; लेकिन उनको परिभाषित नहीं किया है । वैसे वे दोनों शब्द समानार्थक-से लगते हैं; किन्तु साहित्य में दोनों भिन्न-भिन्न रचनाशैली के द्योतक हैं । ये दोनों गद्य-काव्य के भेद हैं । आख्यायिका की रचना उच्छ्वास आदि भागों में विभक्त होती है, कथा में इस प्रकार का विभाग नहीं होता है । ध्वन्यालोक में भी इनकी चर्चा है । विशेष जिज्ञासा के लिए ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत की सप्तम कारिका एवं उसका वृत्ति-भाग अवलोकनीय है ।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र एक ऐसा समुद्र है, जहाँ शब्दराशि बिखरी पड़ी है । उन पर विचार किया जाय, तो अनेक प्रबन्ध पूर्ण हो सकते हैं ।

---

१. सा० द० ६.३३२-३३३ ; २. का० लं० १.२८-२९ ।

मात्र दिशानिर्देश के रूप में यहाँ पर कुछ शब्दों पर विचार प्रस्तुत हो सका है । आगे इस प्रकार का कार्य होना चाहिए ।

साहित्यशास्त्र सभी शास्त्रों का उपकारक है । उसमें अन्यान्य शास्त्रों के भी पारिभाषिक शब्द बिखरे पड़े हैं । अतः वैसे शब्दों पर एक दृष्टिनिक्षेप आवश्यक प्रतीत होता है । तत्तत् शास्त्रों के शब्द साहित्यशास्त्र में किस रूप में गृहीत हैं, इसकी जानकारी औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है ।

पञ्चम अध्याय

विविध शास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति

अलङ्कारशास्त्र की विशिष्टता

संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र एक वर्धिष्णु शास्त्र है, जिसमें नये-नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ तथा प्राचीन सिद्धान्तों का भी विश्लेषण तथा परिबृंहण बड़ी गम्भीरता के साथ सम्पन्न हुआ है। वर्धन पर दृष्टिपात न करके जो इसे एक स्थितिशील शास्त्र मानते हैं, वे यथार्थता से कोसों दूर हैं तथा इसके वास्तव रूप से एकदम अपरिचित हैं।

साहित्यशास्त्र पर बहिरङ्ग दृष्टि डालने वाले आलोचक कहते हैं कि संस्कृत की आलोचना में काव्य के केवल बहिरङ्ग तत्त्वों पर ही विचार किया गया है। अलङ्कारों की विवेचना तथा दोषों का समीक्षण ही विस्तृत है। अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के शोभाधायक तत्त्व हैं तथा दोषों का सम्बन्ध भी इन्हीं दोनों वस्तुओं में होने वाले दूषणों के वर्णन से है। किसी भी आलोचना-ग्रन्थ को देखिये, उसमें इन्हीं सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलेगा। फलत: संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ काव्य के बाहरी विषय में ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। अत: संस्कृत आलोचना बाहरी है तथा पाश्चात्त्य आलोचना की तुलना में यह नगण्य ही है।

यह आरोप एकदम मिथ्या है। संस्कृत-काव्यशास्त्र काव्य के सर्वाङ्ग की विवेचना करता है, बहिरङ्ग के साथ अन्तरङ्ग की भी। रीति, वृत्ति, दोष तथा अलङ्कार काव्य के बाहरी तत्त्व भले ही हों; परन्तु रस उसका प्राण है। इस प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा जितनी व्यापकता तथा सूक्ष्मता के साथ संस्कृत के साहित्याचार्यों ने की है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। रस का उन्मीलन कैसे होता है ? रस कहाँ रहता है ? सहृदयों में या पात्रों में ? रस कितने हैं ? रस के मनोवैज्ञानिक आधार क्या हैं ? आदि अनेक गम्भीर चिन्तनशील विषयों का पूरा समीक्षण हमें संस्कृत के आलोचना-ग्रन्थों में मिलेगा। हमारा अलङ्कार-शास्त्र विषय की दृष्टि से इतना व्यापक है कि वह पाश्चात्त्य जगत् के तीन

शास्त्रों का–'**पोइटिक्स**', '**रेटारिक**' तथा '**एस्थेटिक्स**' का प्रतिनिधित्व करता है। '**पोइटिक्स**' में काव्य तथा नाटक के रूप तथा विभाग, गुण तथा सिद्धान्त का विवेचन हम पाते हैं। '**रेटारिक**' का सम्बन्ध वक्तृत्व कला के साथ है और तदुपयोगी गद्य के गुण-दोषों का यहाँ वर्णन मिलता है। '**एस्थेटिक्स**' में सौन्दर्य के रूप, तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय अलङ्कारशास्त्र में इन विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का एकत्र सुन्दर समीक्षण है। काव्य की आत्मा रस है और इसी रस के अङ्गों और उपाङ्गों का विवेचन अलङ्कारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। पाश्चात्त्य आलोचना-पद्धति का ढंग दूसरा है। यह जीवनदर्शन की समस्याओं की छानबीन काव्य में देखना चाहती है; परन्तु संस्कृत की आलोचना इस छानबीन को नहीं करती। काव्य का उद्देश्य 'कान्तासम्मितोपदेश' है, अर्थात् काव्य के समान कमनीय रूप से जीवन के उपयोगी उपदेशों का विधान है। स्पष्ट है कि जीवन के दर्शन को काव्य की दृष्टि से समझने तथा समझाने का भरपूर उद्योग अलङ्कारशास्त्र में किया गया है।

संस्कृत अलङ्कारशास्त्र केवल सिद्धान्त के विवेचन में ही व्यस्त नहीं रहता, प्रत्युत व्यवहार को भी भली-भाँति समझाता है। कविता कैसी करनी चाहिए ? कवि बनने के लिए कौन से साधन होते हैं ? इन विषयों के वर्णन की वह उपेक्षा नहीं करता। बल्कि '**कविशिक्षा**' के विषय में लिखित अनेक ग्रन्थों में इन विषयों का उपयोगी तथा व्यावहारिक वर्णन हमें उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसीलिए 'अभिनय' का हम साङ्गोपाङ्ग विवेचन पाते हैं। अभिनय के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। '**आङ्गिक**' अभिनय में हाथ तथा पैर के विक्षेप, नेत्र तथा शिर के चालन आदि का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। '**वाचिक**' में संवाद-तत्त्व का विवरण है। रस की अभिव्यक्ति रङ्गमञ्च पर कैसे की जाती है ? इसका उत्तर हमें '**सात्त्विक**' अभिनय के प्रसङ्ग में मिलेगा। '**आहार्य**' अभिनय में पात्रों की वेशभूषा, सज्जा-सजावट का बड़ा ही रोचक विवरण है। नाटक क्या है ? तथा उसकी रचना कैसे होती है ? इतना वर्णन कर देने से ही नाट्यशास्त्र का आचार्य अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानता, बल्कि नाटक का अभिनय आकर्षक रूप से कैसे करना चाहिए ? किन साधनों के द्वारा वह दर्शकों के चित्त को अपनी ओर खींच लेता है ? आदि व्यावहारिक तत्त्वों की भी विवेचना वह भली-भाँति यहाँ करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र का क्षेत्र

बहुत विशाल है। वह केवल सिद्धान्तविवेचन की चहारदीवारी के भीतर ही अपने को बाँधकर नहीं रखता, प्रत्युत वह व्यवहार के विस्तृत प्राङ्गण में भी विचरता है तथा व्यावहारिक समस्याओं को हल करता है। इस तरह काव्य-शास्त्र एक पूर्ण व्यावहारिक शिक्षा देने वाला शास्त्र है।

संस्कृत के काव्यशास्त्र ने तीन ऐसे सिद्धान्तों को संसार के आलोचकों के सामने प्रस्तुत कर रखा है, जिनका मूल्याङ्कन हो रहा है और होता रहेगा। विश्वसाहित्य के आलोचना-संसार के सामने हमारी तीन महती देन है— **१. औचित्य, २. रस, ३. ध्वनि के सिद्धान्त।** भारतवर्ष का नव्य आलोचक पश्चिमी आलोचना के प्रवाह में आज इतना बहता जा रहा है कि इसकी दृष्टि अपने इन महनीय तत्त्वों के समझने की ओर तनिक भी नहीं है; परन्तु संस्कृत आलोचना अपने उदात्त मन्तव्यों तथा तथ्यों से मण्डित होने वाली एक अनुपम साधना है, इस विषय में किसी भी विज्ञ आलोचक के दो मत नहीं हो सकते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्रबल प्रमाणों का सहारा लेकर अन्य शास्त्रीय दार्शनिक पक्षों पर भी विचार प्रस्तुत करता है। इस अवसर पर दार्शनिक सिद्धान्तों को उपस्थापित करता है। यदि अपने मत की अभिव्यक्ति में थोड़ा भी खटक पैदा करता है, तो उसे उजागर करने में भी हिचकिचाहट का तनिक भी अनुभव नहीं करता है। इसलिए काव्यशास्त्र में अन्यान्य दर्शनों के शब्दों का प्रयोग मिलता है। चाहे वह आस्तिक दर्शन हो या नास्तिक दर्शन, सभी मतों का सार तत्त्व प्रस्तुत करने वाला यह साहित्य-शास्त्र है। अत: हम यहाँ अन्यान्य दर्शनों के शब्दों पर विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे, जो इस काव्यशास्त्र में प्रयुक्त हैं।

स्फोट—'स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्फुटत्यर्थो यस्मात्, स: स्फोट:' की जाती है। स्फुट् से घञ् करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। स्फोटवाद वैयाकरणों का प्रमुख सिद्धान्त है। जिससे अर्थ की प्रतीति हो, उसको स्फोट कहते हैं। यह स्फोट पद, वर्ण और वाक्य आदि भेद से आठ प्रकार का होता है। पदस्फोट से पदार्थ की और वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। गकार, औकार और विसर्जनीय से मिलकर बना हुआ जो 'गौ:' पद गाय का बोध कराता है, वह श्रोत्र से सुनायी देने वाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस स्फोट है; क्योंकि श्रोत्र से सुनायी देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और

अस्थिर है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब तक दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तब तक पहला ध्वनि-रूप वर्ण नष्ट हो जाता है, इसलिए अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की उपस्थिति एक साथ नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनेक पदों के समुदायरूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है। तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वैयाकरणों ने स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना की है। उनका अभिप्राय यह है कि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को भी ग्रहण करने वाली एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसी का नाम 'पदस्फोट' है। अर्थ की प्रतीति इस पदस्फोट के द्वारा ही होती है, श्रोत्र से गृहीत शब्द या ध्वनि से नहीं; क्योंकि उस रूप में तो अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की स्थिति ही नहीं बन सकती है।

इसी प्रकार 'पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत अन्त्यपदश्रवण' से सद्-सद् अनेकपदावगाहिनी मानसी वाक्य-प्रतीति होती है, वैयाकरण उसको **'वाक्यस्फोट'** कहते हैं। इस 'वाक्यस्फोट' से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। वर्ण-ध्वनि से **'वर्णस्फोट'** की अभिव्यक्ति होती है।

नैयायिक 'स्फोट' को नहीं मानते हैं। इसका कारण यह है कि वैयाकरणों का यह 'स्फोट' नित्य है। इसी स्फोट को लेकर वे शब्द को नित्य मानते हैं। नैयायिक के मत में शब्द अनित्य हैं और स्फोट की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। वे केवल 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सदसदनेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीति' मानते हैं; पर उसे स्फोट नहीं कहते हैं और न नित्य मानते हैं।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनिरूप शब्द से होती है। इसलिए जैसे वैयाकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ने ध्वनि शब्द का प्रयोग साहित्यशास्त्र में किया है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से इस मत का समर्थन किया है—'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य-व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य'[१]।

---

१. का० प्र० १.४ वृत्ति।

शब्द—(शब्द् + घञ्) ध्वनि (श्रोत्रेन्द्रिय का विषय) आकाशगुण (रघु० १३.१), आवाज, कलरव, कोलाहल, 'विश्वासोपगमादभिन्नगतय: शब्दं सहन्ते मृगा:' (शा० १.१४) वचन सार्थक ध्वनि—'एक: शब्द: सम्यगधीत:, सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' । इसी प्रकार मम्मट ने कहा है—

स्याद्वाचको लाक्षणिक: शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा[1] ।

अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्राय: माने गये हैं; परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्द का निरूपण साहित्यशास्त्र को छोड़कर अन्यत्र नहीं किया गया है । इसलिए उपर्युक्त कारिका में 'अत्र' शब्द का विशेषरूप से प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना गया है; परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक शब्द के विना कोई चमत्कार ही नहीं रह जायेगा । इसलिए यहाँ काव्य में तीनों प्रकार के शब्द माने जाते हैं । इसमें 'वाचक' शब्द मुख्यार्थ का बोधक होता है, इसलिए सबसे पहले उसको रखा गया है । 'लाक्षणिक' शब्द वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है, इसलिए वाचक के बाद लाक्षणिक शब्द का स्थान आता है और 'व्यञ्जक' शब्द इन दोनों की अपेक्षा रखता है, इसलिए उसको तीसरे स्थान पर रखा गया है । उसमें भी यह ध्यान देने योग्य है कि तीन प्रकार का विभाग केवल शब्द की उपाधियों का है, शब्दों का नहीं; क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द व्यञ्जक है, इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दों में नहीं पाया जाता है । एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी, इसलिए यह तीन प्रकार का विभाग शब्दों का नहीं, अपितु शब्द की उपाधियों का ही समझना चाहिए । जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधि के भेद से कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियों के भेद से एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है । यह विभाग साहित्यशास्त्र का विशेष रूप से अपना है ।

तात्पर्यार्थ—तात्पर्यावृत्त्या बोध्योऽर्थस्तात्पर्यार्थ: । जिस प्रकार उपाधिभेद से शब्द तीन प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य । किन्हीं कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थ-सारथि मिश्र आदि मीमांसकों के मत में तीन प्रकार के वाच्य आदि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का तात्पर्यार्थ भी होता है ।

---

१. का० प्र० २.६ ।

भारतीय साहित्य में शाब्दबोध का विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा, इन तीन शास्त्रों में विशेषरूप से किया गया है । इनमें से व्याकरण-शास्त्र में पद-पदार्थों का विवेचन है, इसलिए व्याकरण को **'पदशास्त्र'** कहते हैं । न्याय विशेषरूप से प्रमाणों का विवेचन करता है, इसलिए न्याय को **'प्रमाणशास्त्र'** कहा जाता है । इसी प्रकार वाक्यार्थ शैली का विवेचन मीमांसा में विशेष रूप से किया गया है, इसलिए मीमांसा को **'वाक्यशास्त्र'** कहा जाता है । शाब्दबोध में इन तीनों की आवश्यकता पड़ती है । इसलिए शाब्दबोध में निष्णात इन तीनों शास्त्र के पण्डित को **'पदवाक्यप्रमाणज्ञ'** इस गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित किया जाता है । आचार्य मम्मट ने अर्थविवेचन के प्रसङ्ग में मीमांसकों के सिद्धान्तों को प्रदर्शित करने के लिए **'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'** यह पंक्ति विशेषरूप से लिखी है ।

मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं, जिनमें **'अभिहितान्वयवाद'** तथा **'अन्विताभिधानवाद'** दो मुख्य हैं । प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वय-वाद के मानने वाले हैं । इसके विपरीत प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवाद के मानने वाले हैं ।

अभिहितान्वयवाद—अभिहितानां स्वस्वपदैरुपस्थापितानां पदानामन्वयं वदन्ति तच्छीला अभिहितान्वयवादिनस्तेषां मतमभिहितान्वयवादः । अभि-हितान्वयवाद का अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है । उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ-मर्यादा से उपस्थित होता है । इसलिए पहले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधाशक्ति द्वारा बोधित होते हैं । बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट आदि का यह सिद्धान्त **'अभिहितान्वयवाद'** कहा जाता है । इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उसको **'तात्पर्यार्थ'** कहते हैं, वही वाक्यार्थ कह-लाता है और उसकी बोधकशक्ति को 'तात्पर्याख्या शक्ति' भी कहा जाता है, जो अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी मानी जा सकती है; परन्तु मीमांसक व्यञ्जना शक्ति नहीं मानते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि से तो यह चौथी नहीं, तीसरी शक्ति है ।

आचार्य मम्मट ने 'अभिहितान्वयवाद' के इसी सिद्धान्त का परिचय इस प्रकार दिया है—

'आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्'[१] ।

अर्थात् 'अभिहितान्वयवाद' में पहले पदों से केवल अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से तात्पर्य शक्ति द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का बोध होता है। यह पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षादि के बल से भासता है, यही तात्पर्यार्थ है और यही वाक्यार्थ है ।

अन्विताभिधानवाद—अन्वितमेव अभिधानं वदन्ति तच्छीलाः, अन्विताभिधानवादिनः, तेषां मतम् । प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि का कहना यह है कि पहले केवल पदार्थ अभिहित होते हों, और बाद में उनका अन्वय होता हो, यह बात नहीं है; बल्कि पहले से 'अन्वित' पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्त का नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। इस मत में पदार्थों का 'अन्वय' पूर्व से सिद्ध होने के कारण उसका बोध कराने के लिए तात्पर्याख्या शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है ।

प्रभाकर अपने इस मत के समर्थन में एक युक्ति देते हैं कि पदों से जो पदार्थों की प्रतीति होती है, वह सङ्केतग्रह के बाद ही होती है और उस सङ्केत का ग्रहण व्यवहार से होता है। जैसे छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है। कौन-सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा क़लम उठा दो' बालक न कलम को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है; परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है–'कलम रख दो और दावात उठा लो'। बालक फिर इस वाक्य को सुनता है और भाई को तदनुसार क्रिया करते

१. का० प्र० २, पृ० ३६ ।

देखता है । इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है । इस प्रकार व्यवहार से सङ्केत-ग्रह होता है । यह सङ्केतग्रह केवल पदार्थ में नहीं, अपितु किसी के साथ अन्वित पदार्थ में ही होता है । इसलिए जब केवल 'अनन्वित' पदार्थ में सङ्केत-ग्रह नहीं होता है, तो केवल या अनन्वित पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है । अत एव अन्वित का ही 'अभिधान' अर्थात् अभिधा से बोधन होने से 'अन्विताभिधान' मानना ही उचित है । 'अभिहितान्वय' का मानना उचित नहीं है, यह प्रभाकर के सिद्धान्त का सार है ।

आचार्य मम्मट अन्विताभिधानवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार दिखलाते हैं—

'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः'[१] ।

अर्थात् पदों के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, इसलिए पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है । तात्पर्याख्या शक्ति से बाद में प्रतीत नहीं होता है । यह अन्विताभिधानवादियों प्रभाकर आदि का मत है ।

आवापोद्वाप—आवापश्च उद्वापः, आवापोद्वापः । लोकव्यवहार से छोटे बालकों में सङ्केतग्रह जिस प्रकार होता है, उस प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया कहते हैं, उसमें पहले उत्तम वृद्ध अर्थात् बालक के पिता आदि ने मध्यम वृद्ध अर्थात् बालक के बड़े भाई या नौकर आदि को कलम उठाने की आज्ञा दी, पुनः कलम रखकर दावात उठाने की आज्ञा दी और मध्यम वृद्ध ने उसी के अनुसार क्रिया की । उस व्यवहार में एक शब्द को हटाकर जो दूसरे शब्द का, इसी प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का निवेश किया गया, इसी को आवापोद्वाप कहते हैं । इसलिए व्यवहार में आवापोद्वाप द्वारा सङ्केत का ग्रहण होता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है । इस क्रिया का उल्लेख आचार्य मम्मट ने पञ्चम उल्लास में किया है । यह लोकव्यवहार सङ्केतग्रह का प्रधान साधन है; परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं, जिनका सङ्ग्रह निम्नलिखित कारिका में किया गया है—

---

१. का० प्र० २, पृ० ३७ ।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध-ज्ञात पद के सान्निध्य से भी शक्ति या सङ्केत-ग्रहण माना जाता है । इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है; क्योंकि अधिकांश शब्दों का और सबसे पहले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है ।

इनमें 'भू-सत्तायाम्' आदि धातुपाठ से अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों से भूधातु तथा करण आदि पदों का सङ्केतग्रह व्याकरण के द्वारा होता है । 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण है । जो व्यक्ति गौ को जानता है, पर गवय (नील गाय) को नहीं जानता, उसको गौ के सदृश गवय होता है, इस वाक्य की सहायता से गवय पद का सङ्केत-ग्रह हो जाता है । कोश तथा आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदि के बतलाने से भी नये पदार्थों के नामों का ज्ञान बालकों को होता ही है । व्यवहार का उदाहरण ऊपर दिया गया है । विवृति अर्थात् व्याख्या भी सङ्केतग्रह का साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध-पद अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पद की सन्निधि से अज्ञात अर्थ वाले पद का अर्थ भी ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार ये सब सङ्केतग्रह के उपाय माने गये हैं ।

परमाणु—परमश्चासौ अणुः परमाणुः–अत्यणुः=अत्यल्प मात्रा का अणु । 'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्'—भर्तृ० २.७८ । परमाणु की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

जलान्तरगते रश्मौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
तस्य षष्टितमो भागः परमाणुश्च उच्यते ।।

आचार्य मम्मट ने कहा है कि सङ्केतग्रह व्यक्ति में नहीं होता है; अपितु व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में होता है । उसी के अनुसार शब्दों का चार प्रकार का विभाजन किया जाता है । अपने इस चतुर्विध विभाग की सम्पुष्टि में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि की सम्मति प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं—

'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति भाष्यकारः[१] ।

---

१. का० प्र० २, पृ० ४५ ।

इस विभाजन के अनुसार वस्तु के प्राणप्रद धर्म का नाम **'जाति'** और उसके विशेषाधान धर्म को **'गुण'** कहा है; परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन' में शुक्ल आदि रूप के समान 'परिमाण' को भी गुण माना है। उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि २४ गुणों में परिमाण की भी गणना की गयी है। यह परिमाण मुख्य रूप से 'अणु' तथा 'महत्' दो प्रकार का होता है; परन्तु उन दोनों के साथ 'परम' शब्द को जोड़कर एक भेद और हो जाता है। अर्थात् अणु-परिमाण के दो भेद हो गये–एक 'अणु-परिमाण' और दूसरा 'परम-अणु-परिमाण'। इसी प्रकार 'महत्-परिमाण' के भी एक 'महत्-परिमाण' तथा दूसरा 'परम-महत्-परिमाण' दो भेद हो जाते हैं। इनमें परम-अणु-परिमाण केवल परमाणुसंज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथिव्यादि द्रव्यों के सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयव में रहता है। इस 'परम-अणु-परिमाण' रूप सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है, विशेषाधान हेतु नहीं। इसलिए उनकी परिभाषा के अनुसार परम-अणु-परिमाण के वाचक 'परमाणु-परिमाण' शब्द को जाति शब्द मानना चाहिए; परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन' में उसका पाठ गुणों में किया गया है। इसका क्या कारण है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का उत्तर मम्मट ने यह दिया है कि परम-अणु-परिमाण वस्तुतः जातिवाचक शब्द ही है; परन्तु जैसे लोक में अन्य अर्थों में प्रसिद्ध 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दों का व्याकरणशास्त्र में विशेष अर्थ में प्रयोग होता है, उसी प्रकार वैशेषिक-दर्शन में परम-अणु-परिमाण की गणना गुणों में की गयी है। इसी बात को आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित पंक्ति में लिखा है—

परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्[1]।

जाति—जन् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर जातिशब्द की सिद्धि होती है, जिसके जन्म, उत्पत्ति, जन्म के अनुसार अस्तित्व का रूप, गोत्र, परिवार, वंश, श्रेणी, वर्ग, प्रकार, नस्ल, पशुजाति, पुष्पजाति आदि अर्थ होते हैं। आचार्य मम्मट ने वस्तु के प्राणप्रद सिद्ध धर्म को जाति कहा है। जैसा कि भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में कहा है—'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'। अर्थात् गौ स्वरूपतः न गौ होती है, न अगौ। गोत्व जाति के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है। इसलिए वस्तु का प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तुधर्म जाति कहलाता है।

---

१. का० प्र० २, पृ० ४६।

'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'[१] ।

इस कारिकांश में सङ्केतित अर्थ के विषय में १. जात्यादि और २. 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये गये हैं। इनमें से 'जात्यादि' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुयायी अलङ्कारशास्त्रियों का है और 'जातिरेव' का यह दूसरा पक्ष मीमांसकों का है। 'जात्यादि' रूप प्रथम पक्ष के अनुसार जात्यादि अर्थात् १. जाति, २. गुण, ३. क्रिया और ४. यदृच्छा रूप वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में सङ्केतग्रह होता है। इस पक्ष का आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' यह महाभाष्यकार का वचन है। इसलिए मम्मट ने इस प्रमाण को उद्धृत कर इन चारों को शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानने का उपपादन किया है।

'जातिरेव वा' यह मीमांसकों का मत है। उनका सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति या सङ्केतग्रह होता है। अर्थात् केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी जाति में ही सङ्केतग्रह मानना चाहिए। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति के कारण को 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया या यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे–शंख, दूध, वर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः, शुक्लः' यह अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है, इसका कारण 'शुक्लत्व-सामान्य' ही है। जाति का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। उसका लक्षण यह किया गया है—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत-एकाकार प्रतीति का हेतु सामान्य कहलाता है। जैसे दस घट व्यक्तियों में 'घटः घटः' इस अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्वसामान्य' माना जाता है, उसी प्रकार दस जगह रहने वाले शुक्ल गुण में जिसके कारण 'शुक्लः शुक्लः' यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है, वह 'शुक्लत्वसामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों के पाक में रहने वाली पाक-क्रिया में 'पाकः पाकः' इस अनुगत प्रतीति का कारण 'पाकत्वसामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित यदृच्छा शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण भिद्यमान उनके अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति-शब्दों के समान शेष तीनों में भी जाति में ही सङ्केतग्रह मानना चाहिए और जाति को ही उन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानना चाहिए।

---

१. का० प्र० २.८ ।

जाति या सामान्य के लक्षण में दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह सामान्य ही अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीति का कारण होता है। दूसरी बात यह कि वह नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है। **'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्'** यह भी सामान्य का दूसरी तरह से लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादि को 'सामान्य' मानने में कोई कठिनाई नहीं होती है; क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्लादि गुणों के एकरूप होने का जो प्रतिपादन किया गया था, मीमांसक उस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल आदि को अभिन्न मानना अनुभव के विपरीत है; क्योंकि उनकी शुक्लता की प्रतीति में अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमे अनुगत प्रतीति का कारण शुक्लत्व-सामान्य का मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में भी पारमार्थिक भेद होने के कारण उनमें पाकत्व आदि जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानना ही उचित है। इसलिए, जाति शब्दों के समान गुणशब्द, क्रियाशब्दों में भी जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानकर उसी में सङ्केतग्रह मानना उचित है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

यदृच्छा शब्दों में जाति का उपपादन

सामान्य जाति के उक्त लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' का समावेश होने के कारण यदृच्छा शब्दों में जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानने में थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है। इसलिए उसके समाधान का विशेष मार्ग निकालना पड़ा। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द अनेक व्यक्तियों के वाचक नहीं, अपितु केवल एक-व्यक्ति-वाचक रूढ़ शब्द होते हैं। उसमें 'अनेकसमवेतत्व' न रहने से जाति की कल्पना कैसे की जाय। जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहने वाला 'अनेकसमवेत' धर्म और यदृच्छा शब्दों में स्फोटरूप शब्द भी एक है और उसका वाच्यार्थ व्यक्तिविशेष भी एक है, तब उसमें जाति की कल्पना कैसे की जाय।

यह एक शङ्का हो सकती है। इसका समाधान करने के लिए मीमांसकों ने उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से शब्दों में और प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि या ह्रास-रूप परिवर्तन के आधार पर व्यक्तियों में भेद की कल्पना की है। अर्थात् बाल, वृद्ध, शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जाने वाले 'डित्थ' या 'देवदत्त' आदि एकव्यक्तिवाचक शब्द-व्यक्तियों में अनेकत्व मानकर **'प्रतिक्षण-परिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः'** एकमात्र चेतन आत्मा को छोड़कर

सारे पदार्थों में परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण यदृच्छा शब्दों के वाच्यार्थ व्यक्तियों में भी भेद की कल्पना करके उनमें अनुगत प्रतीति के कारण रूप में जाति को माना जा सकता है । अत: यदृच्छा शब्दों का सङ्केतग्रह भी जाति में मानना चाहिए ।

इस प्रकार मीमांसक जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा इन चार के स्थान पर केवल एक जाति में ही सङ्केतग्रह मानते हैं । मम्मटाचार्य ने अपनी उक्त कारिका में 'जातिरेव वा' लिखकर उसी मीमांसक मत का प्रदर्शन किया है । उसी मीमांसक मत का उपपादन करते हुए वे लिखते हैं—

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते.... सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये[१] ।

जातिमान्—जाति शब्द से मतुप् प्रत्यय करके जातिमान् शब्द निष्पन्न होता है । जातिविशिष्ट व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानना चाहिए, यह नैयायिकमत है । इसे आचार्य मम्मट ने 'तद्वान् शब्दार्थ' कहकर दिखलाया है । तद्वान् का अर्थ जातिमान् है । नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में । केवल व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं, तो केवल जाति में सङ्केतग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है । जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाय, तो उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकेगा । 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द-शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है । आक्षेपलभ्य अर्थ शाब्दबोध में अन्वित नहीं हो सकता है । इसलिए नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता । इसलिए 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ:'[२] जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है, यह नैयायिक सिद्धान्त है ।

अपोह—सङ्केतग्रह के विषय में वैयाकरण, आलङ्कारिक, मीमांसकों के अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि अन्य दार्शनिकों ने भी विचार किया है । बौद्ध के मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' होता है । अपोह का अर्थ अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व है । अर्थात् दश घट व्यक्तियों में जो 'घट: घट:' इस

१. का० प्र० २, पृ० ४६,४८ ;   २. न्यायसूत्र–२.२.६८ ।

प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अघटव्यावृत्ति या घटभिन्न-भिन्नत्व है। प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटाभिन्न सारे जगत् से भिन्न है। इसलिए उसमें 'घट: घट:' यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ होता है। 'अपोहो वा शब्दार्थ:' कहकर आचार्य मम्मट ने बौद्धमत को उपस्थापित किया है। (तृतीय अध्याय का देखें अपोह शब्द)

उपादानलक्षणा—उपादानेनेयं लक्षणा, उपादानलक्षणा। उप और आङ् उपसर्गपूर्वक दा धातु से ल्युट् करके उपादान शब्द निष्पन्न होता है। वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का उपादान (ग्रहण या आक्षेप) किया जाता है, वहाँ उपादानलक्षणा होती है। 'कुन्ता: प्रविशन्ति' (भाले घुस रहे हैं) और 'यष्टय: प्रविशन्ति' (लाठियाँ घुस रही हैं) इत्यादि वाक्यों में कुन्त आदि पदों के द्वारा अपने अचेतन रूप में प्रवेश क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त अर्थात् कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप द्वारा बोध कराया जाता है। इसलिए स्वार्थ का परित्याग किये विना अन्य अर्थ के ग्रहणरूप अथवा स्वार्थ के ग्रहणरूप उपादान से यह लक्षण है, अत: उपादानलक्षणा है।

आचार्य मम्मट मुकुलभट्ट तथा मण्डन मिश्र आदि मीमांसकों द्वारा किये गये 'उपादानलक्षणा' के दो उदाहरणों का खण्डन करते हैं। मुकुलभट्ट काव्यप्रकाशकार के कुछ पहले हुए हैं। उनका एकमात्र ग्रन्थ **'अभिधावृत्तिमातृका'** इस समय उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों के स्थान पर प्रतिपादित अभिधा शक्ति को ही मानने का सिद्धान्तरूप से प्रतिपादन किया है। अभिधा के उन्होंने दस भेद माने हैं। इनमें जात्यादि चार प्रकार के अर्थों के बोधक चार प्रकार की अभिधा शक्ति तथा लक्षणा के छ: भेदों का भी अभिधा में अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधा शक्ति उन्होंने सिद्ध की है। व्यञ्जना के सब भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के छ: भेदों में कर लिया है। इस तरह दस तरह की अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है, यह बात उन्होंने सिद्ध की है। ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्[१]।

---

१. अभिधावृत्तिमातृका, १३।

इस ग्रन्थ में उन्होंने 'उपादानलक्षणा' के 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण दिये हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' इस वैदिक प्रयोग में पद में उपादानलक्षणा का उदाहरण है। उसका अर्थ 'गाय को बाँधना चाहिए' यह होता है। यज्ञ में गौ के उपाकरण आदि द्वारा पूजन के लिए यहाँ इस बाँधने का विधान किया गया है। दूसरे लोग 'अनुबन्ध्यः' का अर्थ 'आलम्भः' 'हन्तव्यः' मारना चाहिए, यह करते हैं। जैसे कि कहा जा चुका है, इसलिए गौ शब्द का वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति होता है। उस जाति में बन्धन अथवा आलम्भनरूप क्रिया सम्भव नहीं है, इसलिए मुख्यार्थ का बोध होता है। तब गौ शब्द बन्धन के साथ अपने 'गोत्व' जातिरूप अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए व्यक्ति का आक्षेप से बोध कराता है। इसलिए यह पद में उपादानलक्षणा है। यह मुकुलभट्ट या मीमांसकों का अभिप्राय है।

मुकुलभट्ट के 'उपादानलक्षणा' के उदाहरण का खण्डन करने के लिए काव्यप्रकाशकार पहले उनका अनुवाद करते हुए उनका खण्डन करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' के विषय में मुकुलभट्ट के मत का अनुवाद करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं—

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि वाक्य में श्रुति में प्रतिपादित किया हुआ मेरा अर्थात् गौ शब्द के मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति का 'अनुबन्धन' कैसे बन सके, इसके उपपादन के लिए मुख्यार्थ जाति से अमुख्यार्थभूत व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है; क्योंकि गोत्वरूपी विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई अभिधाशक्ति किसी भी प्रकार से गोव्यक्तिरूप विशेष्य का बोध नहीं करा सकती है—**'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'**। अतः उस विशेष्यभूत गो-व्यक्ति का बोध उपादानलक्षणा द्वारा होता है।

आगे उसका खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—यह उपादानलक्षणा का उदाहरण मुकुलभट्ट को नहीं देना चाहिए; क्योंकि यहाँ लक्षणा के प्रयोजन रूढि तथा प्रयोजनरूप दो मुख्य हेतुओं में से न तो कोई विशेष प्रयोजन ही है और न यह रूढि है; किन्तु व्यक्ति के विना जाति रह नहीं सकती, इसलिए अविनाभाव के कारण जाति से व्यक्ति का अनुमान आक्षेप द्वारा किया जाता है, अतः यह लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता है।

मुकुलभट्ट ने इसी प्रकार उपादानलक्षणा का दूसरा उदाहरण 'पीनो देव-दत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह दिया है। इस उदाहरण में विशेषता यह है कि यह

'पदलक्षणा' के बजाय **'वाक्यलक्षणा'** का उदाहरण है। मीमांसक लोग **'अर्थ-वाद'** वाक्यों की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर वाक्य में भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' इस उदाहरण में गोपद में लक्षणा थी, तो यहाँ पूरे वाक्य में लक्षणा है, इस दृष्टि से यह उदाहरण दिया गया है। इस उदाहरण में लक्षणा का खण्डन करते हुए काव्यप्रकाशकार ने रात्रिभोजन को 'श्रुतार्थापत्ति' अथवा 'अर्थार्थापत्ति' का विषय बतलाया है। अर्थात् यहाँ रात्रि-भोजन का ज्ञान लक्षणा से नहीं, अपितु अर्थापत्ति-प्रमाण से होता है। इसलिए यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता है।

अर्थापत्ति—मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के समान अर्थापत्ति को भी अलग प्रमाण मानते हैं और उसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—**'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः'**। इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ देवदत्त मोटा है, यह अनुपपद्यमान अर्थ है, और रात्रि-भोजन उसका उपपादकीभूत अर्थ है। यदि देवदत्त दिन में न खाय और रात्रि में भी न खाय, तो यह मोटा नहीं हो सकता है। दिन में न खाने वाला व्यक्ति रात्रिभोजन के विना पीन नहीं हो सकता। इसलिए अनुप-पद्यमान अर्थ दिवा अभुञ्जान के पीनत्व को देखकर उसके उपपादक रात्रिभोजन की कल्पना अर्थापत्ति के द्वारा होती है।

यह अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—एक **'दृष्टार्थापत्ति'** और दूसरी **'श्रुतार्थापत्ति'**। जहाँ अनुपपद्यमान अर्थ को स्वयं आँखों से देखकर उसके उप-पादक अर्थ की कल्पना की जाती है, वह **'दृष्टार्थापत्ति'** कहलाती है और जहाँ किसी अन्य के मुख से अनुपपद्यमान अर्थ को सुनकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, वह **'श्रुतार्थापत्ति'** कहलाती है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यही दोनों प्रकार की अर्थापत्तियों का उदाहरण बन सकता है।

यहाँ आचार्य मम्मट ने दृष्टार्थापत्ति के स्थान पर अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग पूर्वोक्त अर्थाध्याहारवाद की दृष्टि से किया गया है। श्रुतार्थापत्ति पक्ष में यहाँ रात्रिभोजन का ज्ञान 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द के अध्याहार से होता है और अर्थापत्ति पक्ष में शब्द का अध्याहार न करके साक्षात् रात्रिभोजनरूप अर्थ का आक्षेप से ज्ञान होता है। इस प्रकार इन दोनों

मीमांसक-सिद्धान्तों की दृष्टि से आचार्य मम्मट ने **श्रुतार्थापत्ति** तथा **अर्थार्थापत्ति** शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे कि उन्होंने कहा है—

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र भोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

अध्याहार—अधि और आङ् उपसर्गपूर्वक हृधातु से घञ् करके अध्याहार शब्द की सिद्धि की जाती है। असम्पूर्ण रूप से प्रयुक्त वाक्य में पूरक रूप से जिन अंशों की अपेक्षा रहती है, उनकी पूर्ति 'अध्याहार' या 'आक्षेप' के द्वारा की जाती है। अध्याहार के विषय में मीमांसकों में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुमारिलभट्ट 'शब्दाध्याहारवाद' के मानने वाले हैं और उनके शिष्य प्रभाकर 'अर्थाध्याहारवाद' के समर्थक हैं। काव्यप्रकाश में अध्याहार के चार उदाहरण दिये गये हैं-क्रियताम्, कुरु, प्रविश, पिण्डीम्। इनमें पहले दो शब्दाध्याहारवादी प्रभाकर के अभिप्राय से और अन्तिम दो शब्दाध्याहारवादी भट्टमत के अभिप्राय से दिये गये हैं। 'क्रियताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रियापद हैं। उनमें पहली जगह कर्ता 'त्वया' की और दूसरी जगह कर्म 'पाकम्' आदि की अपेक्षा है। इन दोनों की पूर्ति अध्याहार अथवा आक्षेप से की जाती है; किन्तु वहाँ कर्ता या कर्म पदों का अध्याहार न होकर उनके अर्थों का अध्याहार किया जाता है, इसलिए वे 'अर्थाध्याहारवाद' के पोषक उदाहरण हैं। इसके विपरीत 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इन दोनों उदाहरणों में अपेक्षित 'गृहम्' तथा 'भक्षय' इन पूरक अंशों का शब्दरूप में अध्याहार किया जाता है। इसलिए ये दोनों 'शब्दाध्याहार' के उदाहरण हैं। आचार्य मम्मट ने इन उदाहरणों को इसीलिए प्रस्तुत किया है कि जिस तरह यहाँ कर्ता या कर्म के विना क्रिया-पदों का अन्वय सम्भव न होने से अविनाभाव द्वारा उन पदों या उनके अर्थों का अध्याहार या आक्षेप किया जाता है, उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्य:' आदि उदाहरणों में व्यक्ति के विना जाति नहीं रह सकती है, इसलिए अविनाभाव द्वारा जाति से व्यक्ति का 'अध्याहार' या 'आक्षेप' किया जाता है। व्यक्ति का बोध लक्षणा से नहीं होता है। अत: इसको उपादानलक्षणा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है।

गौणी लक्षणा—गुण से अण् और ङीप् प्रत्यय करने पर गौणी शब्द निष्पन्न होता है। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है, उसे गौणी लक्षणा

कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—सारोपा और साध्यवसाना। जैसा कि मम्मट ने कहा है—

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ...............[१]।।

मम्मट ने 'गौर्वाहीकः' सारोपा लक्षणा के और 'गौरयम्' साध्यवसाना गौणी लक्षणा के उदाहरण दिये हैं। लक्षणा के अन्य उदाहरणों के समान इन दोनों को भी मम्मट ने 'पुंयोगादाख्यायाम्'[२] सूत्र के महाभाष्य से उद्धृत किया है। वाहीक किसी देश का नाम था। ऐसा जान पड़ता है, भारत की उत्तरी सीमा के परे 'अपगानस्थान' अफगानिस्तान आदि देश उन दिनों वाहीक नाम से व्यवहृत होते थे। अन्य लोग 'बहिर्भवो बाहीकः' व्युत्पत्ति के आधार पर शास्त्रीय आचार का पालन न करने वाले को बाहीक कहते हैं। 'बहिषष्टिलोपो यच्च', 'इकक् च'[३] इन दो वार्तिकों द्वारा बहिः शब्द के टि भाग का लोप और ईकक् प्रत्यय करके 'बवयोरभेदः' के सिद्धान्त के अनुसार ब-व का अभेद मानकर बाहीक शब्द सिद्ध होता है। इसलिए उसकी दोनों प्रकार की व्याख्या की जा सकती है। यहाँ भी आरोप्यमाण (उपमान) गौ और बाहीक आरोपविषय (उपमेय) है। दोनों का सामानाधिकरण्य में शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्य में है। इसलिए दोनों स्वरूप के अनपह्नुत होने के कारण यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण है। इसके विपरीत 'गौरयम्' में आरोपविषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौ के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इसलिए वह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने के कारण दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। 'गौरयम्' में 'अयम्' पद से आरोपविषय का सङ्केत मिल जाने से वह साध्यवसाना का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। उसके स्थान पर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है।

'गौर्जल्पति' आदि गौणी साध्यवसाना के उदाहरणों में तीन मतों को प्रस्तुत किया गया है; परन्तु वे किन-किन आचार्यों या सम्प्रदायों के मत हैं, इसका कोई निर्देश नहीं किया गया है और इन मतों की खण्डन-मण्डनात्मक अपनी कोई टिप्पणी भी नहीं दी है; परन्तु उनके टीकाकारों ने अन्तिम मत को उनका अपना मत कहा है। अन्तिम मत के साथ आचार्य मम्मट ने 'इत्यपरे'

---

१. का० प्र० २.१२ ;   २. अष्टाध्यायी–४.१.४८।
३. वहीं–४.१.८५ पर वार्तिक।

इस पद का प्रयोग किया है । टीकाकारों ने इस 'अपरे' पद का 'न परे इति अपरे' इस प्रकार का समास करके उसका अर्थ 'स्वीय' किया है । इस प्रकार इस मत को 'स्वीय' अर्थात् अपने लोगों का मत टीकाकारों ने बतलाया है; परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है । जैसा पहले कहा जा चुका है, मम्मट तथा अन्य साहित्यशास्त्रियों ने अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त व्याकरणशास्त्र से ही लिये हैं । इसलिए उनके 'स्वीय' वैयाकरण ही हो सकते हैं । पर काव्यप्रकाश-कार ने इस अन्तिम मत के समर्थन के लिए आगे 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीति-र्लक्षणोच्यते' आदि जो कारिका उद्धृत की है, वह कुमारिलभट्ट की अर्थात् मीमांसकों की कारिका है । उसको यहाँ उद्धृत करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मत मीमांसकों का है । 'अपरे' पद की 'स्वीया' व्याख्या करने वालों ने 'स्वोक्तेऽर्थे पूर्वमीमांसकसम्मतिमाह' लिखकर इस मत का समर्थन मीमांसक मत के द्वारा कराया है; परन्तु जब मम्मट अन्य जगह वैयाकरणों के सिद्धान्त का अनुसरण करते रहे हैं, तो यहाँ उसको छोड़कर मीमांसक मत का अनुसरण क्यों कर रहे हैं, इस बात की सङ्गति नहीं लगती है । इसलिए 'अपरे' की 'स्वीया' व्याख्या करना उचित नहीं जँचता है । अत: अन्तिम मत को मींमासकों का मानना चाहिए ।

मम्मट ने अपने शक्तिविवेचन के प्रकरण में मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्ति-मातृका' का बहुत अधिक उपयोग किया है । उन्होंने पहले मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' का खण्डन करने के लिए 'शब्दव्यापारविचार' नामक अपने एक छोटे से प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें मुकुलभट्ट के मत से जिन अंशों में वे असहमत थे, उनका खण्डन किया था । शेष जिन अंशों में उनका मतभेद नहीं था, उनका मुकुलभट्ट के आधार पर अपने ग्रन्थ में विवेचन कर दिया था । काव्यप्रकाश में यह जो शक्तियों के विवेचन का प्रकरण चल रहा है, वह सब मम्मट के उसी 'शब्दव्यापारविचार' के आधार पर लिया गया है । अधिकांश पंक्तियाँ ज्यों की त्यों 'शब्दव्यापारविचार' से उद्धृत कर दी गयी हैं । इसलिए लक्षणा के इस विवेचन में भी 'काव्यप्रकाश' पर मुकुलभट्ट की छाया पड़ी है । ऊपर उपादानलक्षणा के मुकुलभट्ट द्वारा दिये गये दो उदाहरणों का मम्मट ने जो खण्डन किया है, उससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकरण के लिखते समय मुकुलभट्ट का ग्रन्थ उनकी दृष्टि में था और उसकी छाया उनके इस विवेचन पर पड़ रही है । इसलिए यद्यपि उन्होंने यहाँ मुकुलभट्ट का नाम नहीं लिया है और न ही ठीक उनके शब्दों में उनके मत को

उपस्थित किया है, फिर भी यह उनके मत का ही उल्लेख प्रतीत होता है; परन्तु यहाँ मम्मट ने उनके मत को अपना लिया है । अत: वह उनका भी मत बन गया है ।

'गौरयम्' (गौर्जल्पति) इस विषय में मम्मट ने तीन पक्षों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

१. 'गौरयम्' आदि उदाहरणों में गो शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाड्य, मान्द्य (मूर्खता, आलस्य) आदि गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी गो शब्द के द्वारा बाहीकरूप दूसरे अर्थ को अभिधा से बोधित कराने में प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते हैं । यह कोई विवेचक कहते हैं ।

२. गो शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाड्य, मान्द्य आदि गुणों से अभिन्न रूप में बाहीकगत गुण ही लक्षित होते हैं; परन्तु वे बाहीक अर्थ के अभिधया बोधन में प्रवृत्तिनिमित्त नहीं होते हैं, यह अन्य मानते हैं ।

३. गौ तथा बाहीक दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से बाहीक अर्थ ही लक्षणा से उपस्थित होता है, यह अन्य लोग अर्थात् मुकुलभट्ट और मीमांसक मानते हैं ।

संवित्ति—सम् उपसर्गपूर्वक विद् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर संवित्ति शब्द सिद्ध होता है । आचार्य मम्मट प्रयोजनविशिष्ट लक्षणा के खण्डन के प्रसङ्ग में कहते हैं कि प्रयोजनविशिष्ट लक्षणा मानना सङ्गत नहीं है; क्योंकि ज्ञान का विषय घट आदि अलग और ज्ञान का फल नैयायिक के मत में संवित्ति (अनुव्यवसाय) तथा मीमांसक के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग कहे गये हैं । जैसा कि उन्होंने कहा है—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।
प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषयः फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा[1] ।।

यहाँ नैयायिक के संवित्ति या अनुव्यवसाय के सिद्धान्त को जान लेना उपयुक्त होगा ।

न्याय-सिद्धान्त के अनुसार पहले विषय से उसका ज्ञान उत्पन्न होता है । घट या नील आदि विषयों का ग्रहण तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हो जाता है; परन्तु ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है, इस प्रश्न के समाधान के लिए नैयायिक

---

१. का० प्र० २.१८ ।

संवित्ति या अनुव्यवसाय मानते हैं। अनुव्यवसाय का अर्थ 'ज्ञान का ज्ञान' है। पहले 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है। उसके बाद 'घटज्ञानवान-हम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इनमें से 'यह घट है' इस प्रकार का पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' ज्ञान कहलाता है और इसके बाद का 'मैं घट को जानता हूँ' या 'मुझे घट-ज्ञान होता है' यह दूसरा ज्ञान 'अनु-व्यवसाय' कहलाता है। 'अयं घटः' इस प्रथम ज्ञान का विषय घट होता है और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवानहम्' इस दूसरे ज्ञान का विषय 'घटज्ञान' है। जैसे पहला 'व्यवसायात्मक ज्ञान' अपने विषय घट से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार दूसरा ज्ञान अपने विषय 'व्यवसायात्मक' घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिए वह 'अनुव्यवसाय' कहलाता है। यह अनुव्यवसाय घटज्ञान का फल है। अर्थात् घटज्ञान के विषय घट से उस घटज्ञान का फल 'अनुव्यवसाय' भिन्न है। इसलिए विषय तथा ज्ञान के फल को अलग-अलग मानना होगा और उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। यह न्यायसिद्धान्तानुसार सिद्ध होता है।

ज्ञातता—ज्ञा धातु से क्त और तल् प्रत्यय करके ज्ञातता शब्द निष्पन्न होता है। यह एक पारिभाषिक शब्द है। मीमांसक ज्ञान के ज्ञान के लिए 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है। यह धर्म ज्ञान से पहले घट में नहीं था, ज्ञान होने के बाद आया है। इसलिए वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उसका कारण है। कारण के विना कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ज्ञान के विना 'ज्ञातता' धर्म भी घट में उत्पन्न नहीं हो सकता है; परन्तु ज्ञातता धर्म घट में उत्पन्न हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति में भास रहा है, इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार ज्ञातता की 'अन्यथा अनुपपत्ति' होने के कारण ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

नैयायिकों ने 'अयं घटः' इस ज्ञान के होने के बाद उससे 'घटज्ञानवान-हम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादिरूप अनुव्यवसाय की उत्पत्ति मानी है। नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसकों की 'ज्ञातता' दोनों ही 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होते हैं; परन्तु नैयायिक का 'अनुव्यवासाय' आत्मा में रहने

वाला धर्म है और मीमांसक की 'ज्ञातता' घट आदि विषय में रहने वाला धर्म है, यही दोनों में भेद है । इन दोनों मतों को आचार्य मम्मट ने अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है । उनके कहने का अभिप्राय यह है कि जब यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि ज्ञान का विषय और उसका फल अलग-अलग होते हैं, तब लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और उसका फल पुण्यत्व, मनोहरत्व या शैत्यपावनत्वादि भी अलग-अलग मानने होंगे और उनकी उत्पत्ति समकाल में मानना सम्भव नहीं होगा । अत एव विशिष्टलक्षणा का सिद्धान्त भी नहीं माना जा सकता है ।

संयोगादि—संयोगः आदौ येषां ते संयोगादयः । संयोग शब्द सम् उपसर्गपूर्वक युज् धातु से घञ् करने पर बनता है, जिसका अर्थ सम्यक् योग का सम्बन्ध है । आचार्य मम्मट ने संयोगादि शब्द का प्रयोग अभिधामूला व्यञ्जना के निरूपण में किया है । यह व्यञ्जना वृत्ति 'शाब्दी व्यञ्जना' तथा 'आर्थी व्यञ्जना' भेद से दो प्रकार की मानी गयी है । इनमें से शाब्दी व्यञ्जना के भी अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यञ्जना ये दो भेद किये गये हैं । उसी अभिधामूला व्यञ्जना का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यावृत्तिरञ्जनम्[१] ।।

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उस प्रतीति को कराने वाला शब्दव्यापार 'अभिधामूला व्यञ्जना' नाम से कहा जाता है । अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि का क्या अभिप्राय है ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए आचार्य मम्मट आदि साहित्याचार्यों ने अपने व्याकरणानुगत सिद्धान्त के अनुसार भर्तृहरिप्रणीत व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीयम्' से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, जो निम्नलिखित हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

---

१. का० प्र० २.१९ ।

अर्थात् उपर्युक्त १४ संयोग आदि अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं। इस सबके उदाहरण भी दिखलाये गये हैं।

उत्पत्तिवाद—उत्पत्तेः वादः उत्पत्तिवादः। उत् उपसर्गपूर्वक पत् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके उत्पत्ति शब्द और वद् धातु से घञ् करके वाद शब्द निष्पन्न होता है। उत्पत्ति के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद कहते हैं। भरतसूत्र के व्याख्या-कारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं। रस की निष्पत्ति का सर्व-प्रथम उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही सारे रस-सिद्धान्त की आधारभित्ति है। भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या में ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी है, जिसके परिणामस्वरूप १. उत्पत्तिवाद, २. अनुमितिवाद, ३. भुक्तिवाद और ४. अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों (व्यभिचारिभावों) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** इस भरतसूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है, उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति', शङ्कुक के मत में 'अनु-मिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' और अभिनवगुप्त के मत में 'निष्पत्ति' शब्द से 'अभिव्यक्ति' का ग्रहण होता है।

इन चारों आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या को रससूत्र के सभी व्याख्या-कारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी उद्धृत किया है। इन चारों आचार्यों द्वारा की जाने वाली यह व्याख्या अभिनवगुप्तरचित भरतनाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका से ली गयी है। 'अभिनवभारती' में यह सब प्रकरण बहुत लम्बा तथा कठिन है। मम्मट ने उसका सारांश संक्षिप्त रूप से उपस्थित कर दिया है, इतना ही अन्तर है।

भट्टलोल्लट के मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करने वाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं। अतः स्थायिभाव के साथ विभावों का पोष्य-पोषक-भाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरतसूत्र में जो संयोग शब्द आया है, भट्टलोल्लट के मत में उसके

भी तीन अर्थ हैं । विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध, अनुभावों के साथ गम्यगमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध 'संयोग' शब्द का अर्थ होता है । इस व्याख्या के अनुसार इस मत में भरतसूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का भी तीन अर्थ क्रमशः 'जनितः' 'प्रतीतियोग्यकृतः' तथा 'उपचितः' इन तीन पदों का प्रयोग किया गया है । दूसरी बात यह है कि इस मत में रस मुख्यरूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है और उनका अनुकर्ता होने से गौणरूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है; परन्तु सामाजिक में रस की निष्पत्ति नहीं होती है । तीसरी बात यह है कि जैसे भरतसूत्र में आये हुए 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ माने गये हैं, उसी प्रकार 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ हो जाते हैं । विभाव के साथ स्थायिभाव का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् उत्पत्ति होती है । यहाँ निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति होता है । अनुभावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होने पर रस की निष्पत्ति अर्थात् प्रतीति होती है । यहाँ निष्पत्ति का अर्थ प्रतीति होता है और व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् 'पुष्टि' होती है । यहाँ निष्पत्ति शब्द का अर्थ पुष्टि होता है ।

इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है । मीमांसा से यहाँ 'उत्तरमीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' का ग्रहण करना चाहिए । वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है । जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अभिनय आदि के समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है । इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तरमीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुयायी सिद्धान्त कहा जा सकता है । इस व्याख्या के करने वाले 'भट्टलोल्लट' मीमांसक पण्डित थे ।

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्यरूप से अनुकार्य तथा गौणरूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है; परन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है, इस समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है । दूसरी बात यह है कि

अनुकार्य सीता-राम आदि तो अब इस जगत् में नहीं हैं । अत: इस समय किये जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है । इसलिए उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । ये दो इस व्याख्या के मुख्य दोष हैं । इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्यों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई ।

अनुमितिवाद—अनु उपसर्गपूर्वक मा धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर अनुमिति शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—दिये हुए कारणों से किसी निर्णय पर पहुँचना, वह ज्ञान, जो निगमन द्वारा या न्यायसङ्गत तर्क द्वारा प्राप्त हो । अनुमिते: वाद: अनुमितिवाद:, अर्थात् अनुमिति का सिद्धान्त । भरतसूत्र के व्याख्याकार श्रीशङ्कुक इस अनुमितिवाद के प्रतिष्ठाता हैं, जो न्याय-सिद्धान्त का अनुगामी है । इस व्याख्या में उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया है । इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिम रूप से अनुभाव आदि का प्रकाशन करता है; परन्तु उसके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता की प्रतीति होती है । उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक नट में वस्तुत: विद्यमान न होने पर भी उसमें रस का अनुमान कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है । शङ्कुक की इस व्याख्या को काव्यप्रकाशकार आदि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है ।

शङ्कुक के 'अनुमितिवाद' को न्यायमतानुसारी सिद्धान्त माना गया है । इसका कारण उसका अनुमिति-प्रधान होना ही है । न्यायशास्त्र अनुमितिप्रधान शास्त्र है । विशेषरूप से नव्यन्याय के आचार्यों ने तो अपनी सारी शक्ति अनुमान के परिष्कार में ही लगा दी है । न्याय की इस 'अनुमितिप्रधान' प्रक्रिया के आधार पर ही शङ्कुक ने अपने 'अनुमितिवाद' की स्थापना की है । इसलिए उसको न्यायमतानुसारी सिद्धान्त कहा जाता है ।

श्रीशङ्कुक के मत की न्यूनता

श्रीशङ्कुक ने सामाजिक में रसप्रतीति का उपपादन करने का प्रयत्न अवश्य किया है; परन्तु वह पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक नहीं बन पड़ा है । उनकी प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के साथ कृत्रिम स्थायिभाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम राम-सीता-विषयक रति का अनुमान होता है; परन्तु उससे सामाजिक की रसानुभूति की

समस्या हल नहीं होती है । सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है, इसका उपपादन करना चाहिए । रसानुभव में इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का उपपादन अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता है । अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं । फिर वह अनुमिति भी कैसी जो सब कुछ कृत्रिम है । इसलिए अनुमितिवाद के आधार पर रसास्वादन का ठीक तरह से उपपादन नहीं किया जा सकता है । यही अनुमितिवाद का सबसे बड़ा दोष है ।

भुक्तिवाद—भुज् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भुक्ति शब्द बनता है, जिसका खाना, भोग करना अर्थ होता है । ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों की दैनिक गति को भी भुक्ति कहा गया है । भुक्तेः वादः भुक्तिवादः । साहित्यशास्त्र में 'भुक्तिवाद' नामक सिद्धान्त भरतमुनि के रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्ट-नायक का है । उन्होंने सामाजिक को होने वाली साक्षात्कारात्मक रसानुभूति के उपपादन के लिए एक नये मार्ग का अवलम्बन किया है । उसका आशय यह है कि रस की निष्पत्ति न अनुकार्य राम आदि में होती है और न अनुकर्ता नट आदि में । अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों तटस्थ हैं, उदासीन हैं । उनको रसानुभूति नहीं होती है । वास्तविक रसानुभूति सामाजिक को होती है । उसका उपपादन पूर्व के किसी अन्य व्याख्याकार ने नहीं किया है । भट्टनायक का कहना है कि 'न ताटस्थ्येन रस उत्पद्यते, न प्रतीयते', ताटस्थ्य में, अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्तृगत रूप से न रस की उत्पत्ति होती है और न प्रतीति या अनुमिति होती है । यहाँ 'न उत्पद्यते' से भट्टलोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' का और 'न प्रतीयते' से शङ्कुक के 'अनुमितिवाद' का निराकरण किया गया है । भट्टनायक के अनुसार अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभिव्यक्ति सदा पूर्व से विद्यमान वस्तु की ही होती है । रस अनुभूतिस्वरूप है । अनुभूतिकाल से पहले या पीछे उसकी सत्ता नहीं है । 'आत्मगतत्वेन नाभि-व्यज्यते'–आत्मगत अर्थात् सामाजिकगत रस अभिव्यक्त नहीं होता है, इससे अभिव्यक्तिवाद का खण्डन किया है । इस प्रकार भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और अभिव्यक्तिवाद का खण्डन करके अपने भुक्तिवाद की स्था-पना की है ।

भट्टनायक ने अपने भुक्तिवाद की स्थापना करने के लिए शब्द में स्वी-कृत अभिधा और लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त **'भावकत्व'** तथा **'भोजकत्व'** रूप दो नये व्यापारों की कल्पना की है । उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणा से जो

काव्य का अर्थ उपस्थित होता है, उसको शब्द का 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है । काव्य से जो अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित होता है, वह एक विशेष नायक और विशेष नायिका की प्रेम-कथा आदि के रूप से व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध होता है । इस रूप में सामाजिक के लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है । शब्द का 'भावकत्व' व्यापार इस कथा में परिष्कार कर उससे व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है । उस साधारणीकरण के बाद सामाजिक का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । अपनी रुचि या संस्कार के अनु-रूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है । इस प्रकार असली नायक, नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा सामाजिक को लगभग वही स्थान मिल जाता है । यह शब्द के भाव-कत्व नामक दूसरे व्यापार का प्रभाव हुआ ।

भट्टनायक के अनुसार इस 'भावकत्व' व्यापार से काव्यार्थ का 'साधारणी-करण' हो जाता है, तब शब्द का 'भोजकत्व' नामक तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है । यही भट्टनायक का 'भोज-कत्व' सिद्धान्त है, जो 'भुक्तिवाद' कहलाता है । इस प्रकार भट्टनायक ने शब्द में अभिधा, लक्षणा आदि के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारों की कल्पना कर सामाजिक की रसानुभूति का उपपादन करने का प्रयत्न किया है ।

भट्टनायक के मत की न्यूनता

भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति के उप-पादन का अच्छा प्रयत्न किया है । पर उसमें उन्होंने शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है, वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायीभाव का 'भोग' बतलाया है, वह राम-सीता आदिगत स्थायिभाव है या नटगत अथवा सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है । इसलिए मुख्यरूप से अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापार पर आश्रित होने से भट्टनायक का यह 'भुक्तिवाद' विद्वानों में आदर प्राप्त न कर सका ।

भुक्तिवाद सांख्यमतानुयायी

भट्टनायक के इस भुक्तिवाद को व्याख्याकारों ने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना है । इस सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त का अनुयायी इस रूप में कहा जा

सकता है कि जैसे सुख-दु:ख आदि वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं; परन्तु पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामाजिक में न रहने वाले रस का भोग उसको होता है । इस सादृश्य के आधार पर ही इस सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त का अनुगामी कहा जा सकता है ।

अभिव्यक्तिवाद—अभि और वि उपसर्गपूर्वक अंज् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके अभिव्यक्ति शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ कारण का कार्य रूप में प्रकट होना, वैशिष्ट्य, दिखावा, प्रदर्शन आदि होता है–'सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये' (माल० १), 'दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते' (सा० द० ६) । अभिव्यक्तेः वादः अभिव्यक्तिवादः, अभिव्यक्ति का सिद्धान्त ।

भरतनाट्यशास्त्र के चतुर्थ किन्तु सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है । जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तरमीमांसा, श्रीशङ्कुक ने न्याय और भट्टनायक ने सांख्यसिद्धान्त के आधार पर अपने-अपने मतों की स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है । इसलिए इनका मत 'आलङ्कारिकसिद्धान्त' कहा गया है । उन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है । उसमें पहली बात तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है । मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्काररूप में रति आदि स्थायिभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है । वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभाव आदि सामग्री से अभिव्यक्त या उद्‌बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्दरूप में अनुभूत होता है । इस मत में भट्टनायक के समान शब्द में 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारों की कल्पना नहीं की गयी है; परन्तु भावकत्व व्यापार के स्थान पर 'साधारणीकरण' व्यापार, अभिधा तथा लक्षणा के साथ शब्द की 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति अवश्य मानी गयी है ।

अभिनवगुप्त के अनुसार लोक में जो कारण, कार्य तथा सहकारी कारण हैं, काव्य में आते ही उनका नाम विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव हो जाता है । यही साधारणीकरण है । इसके लिए अन्य कोई व्यापारान्तर की

कल्पना नहीं है। काव्यगत विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के संयोग से सामाजिक के अन्तःकरण में वासनारूप से स्थित रति आदि स्थायिभाव उद्बुद्ध रसरूप में परिणत हो जाते हैं। इसी बात को आचार्य मम्मट ने रसस्वरूप के वर्णन के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया है। यथा—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः[1] ॥

स्थायिभाव ही रस कहा गया है। यह स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप में रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का सञ्चार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है। ये स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं, इसलिए स्थायिभाव कहलाते हैं। सामान्यरूप से ये अव्यक्तावस्था में रहते हैं; किन्तु जब जिस स्थायिभाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। यह है अभिनवगुप्तकृत अलङ्कारशास्त्र का अभिमत अभिव्यक्तिवाद का सार-सिद्धान्त।

भक्तिरस—भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय कर भक्ति शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ वियोजन, पृथक्करण, प्रभाग, अंग, हिस्सा, उपासना, अनुरक्ति, सेवा, सम्मान आदि होता है। भक्तिश्चासौ रसः भक्तिरसः, बड़ों के प्रति अनुरक्ति ही भक्ति है। साहित्यशास्त्र में नव रस माने गये हैं। इन नव रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्तिरस को भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्र में न होकर धार्मिक क्षेत्र में हुई है। साहित्यशास्त्र में इसकी गणना देवादिविषयक रति के रूप में 'भाव' के अन्तर्गत की गयी है। उसे रस नहीं माना गया है; किन्तु गौडीय वैष्णव उसको अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्तिरस का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ

---

१. का० प्र० ४.२७-२८।

किया है। वे देवताविषयक रति को तो साहित्यशास्त्रियों के समान 'भाव' ही कहते हैं; किन्तु भक्तिरस का स्थायिभाव केवल श्रीकृष्णविषयक रति को मानते हैं। श्रीकृष्ण देवता नहीं, अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति देवविषयक रति से सर्वथा भिन्न है। इसलिए 'भक्तिरस' भाव के अन्तर्गत नहीं, अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। उसके आलम्बन केवल राम या कृष्ण, उद्दीपन भक्तों का समागम, तीर्थसेवन, नदी या एकान्त पवित्रस्थल आदि, भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन, गद्‌गद हो जाना, अश्रुप्रवाह, कभी नाचना, कभी हँसना या कभी रोना आदि अनुभाव तथा मति, ईर्ष्या, वितर्क आदि व्यभिचारिभाव हैं। विशेष जिज्ञासा के उपशम के लिए उन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

साहित्यशास्त्र में शास्त्रान्तरों के सिद्धान्तों को उपस्थापित कर यत्र तत्र अपने सिद्धान्तों को पुष्ट किया गया है, अथवा कुछ सिद्धान्त अनुकूल न होने के कारण उनका खण्डन कर अपने पक्ष को उपस्थापित किया गया है। इसमें कुछ न्यायों की चर्चा की जा सकती है। यथा—

चित्रतुरगन्याय—न्यायसिद्धान्त के अनुयायी श्रीशङ्कुक ने भरत के रस-सूत्र की व्यांख्या उपस्थित की है। उनका कहना है कि रस की अनुमिति में राम-सीता आदि विभावों की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। वे रसप्रतीति को सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य इन चार प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न पञ्चम प्रकार की प्रतीति मानते हैं। जैसे चित्र में अङ्कित तुरग (अश्व) की प्रतीति इन चार प्रतीतियों से भिन्न पञ्चम प्रकार की प्रतीति है।

'यह राम ही हैं' अथवा 'यही राम हैं' इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति, 'यह राम नहीं हैं' इस प्रकार उत्तरकाल में बाधित होने वाली 'यह राम हैं' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति, 'यह राम हैं या नहीं' इस प्रकार की संशयरूप प्रतीति और 'यह राम के समान हैं' इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति, इन सम्यक्-प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, संशयप्रतीति तथा सादृश्यप्रतीति से भिन्न प्रकार की चित्र में अङ्कित अश्व की प्रतीति होती है। उसी प्रकार रसप्रतीति में चित्रतुरगन्याय से उपस्थित सीता-राम रूप नट में यथार्थ स्मित, कटाक्षादि नहीं है। नट अपने शिक्षा और अभ्यास से कृत्रिम स्मित, कटाक्षादि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम आलम्बनरूप सीता-राम आदि में नटों द्वारा कृत्रिम रूप से प्रकाशित स्मित, कटाक्षादि में 'इयं सीता रामविषयकरतिमती' या 'अयं रामः

सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणकटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार आनुमानिक रस की प्रतीति होती है ।

दध्यादिन्याय—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ रस की प्रतीति की अभिव्यक्ति का प्रकार बतलाते हुए कहते हैं—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ।।

प्रकृत कारिका में 'व्यक्तः' पद का अर्थ दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना है । रति आदि स्थायिभाव ज्ञान के विषय होने पर ही रस कहलाते हैं, अन्य समय में नहीं । तात्पर्य यह है कि 'व्यक्त' पद का अर्थ है 'प्रकाशित' । प्रकाशित वही वस्तु होती है, जो वहाँ पहले से विद्यमान हो, जैसे किसी स्थान पर रखा हुआ घड़ा दीपक के आने पर प्रकाशित हो जाता है; परन्तु रस के विषय में यह बात ठीक नहीं बैठती; क्योंकि विभावादि की भावना से पहले रस होता ही नहीं, फिर असत् वस्तु का प्रकाश कैसे होगा । यदि घड़ा पहले से न रखा हो, तो दीपक लाने पर भी कैसे व्यक्त होगा ? साहित्यदर्पणकार इस आक्षेप का दूसरे न्याय को उपस्थापित कर परिहार करते हैं—जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है, उसी प्रकार विभावादिकों से रस व्यक्त होता हो, यह बात नहीं है; किन्तु जैसे मट्ठा डालने से दूध दूसरे रूप में परिणत होकर दही के रूप में व्यक्त होता है । दूध में डालने से पहले मट्ठे का स्वाद पृथक् प्रतीत होता है और दूध का पृथक् । साथ ही दोनों के स्वरूप में भी भेद होता है और इन दोनों के मेल होने पर भी कुछ देर तक यह बात रहती है; परन्तु कुछ देर के बाद न मट्ठा ही दिखता है और न दूध ही; परन्तु उन सबका मिल-मिलाकर एक पदार्थ दही ही दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार दुष्यन्त, शकुन्तला आदि आलम्बन-विभाव और चन्द्र, चन्द्रिका आदि उद्दीपन-विभाव तथा भ्रूविक्षेपादि अनुभाव एवं निर्वेदादि सञ्चारी, जिनको मट्ठे की तरह रस का साधन कहा जा सकता है, वे सब तथा दूध के सदृश रति आदि स्थायिभाव तभी तक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं और इनका आस्वाद भी तभी तक पृथक् प्रतीत होता है, जब तक भावना की प्रबल धारा से ये सब रसरूप नहीं हो जाते । पीछे तो न विभाव पृथक् रहते हैं, न अनुभाव और न अन्य कुछ । ये सब के सब अखण्ड, अद्वितीय, आनन्दघन, ब्रह्मास्वादसहोदर चिन्मय रस के रूप में पूर्वोक्त दही की तरह परिणत हो जाते हैं । विभावादिकों की साधनता

और रस की व्यक्तता का यही प्रकार है। व्यक्त पद का यहाँ यही अर्थ है। दीप-घट की भाँति व्यक्त होना नहीं है।

तिलतण्डुलन्याय—तिल और तण्डुल (चावल) दोनों को मिलाकर देने पर भी दोनों की सत्ता पृथक् प्रतीत होती है, वही बात संसृष्टि अलङ्कार में होती है। अनेक अलङ्कारों की एक वाक्य में स्थिति होने पर संसृष्टि और सङ्कर दो अलङ्कार माने जाते हैं। जहाँ अनेक अलङ्कार तिल-तण्डुल की तरह परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित होते हैं, वहाँ 'संसृष्टि' अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ उन अनेक अलङ्कारों की सापेक्ष स्थिति होती है, वहाँ सङ्करालङ्कार माना जाता है।

नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते—मीमांसक मुख्यरूप से व्यञ्जना वृत्ति मानने के विरोधी हैं। आचार्य मम्मट ने उनके सिद्धान्तों में भी व्यञ्जना वृत्ति की परिहार्यता का प्रतिपादन किया है। इस प्रसङ्ग में वे किसी मीमांसैक-देशी के मत की चर्चा करते हुए कहते हैं—

'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस मत का अभिप्राय यह है कि व्यञ्जनावादी जिस अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं, वह भी शब्द से प्रतीत होता है। शब्द के अतिरिक्त उसका और कोई निमित्त तो उपलब्ध होता ही नहीं है। इसलिए शब्द को ही उसका निमित्त मानना होगा। निमित्त कारक और ज्ञापक रूप दो प्रकार का होता है। शब्द कारकरूप निमित्त नहीं हो सकता है। इसलिए व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व भी कारकरूप नहीं, अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। शब्द तथा व्यङ्ग्यार्थ का यह बोध्यबोधक-भावरूप निमित्तनैमित्तिकभाव बिना शक्ति से नहीं हो सकता है। शब्द में अर्थ का बोधन कराने वाली अभिधाशक्ति ही है। इसलिए शब्द से व्यङ्ग्यार्थ की जो प्रतीति होती है, वह भी शब्द के अभिधाव्यापार द्वारा ही होती है; क्योंकि नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है। इसलिए व्यञ्जना आदि की कल्पना का प्रयास बिल्कुल व्यर्थ है। यह 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस पंक्ति का अभिप्राय है।

इसका उत्तर व्यञ्जनावादी यह देते हैं कि शब्द जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है, उससे शब्द में उसका केवल ज्ञापकरूप निमित्त ही बनता है। वह ज्ञापकत्वरूप निमित्त भी तब बन सकता है, जब शब्द का उस अर्थ के साथ सङ्केतग्रह हो। आपके मतानुसार सङ्केत केवल सामान्यरूप से अन्वितमात्र में गृहीत होता है, विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होता है। इसलिए निमित्तरूप शब्द का

जब तक प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चय रूप से सम्बन्ध या सङ्केत का ग्रहण न हो, तब तक उससे अभिधा द्वारा नैमित्तिक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हां कैसे हो सकती है ? विशेषरूप से व्यक्ति के साथ अन्वितरूप में जब शक्तिग्रह ही नहीं बनता है, तब व्यङ्ग्यार्थ के साथ सङ्केतग्रह मानने का अवसर ही कहाँ ? इसलिए शब्द के अभिधाव्यापार द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति असम्भव है । इसलिए नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है, यह कहना अविवेकपूर्ण है । इस मत का प्रतिपादन आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया है ।

सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः—आचार्य भरत के नाट्यसूत्रों के व्याख्याकार भट्टलोल्लट भी कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक थे, इसलिए वे भी व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे । उनका कहना यह है कि जैसे एक ही बार छोड़ा हुआ बाण पहले शत्रु के कवच का भेदन करता है, फिर उसके वक्षःस्थल का विदारण करता है और फिर उसके प्राणों का विमोचन करता है, उसी प्रकार एक ही बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही व्यापार से पहले वाच्य, फिर लक्ष्य और व्यङ्ग्य कहे जाने वाले तीनों अर्थों का बोधक हो सकता है । इसके लिए शब्द में अलग-अलग अनेक शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है ।

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा हो सकती है । इसी मत के समर्थन में भट्टलोल्लट ने दूसरी युक्ति यह दी है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः', अर्थात् जिस अर्थ के बोधन कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है । इसलिए जहाँ केवल वाच्यार्थ के बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ उतना ही उसका अर्थ होगा और जहाँ उसके अतिरिक्त लक्ष्य या व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अन्य अर्थ के बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ वह अन्यार्थ ही उस शब्द का वाच्यार्थ होगा । इस प्रकार सभी अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित हो सकते हैं । इसलिए किसी भी अर्थ के बोधन के लिए व्यञ्जना आदि के मानने की आवश्यकता नहीं है । भट्टलोल्लट के इसी मत को काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

'ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति विधिरेवात्र वाच्य इति'[1] ।

---

१. का० प्र० ५, पृ० २३० ।

अतात्पर्यज्ञाः—जानाति इति ज्ञः, तात्पर्यस्य ज्ञः तात्पर्यज्ञः, न तात्पर्यज्ञाः, अतात्पर्यज्ञाः–अभिप्राय को नहीं जानने वाले । आचार्य मम्मट ने भट्टलोल्लट के 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इन मतों का खण्डन करते हुए केवल इतना ही लिख दिया है कि 'तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः'–वे भट्टलोल्लट आदि 'तात्पर्य-वाचोयुक्ति' के तात्पर्य को नहीं जानने वाले हैं । व्यञ्जनाविरोधी भट्टलोल्लट आदि ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का यह अभिप्राय निकाला है कि लक्ष्य, व्यङ्ग्य सब अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जैसे वैदिक वाक्यों में कहीं केवल होमक्रिया का विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्यों में होम के पूर्व वाक्य से प्राप्त होने के कारण केवल दधिरूप साधन द्रव्य का विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'सोमेन यजेत' जैसे वाक्यों में सोम और याग दोनों के अप्राप्त होने से दोनों का विधान अभिप्रेत होता है, कहीं 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' जैसे वाक्यों में केवल लोहितत्व का विधान अभिप्रेत होता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अंश प्रमाणान्तर से अप्राप्त होता है, उतने ही अंश का विधान अभिप्रेत होता है । जैसे अग्नि जले हुए को नहीं जलाता है । अजले को ही जलाता है, उसी प्रकार वैदिक विधिवाक्य प्राप्त का प्रापण, ज्ञात का ज्ञापन नहीं करते हैं, अप्राप्त का ही विधान करते हैं । इस स्थिति में जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधिवाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या प्रतिपाद्य अर्थ होता है, यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का अर्थ है । लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्द का वाच्यार्थ ही होता है, यह इस वाक्य का तात्पर्य नहीं है । यदि यही तात्पर्य होता तो कुमारिलभट्ट लक्षणावृत्ति क्यों मानते ? इसलिए भट्टलोल्लट आदि जो लोग 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्ति के आधार पर व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, वे उसके अभिप्राय को नहीं समझते हैं । स्वयं अपने शास्त्र के ही वचनों का ठीक भाव न समझने के कारण उनको मूर्ख ही कहना चाहिए, इस अभिप्राय से 'देवानां प्रियाः' अर्थात् मूर्ख कहा गया है ।

भूतं भव्याय—भट्टलोल्लट आदि के लिए जो यह कहा गया है कि वे लोग 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' के अतात्पर्यज्ञ हैं, तात्पर्य को नहीं समझते हैं ।

तब उसका क्या ठीक अर्थ है, इसको बतलाने का भार खण्डनकर्ता के ऊपर आ जाता है। इसी दृष्टि से काव्यप्रकाशकार उसका ठीक अभिप्राय प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकरण में ही 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' तथा 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इत्यादि विशेष वाक्य काव्यप्रकाशकार ने उद्धृत किये हैं। 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इस प्रकार यह वाक्य है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-मतदर्थानाम्'[1] तथा 'दृष्टो हि तस्यार्थ: कर्मावबोधनम्'[2] आदि मीमांसासूत्रों के अनुसार सम्पूर्ण वेदभाग क्रियार्थक ही है। जो क्रियार्थक नहीं है, वह अनर्थक हो जाता है। इसलिए वेद में वर्णित 'यूप', 'आहवनीय' आदि अक्रियारूप सिद्ध पदार्थों की आनर्थक्य से रक्षा के लिए किसी विधिवाक्य या निषेधवाक्य के साथ एकवाक्यता द्वारा उनको क्रिया का अङ्ग बनाया जाता है। इसी बात को व्यक्त करने वाला 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' यह मीमांसा का प्रसिद्ध वाक्य है, जिसे साहित्यशास्त्र में मम्मट ने उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'भूत' अर्थात् सिद्धरूप या अक्रियारूप तथा 'भव्य' अर्थात् साध्य या क्रियारूप दोनों प्रकार के अर्थों के 'समुच्चारणे' अर्थात् वाक्य में एक साथ बोले जाने पर या साथ-साथ प्रतिपादन किये जाने पर उन दोनों में से 'भूत' अर्थात् सिद्ध पदार्थ 'भव्याय' अर्थात् साध्य क्रिया के लिए अर्थात् क्रिया के अङ्गरूप में उपदिष्ट होता है। इसलिए क्रियमाण या विधिनिषेध के प्रधान होने से विधिवाक्य में सिद्ध पदार्थ का कथन होने पर भी क्रियारूप विधि अंश की ही प्रधानता होती है। यह 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' आदि मीमांसा-वाक्यों का अर्थ है।

इसको और अधिक स्पष्टरूप से समझने के लिए वाक्यरचना के नियम पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। लौकिक वाक्यों की रचना 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो भागों को मिलाकर होती है। प्रत्येक वाक्य में एक कर्ता और एक क्रिया अवश्य होती है। राम, श्याम आदि कोई सुबन्त पद वाक्य में कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त होता है और 'गच्छति', 'पठति' आदि कोई तिङन्त पदक्रिया रूप में प्रयुक्त होता है। वाक्य में आये हुए कर्तृपद को 'उद्देश्य' और क्रियापद को विधेय कहा जाता है और वाक्य में विधेयांश का ही सदा प्राधान्य रहता है। यह लौकिक वाक्यों की स्थिति है।

वैदिक वाक्यों में भी सदा क्रियाभाग का ही प्राधान्य रहता है। यह बात 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' आदि मीमांसासूत्र में कही गयी है। इसी का प्रति-

---

१. मी० सू० १.१.२१ ; २. वहीं, १.१.२२।

पादन यहाँ 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इत्यादि वाक्यों में किया गया है। निरुक्त-कार यास्क ने भी 'भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि, तद्यत्र उभे भाव-प्रधाने भवतः' लिखकर इस नियम की पुष्टि की है। 'आख्यात' अर्थात् तिङन्त पद में 'भाव' अर्थात् क्रिया का प्राधान्य होता है। उसी धातु से बने 'नाम' पद में द्रव्य का प्राधान्य होता है और वाक्य में जहाँ नाम और आख्यात दोनों रहते हैं, वहाँ 'भाव' अर्थात् क्रिया का प्राधान्य होता है। यह निरुक्त के इस उद्धरण का अभिप्राय है। यही मीमांसा के 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' आदि वाक्य का अभिप्राय है।

लोहितोष्णीषाः—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह विधिवाक्य कर्म-काण्ड के ग्रन्थों में 'श्येनयाग' प्रकरण में आया है। 'श्येनयाग' एक **'विकृति-याग'** है। 'ज्योतिष्टोमयाग' उसका **'प्रकृतियाग'** है। 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः', जिस याग में समस्त अङ्गों का वर्णन किया गया हो, वह 'प्रकृतियाग' है। उसे 'प्रधानयाग' भी कह सकते हैं। प्रकृतियाग के साथ अनेक 'विकृतियाग' भी वर्णित होते हैं। उनमें सारे विधि-विधानों का वर्णन नहीं किया जाता, केवल विशेष-विशेष नवीन अङ्गों का वर्णन किया जाता है। शेष सारी प्रक्रिया 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस नियम के अनुसार 'प्रकृतियाग' के समान ही की जाती है।

'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य ज्योतिष्टोम याग के 'विकृतिभूत' में आया है। उसमें साधारणतः ऋत्विक्-प्रचरण का विधान होता है; परन्तु 'ज्योतिष्टोमरूप' प्रकृतियाग में भी इसी आशय का 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्य के द्वारा ऋत्विक्-प्रचरण का विधान किया हुआ है। श्येनयाग में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस नियम के अनु-सार ऋत्विक्-प्रचरण स्वयं प्राप्त हो जाता है। वहाँ उसका दुबारा विधान करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार 'उष्णीष' अर्थात् 'पगड़ी' का विधान भी ज्योतिष्टोमयाग वाले वाक्य में आये हुए 'सोष्णीषाः' पद से किया जा चुका है। विकृतियाग में उसके भी विधान की आवश्यकता नहीं है। अतः विकृत-भूत श्येनयाग में जो यह 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य आया है, उसमें न तो ऋत्विक्-प्रचरण का विधान अभिप्रेत है और न उष्णीष का। केवल उष्णीष के 'लौहित्य' (लाल रङ्ग) का विधान अभिप्रेत है। अर्थात् श्येनयाग में ऋत्विजों के उष्णीष लाल रङ्ग के होने चाहिए। उतना ही उस वाक्य का

अभिप्राय है । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है । इसीलिए आचार्य मम्मट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस वाक्य को काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है—'यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम्'[१] ।

अखण्डार्थतावाद—न खण्डः अखण्डः, अखण्डश्चासौ अर्थः अखण्डार्थः, तस्य भावः तत्ता अखण्डार्थता, अखण्डार्थतायाः वादः अखण्डतार्थतावादः–यह अखण्डार्थता का सिद्धान्त वेदान्ती, वैयाकरण दोनों का है । आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में 'अखण्डार्थतावाद' की चर्चा उठाकर उसमें भी व्यञ्जना वृत्ति की मान्यता का प्रतिपादन किया है । इस अखण्डार्थतावाद की आलोचना द्वारा आचार्य मम्मट ने वेदान्तियों और वैयाकरणों दोनों के मतों की आलोचना कर दी है । उनकी यह क्रिया 'द्व्यर्थकरी' हो गयी है ।

शाब्दबोध की प्रक्रिया में साधारणतः पदार्थसंसर्गबोध को वाक्यार्थ कहा जाता है । वाक्य में प्रयुक्त हुए पदों से पहले पदार्थों की उपस्थिति होती है । उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है । इसी पदार्थसंसर्ग को वाक्यार्थ कहा जाता है । इसलिए सभी वाक्य साधारणतः पदार्थसंसर्गगोचर प्रतीति को उत्पन्न करते हैं ।

परन्तु वेदान्तियों ने एक प्रकार से ऐसे वाक्यों की भी कल्पना की है, जो संसर्गविषयक प्रतीति को नहीं कराते हैं । ऐसे वाक्यों को वे 'अखण्डार्थवाक्य' कहते हैं । वेदान्त-ग्रन्थों में संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वम् अखण्डार्थत्वम्' यह अखण्डार्थक लक्षण किया गया है । इसी श्रेणी में मुख्यरूप से लक्षणवाक्य आते हैं । लक्षणवाक्यों को अखण्डार्थ वाक्य मानने का मुख्य आधार प्रश्न और प्रतिवचन के सारूप्य का सिद्धान्त है । जिस विषय में प्रश्न किया जाय, उसी विषय में उत्तर दिया जाय, यह एक सामान्य सिद्धान्त है । प्रश्न कुछ किया जाय, उत्तर कुछ और दिया जाय, तो यह उचित नहीं है ।

किसी पदार्थ के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर लक्षणवाक्य द्वारा उत्तर दिया जाता है । जैसे कोई पूछे कि आकाश में 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौन-सा है ? तो उत्तर देने वाला कहता है कि 'प्रकृष्टः प्रकाशश्चन्द्रः' जो सबसे अधिक प्रकाशमान है, वह चन्द्रमा है । यहाँ चन्द्रमा के स्वरूप के विषय में प्रश्न है,

---

१. का० प्र० ५, पृ० २३३ ।

तो उत्तर भी स्वरूपमात्रविषयक ही होना चाहिए । इसलिए 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस उत्तर-वाक्य को केवल स्वरूपपरक मानना चाहिए, संसर्गपरक नहीं । अर्थात् इससे पदार्थसंसर्ग का बोध नहीं होता है । सामान्य वाक्यों के समान इसको भी यदि 'संसर्गगोचरप्रमिति' का जनक मान लिया जाय, तब तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' वाली बात हो जायेगी । प्रश्न स्वरूपविषयक है, उत्तर संसर्गविषयक हो, यह उचित नहीं है । अतः यह वाक्य संसर्ग का नहीं स्वरूपमात्र का बोधक होने से अखण्डार्थ-वाक्य कहलाता है । इसी प्रकार सारे लक्षणपरक वाक्य 'संसर्गगोचरप्रमिति' के जनक होने से 'अखण्डार्थ' वाक्य कहलाते हैं । 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्तः' आदि वाक्यों को भी वेदान्ती अखण्डार्थ-वाक्य ही मानते हैं । यह अखण्डवाक्य की एक व्याख्या है ।

परन्तु दूसरे व्याख्याकारों ने 'अखण्डार्थ-वाक्य' की व्याख्या प्रकारान्तर से की है । साधारणतः क्रियाकारकभाव को स्वीकार कर उत्पन्न होने वाले शाब्द-बोध को **'सखण्डबोध'** कहा जाता है; क्योंकि उसमें वाक्य का क्रिया, कारक आदि रूप में अनेक खण्डों में विश्लेषण किया जाता है । उससे भिन्न अर्थात् जिसमें क्रियाकारकभाव आदि रूप खण्डों में वाक्य या वाक्यार्थ का विभाग न किया जा सके, उसको 'अखण्डवाक्य' या 'अखण्डवाक्यार्थ' कहा जाता है । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस वेदान्त-सिद्धान्त में यह सारा जगत् और उसमें दिखलायी देने वाला नानात्व ही मिथ्या है । इसलिए उनके सिद्धान्त में धर्मधर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव आदि भी मिथ्या हैं । अत एव उनके यहाँ पारमार्थिक रूप में अभिधा और लक्षणा, व्यञ्जना आदि की सत्ता नहीं मानी जाती है; पर व्यावहारिक रूप में अभिधा और लक्षणा की सत्ता मानते हैं । लक्षणा के साहित्य आदि अन्य शास्त्रों में केवल 'उपादानलक्षणा' तथा 'लक्षणलक्षणा' ये दो ही भेद माने गये हैं । इनके ही दूसरे नाम क्रमशः **'अजहल्लक्षणा'** तथा **'जहल्लक्षणा'** रखे गये हैं । पर वेदान्तियों ने 'तत् त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के अर्थ के लिए अभिधा और अजहल्लक्षणा तथा जहल्लक्षणा इन तीनों से अतिरिक्त जहदजहल्लक्षणा नामक एक चौथा व्यापार भी माना है । उसको वे 'भागत्याग-लक्षणा' भी कहते हैं । इस प्रकार वेदान्तियों के मत में परमार्थ में तो ब्रह्म को छोड़कर और सब कुछ मिथ्या है । न अभिधा है, न लक्षणा और न व्यञ्जना । न अखण्डवाक्य है, न सखण्डवाक्य; पर व्यवहारकाल में 'व्यवहारे भट्टनयः' के अनुसार यहाँ उनको अखण्डवाक्य तथा अखण्डवाक्यार्थतावादी कहा गया है ।

वेदान्तानुसारी अखण्डवाक्य की इन दोनों व्याख्याओं में 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों से अखण्डबुद्धि ही उत्पन्न होती है। उस अखण्डबुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही वाक्यों का अर्थ होता है। अत एव वही उन वाक्यों का वाच्यार्थ कहलाता है और वे वाक्य ही अखण्डब्रह्म के वाचक होते हैं। यह काव्यप्रकाश के 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाच-कम् इत्याहुः'[१] इस पंक्ति का अर्थ है।

इसके खण्डन में आचार्य मम्मट ने 'तैरप्यविद्यापदपतितैः पदवाक्यार्थ-कल्पना कर्तव्यैव'[२] यह जो पंक्ति लिखी है, उसका आशय यह है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' इस सिद्धान्त के अनुसार वेदान्ती भी व्यवहारदशा में जगत् की दृश्य-मान स्थिति को स्वीकार करते ही हैं। इसलिए उनको भी पद-पदार्थ आदि की कल्पना करनी होगी और उस दशा में 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरणों में निषेधवाक्य से जो विधिरूप अर्थ प्रतीत होता है, उसको व्यञ्जना का विषय मानना ही होगा।

इस प्रकार इस पंक्ति द्वारा काव्यप्रकाशकार ने वेदान्त-सिद्धान्त में भी व्यञ्जना की अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार इस पंक्ति में केवल वैयाकरणों के अखण्डवाक्यार्थता-सिद्धान्त की आलोचना की गयी है; परन्तु यह ठीक नहीं है। पंक्ति में आया हुआ 'अविद्यापदपतितैः' शब्द विशेष रूप से वेदान्त-मत की ओर सङ्केत कर रहा है।

वैयाकरणों का अखण्डार्थवाद

वेदान्तियों के समान वैयाकरण भी अखण्डार्थतावादी हैं। अन्तर इतना है कि वेदान्तियों के अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के स्थान पर वैयाकरण एकमात्र 'स्फोट'-रूप 'शब्दब्रह्म' को मानते हैं। इन अखण्डार्थवादी वैयाकरणों के सिद्धान्त की आलोचना आगे दी जा रही है।

पद में वर्ण और वाक्य में पदों को अलग-अलग नहीं माना जा सकता है। वैयाकरणभूषण में लिखा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।।३८८।।

---

१. का० प्र० ५, पृ० २५७; २. वहीं, ५ पृ० २५७।

भर्तृहरि ने भी अपने 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ में इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ।।
उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।।

अर्थात् जैसे ब्राह्मण का कम्बल ब्राह्मणकम्बल इस पद में समस्त पद का तो अर्थ है; परन्तु ब्राह्मण शब्द का कोई अलग अर्थ नहीं है, उसी प्रकार किसी भी वाक्य में उसके अलग-अलग पदों का कोई अर्थ नहीं होता है । समष्टिरूप से ही वाक्य का अर्थ होता है । इसी को 'अखण्डवाक्यार्थता का सिद्धान्त' कहते हैं । वैयाकरण लोग इधर तो इस अखण्डवाक्यार्थता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और उधर प्रत्येक पद के प्रकृति-प्रत्यय आदि का भी विभाग करते हैं । इस विरोधाभास का उपपादन करने के लिए ही भर्तृहरि ने दूसरा श्लोक लिखा है । उसका अभिप्राय यह है कि यह प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग तो केवल बालकों की शिक्षा के लिए किया जाता है । 'शाखा-अरुन्धती-न्याय' से बालकों को समझाने के लिए पहले असत्य मार्ग का अवलम्बन कर बाद में सत्य तक पहुँचाया जाता है । वैयाकरण-सिद्धान्त के पक्ष में मूल ग्रन्थ (काव्यप्रकाश) का 'अविद्यापदपतितैः' शब्द इसी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा' की ओर सङ्केत कर रहा है । इस प्रकार अखण्डवाक्यार्थ का सिद्धान्त वेदान्त और व्याकरण दोनों मतों में समान रूप से माना गया है । इसलिए आचार्य मम्मट ने दोनों मतों की आलोचना एक साथ ही कर दी है ।

च्युतसंस्कृति—च्युता स्खलिता संस्कृतिः संस्करणं व्याकरणलक्षणानुगमो यत्र तत् च्युतसंस्कृतिः । यह एक काव्यगत पददोष है, जिसका लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है–व्याकरण के संस्कार से हीन, अर्थात् जो पद व्याकरण के नियम के अनुकूल न हो, वह च्युतसंस्कृति-दोष कहलाता है । जैसे—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः[१] ।।

---

१. का० प्र० ७.१४२ ।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि शबरयुवक तुम्हारे इस खुले हुए स्तन-युगल की ओर देखेंगे, तो वे हमारे गण्डस्थल के भेदन को भूलकर उसी के स्पर्श में तत्पर हो जायेंगे और कुछ समय के लिए हमारे गण्डस्थलों को अभय-प्रदान मिल जायेगा । इसलिए हाथियों का समूह यह प्रार्थना कर रहा है कि अपने स्तनों को पत्तों से न ढँको । इसमें याचना के अर्थ में 'अनुनाथते' पद का प्रयोग किया गया है; परन्तु नाथ धातु परस्मैपद धातु है, उसका 'अनुनाथति' प्रयोग होना चाहिए था । 'आशिषि नाथ:'[१] सूत्र से आशी: अर्थ में नाथ धातु से आत्मनेपद का विधान है, याचना अर्थ में नहीं ।

शास्त्र का विस्तार

आचार्य राजशेखर ने बताया है कि शास्त्रों का प्रारम्भ तो सूत्र शैली में होता है, पर बाद में वे व्याख्याओं, भाष्यों और निबन्धादि के द्वारा विपुल विस्तार को प्राप्त करते हैं । इस विषय में उन्होंने नदी का दृष्टान्त उपस्थित किया है—

सरितामिव प्रवाहास्तुच्छा: प्रथमं यथोत्तरं विपुला: ।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्या:[२] ।।

अर्थात् जैसे नदियों का प्रवाह आरम्भ में छोटा होता है तथा बाद में विस्तृत होता है, उसी भाँति शास्त्रों का आरम्भ भी लघु होता है, पर बाद में वे विस्तृत हो जाते हैं । ऐसे शास्त्र लोकवन्द्य होते हैं । इन शास्त्रों की व्याख्या तथा विस्तार सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका आदि के द्वारा होता है । इसलिए इनका लक्षण जान लेना आवश्यक है । अत: उनको परिभाषित किया गया है ।

सूत्र—सूत्र से अच् प्रत्यय करने पर सूत्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ धागा, डोरी, रेखा, रस्सी होता है—'पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते' (सुभा०), 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति' (रघु० १.४) । रेशा, तन्तु को भी सूत्र कहा गया है—'सुराङ्गनां कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी' (विक्रम० १.१९) । यज्ञोपवीत या जनेऊ को भी सूत्र कहते हैं, जो तीन वर्ण के धारण योग्य होता है । जैसा कि कहा है—'शिखासूत्रवान् ब्राह्मण:' । संक्षिप्त विधि, परिभाषापरक संक्षिप्त वाक्य को सूत्र कहा जाता है । राजशेखर ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'सूत्रणात् सूत्रम्'–विस्तृत अर्थ को छोटे वाक्य में पिरोना सूत्र है । इस विषय में कहा गया है—

---

१. पा० सू० २.३.५५; २. का० मी० २, पृ० ११ ।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ।।

सूत्र का लक्षण वायुपुराण में भी उल्लिखित है, यथा—

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ।।

अर्थात् सूत्रकार लोग सूत्र उसे मानते हैं, जो अल्प अक्षर युक्त हो, असन्दिग्ध, चारों ओर से सारवान्, व्यर्थ शब्द से हीन तथा अनिन्द्य अर्थ को बताये ।

वृत्ति—वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर वृत्ति शब्द बनता है, जिसका अर्थ अस्तित्व, सत्ता, टिकना, रहना, किसी विशेष स्थिति में होना, जैसा कि विरुद्धवृत्ति या विपक्षवृत्ति में होता है । आचरण, व्यवहार, चाल-चलन, कार्य-पद्धति को भी वृत्ति शब्द से जाना जाता है—'कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने' (अभि० ४.१८) । शब्द की वह शक्ति, जिसके द्वारा किसी अर्थ का अभिधान, सङ्केत अथवा व्यञ्जना की जाय, उसे वृत्ति कहा जाता है । वह अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के नाम से विख्यात है । रचना की शैली को भी वृत्ति कहते हैं, वह चार हैं—कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी ।

जटिल रचना, जिसकी व्याख्या करने की आवश्यकता पड़े, उसे वृत्ति कहते हैं । जैसा कि आचार्य राजशेखर ने कहा है—'**सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः**'—सूत्रों के समस्त सारभाग का विवरण देने वाली व्याख्या वृत्ति है ।

पद्धति—यह पद् और हतिः के समास करने से बना है । पद् धातु से क्विप् करने पर पद् बनता है तथा हन् धातु से क्तिन् करने पर हति बनता है । इस प्रकार पद्धति रास्ता, पथ, मार्ग आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । 'इयं हि रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः' (उत्तर० ५.२२) । उपनाम, वंशनाम, उपाधि या विशेषण, व्यक्तिवाचक संज्ञा, शब्दों के समास में प्रयुक्त होने वाला शब्द, जो जाति या व्यवसाय का बोधक हो, उसे भी पद्धति कहा गया है । विवाहादि विधि को सूचित करने वाली पुस्तक को भी पद्धति कहते हैं । आचार्य राजशेखर ने पद्धति का लक्षण इस प्रकार किया है—'सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः'—सूत्र पर की गयी वृत्ति पर किये गये विवेचन को 'पद्धति' कहते हैं ।

भाष्य—भाष् धातु से ण्यत् प्रत्यय करने पर 'भाष्य' शब्द निष्पन्न होता है। भाष्य का अर्थ बोलना, बातें करना, सामान्य या देहाती भाषा की कोई रचना है। व्याख्या, वृत्ति, टीका अर्थ में भी भाष्य शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे वेदभाष्य आदि। विशेषकर सूत्रों की वृत्ति, जिसमें शब्दश: व्याख्या और टिप्पण होते हैं, भाष्य कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

जैसा कि शिशुपालवध में कहा है—

सङ्क्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे[१]।।

आचार्य राजशेखर ने कहा है—'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्'—स्वयं शङ्काओं की उद्भावना कर उनका खण्डन करते हुए विस्तृत व्याख्या करना भाष्य कहा जाता है। जैसा कि महामुनि पाणिनि के सूत्रों पर मुनि पतञ्जलि का महाभाष्य।

समीक्षा—सम् उपसर्गपूर्वक ईक्ष् धातु से अङ् और टाप् कर समीक्षा शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ अनुसन्धान, खोज, विचार, भलीभाँति निरीक्षण, समालोचना, समक्ष, बुद्धि आदि अर्थ होता है। दर्शनशास्त्र की मीमांसा-पद्धति को भी समीक्षा कहते हैं। समीक्षा का लक्षण करते हुए आचार्य राजशेखर ने कहा है—'अन्तर्भाष्यं समीक्षा, अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा'। अर्थात् भाष्य में निहित गम्भीर अर्थों की व्याख्या समीक्षा है। भाष्य के अन्तर्गत वर्तमान अवान्तर अर्थों के अलावा अलग विभाग भी समीक्षा है।

टीका—टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया इति। टीका शब्द टीक से क और टाप् प्रत्यय करके बनता है, जिसे व्याख्या और भाष्य भी कहा जाता है। 'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः'। राजशेखर के अनुसार टीका का लक्षण इस प्रकार है—'यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका'। यथासम्भव सरल अर्थों को द्योतित करना टीका है।

पञ्जिका—पंज् धातु से इन्, कन् और टाप् करके पञ्जिका शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ अभिलेख, पत्रिका, बही, तिथि-पत्र, जन्त्री आदि होता है। आचार्य राजशेखर ने कहा है—

---

१. शिशु०, २.१४।

विषमपदभञ्जिका पञ्जिका ।

अर्थात् पञ्जिका वह है, जो विषम पदों को तोड़कर अलग-अलग कर दे ।

कारिका—कृ धातु से ण्वुल् और टाप् करके कारिका शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ नर्तकी, व्यवसाय, धन्धा होता है । व्याकरण-दर्शन तथा विज्ञान से सम्बद्ध काव्य या पद्य-संग्रह भी कारिका कहा जाता है । राजशेखर ने कहा है—

अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका ।

सूत्र के अर्थ का सरल अर्थों में प्रदर्शन कारिका कहा जाता है ।

वार्त्तिक—वृत्ति से ठक् प्रत्यय करने पर वार्तिक शब्द बनता है, जिसका अर्थ समाचार सम्बन्धी, समाचार लाने वाला, व्याख्यात्मक कोष सम्बन्धी होता है । पुल्लिङ्ग में यह दूत, भेदिया और किसान के अर्थ में प्रयुक्त होता है । नपुंसकलिङ्ग में इसका प्रयोग होता है—एक व्याख्यापरक अतिरिक्त नियम जो उक्त, अनुक्त या किसी अधूरी बात की व्याख्या करता है अथवा किसी छूटी हुई बात को जोड़ देता है । जैसा कि कहा है—

उक्तानुक्तार्थव्यक्ति(चिन्ता)कारि तु वार्त्तिकम् ।

यह शब्द पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन द्वारा निर्मित व्याख्यापरक नियमों के लिए विशेषरूप से प्रयुक्त होता है । आचार्य राजशेखर ने कहा है- 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकम्'-उक्त, अनुक्त अथवा दुरुक्त शब्दों का विवेचन 'वार्त्तिक' कहा जाता है । ये सब शास्त्र के भेद हैं । इनकी जानकारी रहने से कवि गूढ़ अर्थ को प्रकट करता है तथा सन्दिग्ध अर्थ को स्पष्ट करता है । वह अल्प अर्थ को विस्तृत करता है तथा विस्तृत अर्थ को छोटा करता है । जैसा कि आचार्य राजशेखर ने कहा है—

भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन् ।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः ।।

इस प्रकार अन्यान्य शास्त्रों की विषयवस्तु को साहित्यशास्त्र में सङ्गृहीत किया गया है, जो उपयोगी हैं, उन्हें सहर्ष स्वीकार किया गया है; परन्तु जो अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत हुए हैं, उन्हें उन अंशों में समीक्षा का विषय बनाया गया है तथा उनका खण्डन किया गया है ।

उपसंहार

विद्वानों की कृतियों का विस्तार अनन्त है और वह चतुर बुद्धिवालों के लिए ही गम्य है । इसलिए ग्रन्थ-विस्तार से बचने के कारण सम्पूर्ण परिभाषिक शब्दों का विवेचन नहीं हो पाया है । यहाँ मात्र एक परिचयात्मक निबन्धन किया गया है; क्योंकि पहला अध्याय भाषा एवं भाषाविज्ञान के परिचय में ही पूर्ण हुआ है । द्वितीय अध्याय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की संक्षिप्त टिप्पणी पर पूर्ण हो गया है । तृतीय अध्याय में साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त बौद्ध-दार्शनिक शब्दों पर एक दृष्टि डाली गयी है । वस्तुतः बौद्धदर्शन एक उपयोगी व्यावहारिक दर्शन है । उसमें आये हुए सिद्धान्त हमें विचार के लिए बाध्य करते हैं । चतुर्थ अध्याय में काव्यशास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति के क्रम में उन पारिभाषिक शब्दों को लिया गया है, जो साहित्यशास्त्र के अपने विशेष अर्थ देने वाले हैं । इस प्रकार चतुर्थ अध्याय में काव्यशास्त्रीय शब्दों की निरुक्ति की बानगी मात्र प्रस्तुत हो सकी है । पञ्चम अध्याय में काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शास्त्रान्तर के शब्दों को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । इस अध्याय के अध्ययन से यह पता चलता है कि साहित्यशास्त्र सभी शास्त्रों का उपकारक है । इसमें सभी शास्त्रों की अच्छी बातों को संगृहीत किया गया है, वहीं अपने अनुकूल न होने पर उनकी समीक्षा भी की गयी है । इस प्रकार साहित्यशास्त्र अत्यन्त उपयोगी है, उसके अध्ययन से सभी शास्त्रों में विचक्षणता आती है । यह एक शीतशर्करा-सम्मिश्रित औषधि है, जो सुकुमार मति वाले को भी शास्त्र-पारङ्गत बनाने में पूर्ण समर्थ है । यह समुद्र के समान अगाह्य है । सम्पूर्ण शास्त्रों का सहभाव है । इसलिए इसे किसी एक निबन्ध में सूत्रित करना अत्यन्त दुष्कर है । अतः आचार्य राजशेखर की सूक्ति का स्मरण करते हुए अपनी लेखनी को विरमित करता हूँ—

इत्यनन्तोऽभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः ।
त्यक्तो निपुणधीगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात् ।। इति ।

सहायक-ग्रन्थसूची

क्र.सं.	ग्रन्थ	लेखक / सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष
१.	अभिज्ञानशाकुन्तल	किशोरकेलि	चौखम्बा सुरभारती	२००१
२.	अमरकोश	पं. वसुदेवलक्ष्मी शास्त्री पणशीकर	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान	१९८७
३.	अलङ्कारशास्त्रस्येति-हासः	डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन	१९८६
४.	अलङ्कारों का क्रमिक विकास	डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा	मोतीलाल बनारसी-दास	१९६०
५.	ऋग्वेदेऽलङ्काराः	डॉ. प्रह्लाद कुमार	मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, नयी दिल्ली	१९७७
६.	कालिदास-ग्रन्थावली	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	चौखम्बा सुरभारती	१९८०
७.	काव्यप्रकाश	आचार्य वामन	मोतीलाल बनारसीदास	१९६५
८.	काव्यप्रकाश	आचार्य विश्वेश्वर	ज्ञानमण्डल लिमिटेड	वि.२०४२
९.	काव्यमीमांसा	राजशेखर	चौखम्बा सुरभारती	१९७५
१०.	काव्यादर्श	आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र	चौखम्बा विद्याभवन	१९९६
११.	काव्यालङ्कार	देवेन्द्रनाथ शर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना	१९८५
१२.	काव्यालङ्कारसूत्राणि	पं. श्री हरगोविन्द शास्त्री	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन	१९९५
१३.	चन्द्रालोक	सुबोधचन्द्र पन्त	मोतीलाल बनारसीदास	१९६६
१४.	ध्वन्यालोक	श्री बद्रीनाथ शर्मा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज	१९६४
१५.	ध्वन्यालोक	डॉ. रामसागर त्रिपाठी	मोतीलाल बनारसीदास	१९८१
१६.	नैषधमहाकाव्यम्	जीवातु-प्रबोधिनी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज	१९७६
१७.	न्यायबिन्दुप्रकरणम्	स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री	बौद्धभारती, वाराणसी	१९८५
१८.	पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त	अशोक प्रकाशन, दिल्ली	१९८८
१९.	बौद्धदर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन	भरत सिंह उपाध्याय	बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता	वि.२०११
२०.	भक्तिरसविमर्शः	डॉ. कपिलदेव ब्रह्मचारी	आचार्य महन्त श्रीविद्या-नन्ददाससाहब, आचार्य गद्दी, फतुहा, पटना	१९८०
२१.	भाषा-विश्लेषण	डॉ. मोतीलाल गुप्त	चौखम्बा सं० सीरीज	१९७४

क्र.सं.	ग्रन्थ	लेखक / सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष
२२.	भारतीय दर्शन	डॉ. बद्रीनाथ सिंह	स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी	वि.२०२६
२३.	महाभाष्य	युधिष्ठिर मीमांसक	श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास, दिल्ली	१९७९
२४.	माध्यमिककारिका	त्र्यम्बकराम शास्त्री	चौखम्बा सं० संस्थान	वि.२०४६
२५.	रसगङ्गाधर द्वितीय	पं. मदनमोहन झा	चौखम्बा विद्याभवन	१९६९
२६.	रसगङ्गाधर प्रथम	पं. मदनमोहन झा	चौखम्बा विद्याभवन	२००१
२७.	वक्रोक्तिजीवित	श्री राधेश्याम मिश्र	चौखम्बा संस्कृत संस्थान	१९८३
२८.	वाग्विज्ञान	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	१९६९
२९.	शिशुपालवध	श्री रामजी लाल शर्मा	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन	२००१
३०.	शृङ्गारप्रकाश	डॉ. पी. डी. अग्निहोत्री	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी	१९६३
३१.	सरस्वतीकण्ठाभरण	डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र	चौखम्बा ओरियण्टालिया	१९७६
३२.	साहित्यदर्पण	लक्ष्मी टीका	चौखम्बा विद्याभवन	१९७५
३३.	साहित्यदर्पण	पं. शालिग्राम शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास	१९६५
३४.	संस्कृत आलोचना	आचार्य बलदेव उपाध्याय	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान	१९७८
३५.	संस्कृत-भाषा	डॉ. भोलाशंकर व्यास	चौखम्बा विद्याभवन	१९९१
३६.	संस्कृत भाषाविज्ञान	प्रो० शिवबालक द्विवेदी एवं अवधेश कुमार चतुर्वेदी	ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर	१९७९
३७.	संस्कृत-हिन्दी-कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास	१९८९

पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणी


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय